तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय

मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश)

दूरस्थ शिक्षा

एम.ए. (उत्तरार्ध) जैनोलॉजी

(प्रथम पत्र)

-विषय-

तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार

(चार अनुयोगों में निबद्ध जिनागम)

इकाई (संवर्ग)

इकाई – 1	-दिव्यध्वनि के प्रमुख संवाहक गौतम गणधर स्वामी	(कुल पाठ-4)
इकाई – 2	-जिनागम का एक अंश – प्रथमानुयोग	(कुल पाठ-5)
इकाई – 3	-पंचपरिवर्तन का प्रतिपादक – करणानुयोग	(कुल पाठ-4)
इकाई – 4	-चरित्र निर्माण का पथ प्रदर्शक – चरणानुयोग	(कुल पाठ-4)
इकाई – 5	-शुद्धात्म पथ प्रदर्शक – द्रव्यानुयोग	(कुल पाठ-4)

-मंगल प्रेरणा-

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)

-लेखन एवं संकलन-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)

-निर्देशन-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

-संपादक-

प्रो. टीकम चन्द जैन

(अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद)

जीवन प्रकाश जैन (M.Sc. Maths), जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

संस्करण - **प्रथम संस्करण (नवम्बर-2014)**

मूल्य- **300/-रुपये**

ISBN-978-93-84003-41-8

-प्रकाशक-

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

एवं

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

कुलाधिपति की कलम से.....

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. की मान्य डिग्री प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य को निखारने का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में "डी.लिट्." की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012, वैशाख कृ. दूज को माताजी के 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस के शुभ अवसर पर प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में "पीएच.डी." की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. के कोर्स दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किये गये हैं अतः इनका स्टडी मैटेरियल पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने हमारे निवेदन पर अथक परिश्रमपूर्वक तैयार करके दिया है। यह सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में उच्च सफलता हासिल करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

सुरेश जैन
(कुलाधिपति)

जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का

मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने इस विश्वविद्यालय में "जैन दर्शन विभाग" की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि अब तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के सर्टिफिकेट व डिप्लोमा कोर्स का भी शुभारंभ कर दिया गया है।

मेरे सान्निध्य में बी.ए. एवं एम.ए. जैनोलॉजी कोर्स की पुस्तकें मेरी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती एवं प्रो. टीकमचंद जी ने अत्यन्त सूझ-बूझ के साथ तैयार की हैं। जम्बूद्वीप के पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति जी का निर्देशन भी इसमें महत्वपूर्ण रहा है। उनके साथ ही संघस्थ बाल ब्र. जीवन प्रकाश ने भी इस कोर्स को तैयार कराने में अपनी सहभागिता के साथ-साथ सर्टीफिकेट डिप्लोमा एवं डिग्री कोर्स को संचालित करने में परिश्रम किया है। इन सभी के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है।

विश्वविद्यालय एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट व डिप्लोमा प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं हर्ष का परिचायक है।

अतः इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को मेरा कोटिशः आशीर्वाद है कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

(गणिनी ज्ञानमती)

प्रस्तावना

-आर्यिका चन्दनामती

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-"कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः" अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है-तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में "महावीर डेन्टल कॉलेज" से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रहा है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये "प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह" में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके अतः त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स के पश्चात् स्नातकोत्तर अर्थात् एम.ए. में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों के लिए दो वर्ष के दूरस्थ शिक्षा कोर्स में कुल 8 पुस्तकें तैयार की गई हैं। जिनमें प्रथम वर्ष (पूर्वार्ध) में 4 पुस्तकें और

द्वितीय वर्ष (उत्तरार्ध) में 4 पुस्तकें हैं। यहाँ पर द्वितीय वर्ष की इस प्रथम पुस्तक में 5 इकाइयों के अन्तर्गत निम्न विषय प्रस्तुत किये गये हैं–

1. दिव्यध्वनि के प्रमुख संवाहक गौतम गणधर स्वामी
2. जिनागम का एक अंश : प्रथमानुयोग
3. पंचपरिवर्तन का प्रतिपादक–करणानुयोग
4. चरित्र निर्माण का पथ प्रदर्शक-चरणानुयोग
5. शुद्धात्म पथ प्रदर्शक-द्रव्यानुयोग

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

उपर्युक्त पाँचों इकाइयाँ अलग-अलग पाठों में विभक्त हैं जिनके माध्यम से तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार के प्रायः समस्त पक्षों को प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

विश्वविद्यालय के द्वारा संचालित "दूरस्थ शिक्षा" (Distance Education) में एम.ए. के द्वितीय वर्ष की इस प्रथम पुस्तक के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शिता युक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय दूरस्थ शिक्षा की पाठ्यपुस्तक तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम. ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है।

-8 अक्टूबर 2014, शरदपूर्णिमा

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1—दिव्यध्वनि के प्रमुख संवाहक गौतम गणधर स्वामी	**1-30**
पाठ-1 दिव्यध्वनि की दिव्यता	1-5
पाठ-2 तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि के प्रसार में गौतम गणधर स्वामी का योगदान	6-17
पाठ-3 गौतम गणधर वाणी में श्रावक धर्म एवं मुनिधर्म	18-25
पाठ-4 जिनवाणी का उद्गम और विकास	26-30
इकाई 2—जिनागम का एक अंश-प्रथमानुयोग	**31-86**
पाठ-1 प्रथमानुयोग का साहित्य और उसकी उपादेयता	31-38
पाठ-2 सृष्टि का क्रम एवं षट्काल परिवर्तन	39-54
पाठ-3 जैनधर्म की तीर्थंकर परम्परा	55-58
पाठ-4 जीवनदान : एक सत्य कथानक	59-71
पाठ-5 ब्रह्मचर्य की महिमा	72-86
इकाई 3—पंचपरिवर्तन का प्रतिपादक-करणानुयोग	**87-121**
पाठ-1 करणानुयोग की उपयोगिता एवं जीव के पंच परिवर्तन	87-98
पाठ-2 त्रिलोक परिचय एवं कालचक्र	99-107
पाठ-3 कर्म एवं कर्मों की विविध अवस्थाएँ	108-113
पाठ-4 जैनाचार्यों द्वारा कर्म सिद्धान्त के गणित का विकास	114-121
इकाई 4—चरित्र निर्माण का पथ प्रदर्शक-चरणानुयोग	**122-155**
पाठ-1 चरणानुयोग का साहित्य और उसकी उपादेयता	122-132
पाठ-2 संस्कार, सादगी और संयमाचरण	133-141
पाठ-3 आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा वर्णित ग्यारह महत्वपूर्ण स्थान	142-149
पाठ-4 सम्यक्त्वचरण एवं संयमचरण चारित्र	150-155
इकाई 5—शुद्धात्म पथ प्रदर्शक-द्रव्यानुयोग	**156-187**
पाठ-1 पंचास्तिकाय सार	156-166
पाठ-2 शुद्धात्मतत्त्व विवेचन	167-172
पाठ-3 मोक्ष प्राप्ति में व्यवहारनय भी उपादेय है	173-179
पाठ-4 परमात्म प्रकाश-एक अध्ययन	180-187

इकाई–1 दिव्यध्वनि के प्रमुख संवाहक गौतम गणधर स्वामी

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) दिव्यध्वनि की दिव्यता

(2) तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि के प्रसार में गौतमगणधर स्वामी का योगदान

(3) गौतम गणधर वाणी में श्रावक धर्म एवं मुनिधर्म

(4) जिनवाणी का उद्गम और विकास

पाठ-1–दिव्यध्वनि की दिव्यता

1.1 प्राचीन उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि भगवान् महावीर की दिव्यदेशना राजगृह पर्वत के विपुलाचल (पहाड़ी) पर मिति श्रावण वदी एकम के प्रातः प्रारम्भ हुई। यद्यपि भगवान् को वैशाख सुदी 10 को केवलज्ञान प्राप्त हो गया था किन्तु सुयोग्य गणधर के बिना दिव्यध्वनि का प्रारम्भ 66 दिन बाद सौधर्मेन्द्र के प्रयत्न द्वारा हुआ। भगवान समवसरण सभा में विराजमान हुए। सभी देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारी, देवीगण निराबाध अपने–अपने स्थान पर सुस्थित हुए। दिव्यध्वनि त्रिकाल या चतुष्काल लगभग 2–1/2 घंटे एक बार में खिरती रही और भव्यजनों के आत्मकल्याणक का साधन बनी। प्रत्येक संज्ञी प्राणी ने इस वाणी को सुनकर अपने सन्देह का निराकरण किया। इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा धर्मचक्र की प्रवृत्ति हुई। वर्तमान जैनवर्ग इन्हीं भगवान् की छत्रछाया में अपना आत्मविकास करने का उद्यम कर रहे हैं।

दिव्यध्वनि के सम्बन्ध में आगामी आचार्यों ने अनेक प्रकार से विश्लेषण किया है। प्रथम प्रश्न यह है कि भगवान के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व ध्वनि के द्वारा होता है या वाणी के द्वारा। ध्वनि का अभिप्राय है अनक्षर आवाज और वाणी का अर्थ है अकारादि वर्णों की स्पष्टता और तज्जन्य अर्थ का स्पष्टीकरण। दोनों की प्रक्रियाएं एक–दूसरे के विरुद्ध प्रतीत होती हैं। यही कारण हुआ कि तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का भिन्न–भिन्न आचार्यों ने अनेक प्रकार से विश्लेषण कर प्राणिमात्र को आत्म कल्याणकारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

पंचास्तिकाय नामक ग्रंथ की टीका में निम्न संस्कृत छंद आया है जिसमें कई विशेषणों द्वारा दिव्यध्वनि (जिन वचन) का स्वरूप लिखा है—

गंभीर मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं,
कंठौष्ठादि वचो निमित्तरहितं यो वातरोधासमम्।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निश्शेषभाषात्मकं,
दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु वः।।1।।

अर्थात् गंभीर, मधुर, मनोहरतर, दोषरहित, हितकारी, कण्ठ, ओष्ठ आदि वचन के निमित्त रहित, वायुरोध से रहित, स्पष्ट, इच्छित वस्तु कथनपरक, सम्पूर्ण भाषात्मक, समीप और दूर से समानरूप से श्रवण योग्य जैन वचन हमारी रक्षा करें।

तिलोयपण्णत्तिकार कहते हैं–

एदासिं णं भासा तालुवदंतोट्ठ कंठ वामारं।
परिहरिय एक्ककालं भव्व जणाणंद करभासो।।1–62।।

अर्थात् दिव्यध्वनि तालु, दाँत, ओष्ठ, कण्ठ आदि के कम्पनादि व्यापाररहित एक समय में ही भव्यजनों को आनन्द देने वाली होती है।

इसी बात को हरिवंश पुराण में भी पुष्ट किया गया है—

जिनभाषा धरस्पन्दमन्तरेण विजृंभिता।
तिर्यग्देवमनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत्।।

अधर के स्पन्दन बिना निकली हुई जिनेन्द्र की भाषा तिर्यंच, मनुष्य, देवों के दृष्टिमोह को नाश करती है।

परन्तु उक्त ग्रंथ में ही दिव्यध्वनि चारों दिशाओं में दिखने वाले चार मुखों से निकलती है, ऐसा कथन भी आया है। महापुराण के कर्त्ता लिखते हैं—

दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेध, स्नानुभृतिर्निरगच्छत्सु।
भव्यमनोगतमोहतमोघ्नद्यूतदेष, यथैव तमोरिः।।

बादलों के गर्जन का अनुकरण करने वाली भगवान् के मुख से निकली हुई दिव्य महाध्वनि भव्यजनों के मन के मोहरूपी महान् अंधकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान प्रकाशमान हुई। इसके आगे और भी स्पष्ट किया गया है कि–

प्रस्पष्टवर्णी निरगात् ध्वनिः स्वायंभुवान्मुखात्।

अर्थात् भगवान् के मुख से स्पष्टाक्षर वाली ध्वनि निकल रही थी।

तत्त्वार्थवार्तिककार ने दिव्यध्वनि की उत्पत्ति मुख से बतलाई है। सम्पूर्ण ज्ञानावरण के नाश होने पर केवली के जिव्हा इन्द्रिय के आश्रय मात्र से वक्तृत्वरूप परिणत होकर उसे सम्पूर्ण श्रुत का उपदेश करने वाली बतलाया है।

भिन्न–भिन्न आचार्यों के इन उद्धरणों से दो बातों का दृष्टिकोण सामने आ जाता है कि तीर्थंकर की देशना दिव्य–ध्वनि के द्वारा श्रोताजनों का मोहांधकार नष्ट करती है। यह बात तो सर्व सामान्य के लिये मान्य है किन्तु वह केवल मुख द्वारा उत्पन्न होती है या सर्वांग से, इसमें विचार विकल्प है।

यह तो अनुभव सत्य है कि किसी भी शब्द के अर्थ को समझने के लिये पूर्वापर सम्बन्ध, क्षेत्र, काल, संकेत आदि का सहारा लिया ही जाता है। समवसरण में अनेक प्रकार के वाणी (अक्षर) रूप वचन सुनाने वालों के अलावा वे प्राणी भी हैं जो संकेतात्मक भाषा का परस्पर व्यवहार कर अपना अभीष्ट कार्य सिद्ध कर लेते हैं अतः एक विचार तो सुस्थिर हो जाता है कि प्रत्येक समवसरण में स्थित प्राणी दिव्यध्वनि को सुनकर अपने–अपने क्षयोपशम के अनुसार अपना सन्देह निराकरण कर आत्मतोष कर लेता है। दूसरे स्थान–स्थान पर इस ध्वनि की मेघ गर्जना से तुलना की गई है। गर्जनोपरान्त मेघ द्वारा जल से जो तृप्ति होती है उसका कोई बंटवारा या नाप–तोल नहीं है, वह तो सबकी तृप्ति करने वाली मात्र है। यही स्थिति भगवान की दिव्यध्वनि की होती है। सभा में स्थित प्रत्येक प्राणी अपनी क्षयोपशम शक्ति के अनुसार लाभ उठाता है।

अब रही यह ध्वनि सर्वांगीण होती है या मुख मात्र से। इस सम्बन्ध में परम्परा यही चली आ रही है कि केवली के ज्ञानावरण का पूर्ण नाश हो गया तो उनके शरीर के अंग–प्रत्यंगों का क्या कार्य होता है। वे चलते–बैठते, विहार आदि करते हैं, उनकी कायिक क्रिया स्वाभाविक होती है उसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्म के कारण उनके सर्वांगीण दिव्यध्वनि का होना ही अधिकतर आचार्यों को स्वीकार है। तालु आदि की सहायता से उत्पन्न वाणी में अशेष भावात्मक अनन्त तत्त्व का प्रकाशन होना क्रमबद्धता की आशंका प्रकट कर सकता है।

दिव्यध्वनि को अनक्षरी कहा जाता है उसका प्रमुख कारण उपर्युक्त अनन्त तत्त्व का प्रकाशन ही है। बुद्धि अतिशयधारी गणधरदेव भी उसका अंश मात्र ग्रहण कर पाते हैं तो उसको किसी भी मर्यादा में रखना उपयुक्त नहीं है। अनक्षरी का यही अभिप्राय है और जब वह श्रोता के कान में आती है तब वह अक्षररूप परिणत होकर उसका संशय निवारण करती है।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी कुछ सामंजस्य इस विषय में किया जा सकता है। आज तरंगों के सम्प्रेषण से विश्व भर में शब्दावलियों को प्रेषित किया जाता है और अनेक प्रकार के यन्त्रों के सहारे उन शब्दों को पकड़ा जाता है

और शब्द श्रवण–श्रावण व्यवहार चलता है। भगवान की ध्वनि भी बिना कोई अंग विशेष की प्रकम्पन किये शब्द वर्गणाओं को प्रेषित करती है और काययोग से आकर्षित हुए कर्म पुद्गल स्कंध स्वयं शब्द तथा भाषा का रूप ले लेते हैं और देशना की यह प्रक्रिया निराबाध नियमित रूप से चलती रहती है।

अब हमें श्रोता के कानों में आई हुई अक्षरात्मक वाणी के सम्बन्ध में भी विचार करना है। दिव्यध्वनि को निश्शेष, भावात्मक कहा गया है।

आचार्य समन्तभद्र इसे सर्वभाषात्मक कहते हैं। धवला टीका में इसे 18 महाभाषा और 700 लघुभाषात्मक लिखा है। महापुराण में दिव्यध्वनि एक होती हुई भी सातिशय पुण्य प्रकृति के कारण सभी के लिये संकेतात्मक भाषा रूप परिणत होती है ऐसा उल्लेख किया है। उक्त सभी कथनों का निष्कर्ष यही है कि जीवों के सन्देह निराकरण की अपूर्व क्षमता दिव्यध्वनि तथा दिव्यवाणी में है, उसका कोई उपमेय नहीं बनाया जा सकता है।

भगवान् महावीर का विहारक्षेत्र मुख्यत: बिहार प्रदेश रहा है। मगध की भाषा मागधी कही जाती थी परन्तु महावीर भगवान् की दिव्यध्वनि अर्धमागधी भाषा में होती थी। इसका तात्पर्य यह रहा कि जिस भाषा का अर्धमागधी और अर्धअंश अनेक भाषात्मक हो वह अर्धमागधी भाषा है। यह बात सर्वजन प्रसिद्ध है कि भगवान् महावीर की देशना का माध्यम सर्वजन साधारण भाषा थी। वह सर्व भाषाओं के अनेक शब्दों से गर्भित, लोकप्रिय, मधुर, हितकारिणी थी अत: सभी जन उससे आत्मबोध प्राप्त कर लेते थे।

उक्त कथन का अन्तिम सार यह है कि भगवान् के सर्वांग से उत्पन्न ध्वन्यात्मक दिव्यध्वनि जीवों के सन्देह तिमिर का नाश करने वाली होती है और वह कर्णविवर में अक्षरात्मक भाषा रूप ही सुनने को मिलती है, इसी कारण श्रोता आत्म–कल्याणोन्मुख होते हैं। उन्हें अपने प्रश्नों का समाधान पूर्णरूप से प्राप्त हो जाता है।

देशी व प्रमुख भाषा तथा अन्य समीपवर्ती अनेक भाषाओं के मिश्रणरूप शब्दावली के कारण इसे अर्धमागधी भाषा कहा जाता है जो व्यवहारपरक है।

भगवान् के तीर्थंकर प्रकृति का तीव्र सातिशय पुण्य विद्यमान है। उसके कारण पुद्गल शब्दों का परिणाम स्वाभाविक होता है, क्योंकि इन्द्रादि द्वारा समवसरण की व्यवस्था होती है अत: ध्वनि विस्तारादि क्रिया आज की तरह तब भी सम्भव थी।

1.2 दिव्यध्वनि क्या है ?—

जैनदर्शन में श्रुत परम्परा को अनादिनिधन माना गया है। जिसे हम श्रुत कहते हैं वही इस श्रुत परम्परा का विषय है। वैदिक दर्शन में जिस प्रकार वेदों को अनादिनिधन माना है वही स्थिति इस द्वादशांग श्रुत की है। वैदिक दर्शन वेदों को पौरुषेय (पुरुषकृत) नहीं मानता, उसका उद्भव वह ईश्वर से मानता है। जैनदर्शन श्रुत का उद्भव तीर्थंकर सर्वज्ञ से मानता है, साधारण व्यक्ति से उसका उद्भव नहीं मानता। जैनदर्शन श्रुत को आप्तोत्पन्न मानता है और आप्त उसको मानता है जो वीतरागी हो, सर्वज्ञ हो, साथ ही हितोपदेशी हो। यह द्वादशांग श्रुत उसी हितोपदेशिता का मूर्तिमान रूप है। तीर्थंकर महापुरुष चार कर्मों का नाशकर जब सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त करते हैं तब उनके तीर्थंकर नामकर्म का उदय आता है और उसके आधीन होकर उनका उपदेश होता है, इसी उपदेश को दिव्यध्वनि कहा जाता है।

ध्वनि का अर्थ एक प्रकार की आवाज है और वह आवाज अपने आपमें एक विलक्षण ही होती है जो सर्वसाधारण आवाजों से सर्वथा भिन्न असाधारण होती है इसीलिये इसको दिव्य कहा जाता है। जैसे–दिव्यरूप, दिव्य प्रकाश आदि।

अर्हंत तीर्थंकर की इस दिव्यध्वनि में अक्षर नहीं होते। इसका नाम ध्वनि है, भाषा नहीं है। भाषा के अक्षर होते हैं ध्वनि में अक्षर नहीं होते। यदि भगवान की वाणी साक्षर होती तो इसे भाषा कहा जाता अत: यह ध्वनि निरक्षर होती है। प्रश्न होता है फिर इसका रूप क्या है ? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि यह ध्वनि ओंकारस्वरूप है। जैसा कि देव शास्त्र

गुरु पूजा में लिखा है "जिनकी धुनि है ओंकार रूप", इसी तरह सरस्वती पूजा में लिखा है "ओंकार ध्वनि सार द्वादशांगवाणी विमल" इस ध्वनि में कंठ, तालु, ओष्ठ आदि का उपयोग नहीं होता क्योंकि अक्षरों के उच्चारण में कंठ, तालु आदि का उपयोग करना पड़ता है। जहाँ अक्षरोच्चारण नहीं है वहाँ कंठ, तालु आदि का उपयोग भी नहीं होता इसलिये यह ध्वनि निरक्षर ही होती है। प्रश्न हो सकता है फिर द्वादशांगवाणी में अक्षर कहाँ से आये ? इसका उत्तर यह है कि द्वादशांगवाणी के दो रूप हैं—अर्थ प्रतिपादन और अक्षर रचना। इनमें अर्थ प्रतिपादन तीर्थंकर द्वारा होता है और अक्षर रचना गणधर द्वारा होती है इसीलिये शास्त्रों में तीर्थंकर, सर्वज्ञ को अर्थकर्ता और गणधर, श्रुतकेवली को ग्रंथकर्ता कहा गया है अर्थात् तीर्थंकर भगवान ने अपनी वाणी के द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया उसे विषय क्रम के अनुसार गणधरों ने अक्षर रूप में ग्रथित किया है। यही अर्थकर्ता और ग्रंथकर्ता का अभिप्राय है। यहाँ पूछा जा सकता है कि जब भगवान का उपदेश ध्वनिरूप है अक्षररूप नहीं है तब बिना अक्षर के गणधरों ने उसे कैसे समझा। इसका समाधान यह है कि भगवान की उस दिव्यवाणी में अनेक बीजाक्षर गर्भित रहते हैं और प्रत्येक बीजाक्षर एक मंत्र है, जिसमें विशाल अर्थों का समुदाय है। ये बीजाक्षर उसी तरह गर्भित हैं जिस तरह 18 महाभाषाएँ और 700 क्षुल्लक (लघु) भाषाएँ दिव्यध्वनि में गर्भित रहती हैं। यहाँ गर्भित रहने का इतना ही अभिप्राय है जैसे कि यह कहा जाय कि एक वटबीज में विशाल वटवृक्ष गर्भित है। यद्यपि बीज में वृक्ष नहीं है किन्तु एक विशाल वृक्ष को उत्पन्न करने की जैसे एक बीज योग्यता रखता है, इसी तरह दिव्यध्वनि अनेक बीजाक्षरों एवं अनेक भाषाओं को उत्पन्न करने की शक्ति रखती है। इनमें बीजाक्षरों से अर्थ निकालने का काम गणधर का होता है, गणधर के अतिरिक्त दूसरा कोई उन अर्थों को नहीं निकाल सकता। तभी तो कहा जाता है कि भगवान की वाणी को गणधर ही झेल सकते हैं, अन्य कोई नहीं। प्रत्येक गणधर में भी बुद्धि ऋद्धि के अंतर्गत एक बीज बुद्धि नाम की ऋद्धि भी होती है, जिसके द्वारा वे तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में उन बीजाक्षरों को खोज निकालते हैं और उन बीजाक्षरों में जो अर्थ भरे पड़े हैं उन्हें "कोष्ठस्थ धान्योपम" नाम की बुद्धि ऋद्धि के द्वारा वे अपने श्रुतज्ञान में संचित करते हैं और बाद में द्वादशांग रूप श्रुतज्ञान की अक्षररूप ग्रंथ रचना करते हैं। वह रचना भी पत्रों या कागजों पर लिखी नहीं जाती। गणधरों ने उसे भगवान की दिव्यध्वनि के रूप में सुनकर और गणधर के अन्य शिष्य, प्रशिष्यों, आरातीयों ने गणधर से सुनकर उसका बोध प्राप्त किया था अत: इन द्वादशांगों की परम्परा श्रुत नाम से अर्थात् जो सुनकर प्राप्त की जाती थी, उत्तरोत्तर चलती रही इसलिये शास्त्रों को श्रुत कहा जाता है। यह परम्परा धरसेनाचार्य तक चलती रही, बाद में यह जानकर कि आगे लोग मन्दबुद्धि होंगे, धरसेन ने अपने ज्ञान को पुष्पदन्त, भूतबलि को दिया और इन दोनों आचार्यों ने उसे षट्खण्डागम के रूप में लिपिबद्ध किया।

गणधर भी जो तीर्थंकर की दिव्यध्वनि साक्षात् सुनते हैं उनके पल्ले भी दिव्यध्वनि में प्रतिपादित अर्थ का अनंतवाँ भाग पड़ता है अत: दिव्यध्वनि की महिमा अपरम्पार है। दिव्यध्वनि में बीजाक्षरों के अतिरिक्त जो 18 महाभाषाएँ और 700 लघु भाषायें गर्भित रहती हैं, वे भी वटबीज में वटवृक्ष की तरह ही हैं, अन्तर इतना है कि बीजाक्षरों को खोजना और उनसे अर्थ निकालना गणधरों के एकाधिकार के अंतर्गत आता है और भाषाओं का पता लगाना तथा उनको श्रोताओं की भाषा में श्रोताओं तक पहुँचाना देवों का एकाधिकार है इसीलिये देवकृत 14 अतिशयों में अर्द्धमागधी भाषा भी आती है अर्थात् भगवान् की वाणी को अर्द्धमागधी भाषा में परिणत करना देवों का कार्य था। यहाँ यह आशंका होती है यह अर्द्धमागधी कौन सी, किस देश की भाषा है ? अथवा 700 लघु भाषाओं में से ही एक है। इसका उत्तर यह है कि भगवान् का समवशरण सबसे पहले विपुलाचल पर्वत (बिहार) पर रचा गया। उस समय बिहार को मगध बोला जाता था। समवशरण में जो मनुष्य श्रोता उपस्थित थे उनमें आधी संख्या मगध देश के श्रोताओं की थी और आधी संख्या अन्य सभी देशों के निवासियों की थी अत: देव लोग भगवान की वाणी को आधी मगध भाषा रूप में आधी अन्य सर्व भाषा के रूप में, परिणमाते थे इसलिये इसका नाम अर्द्धमागधी पड़ा। इसका व्युत्पत्यर्थ इस प्रकार है—"अर्द्ध मगधभाषात्मकं

अर्द्ध सर्वभाषात्मकम् अर्थात् आधी मगध भाषा रूप, आधी सर्वभाषा रूप जो वाणी सुनाई देती थी वह अर्द्धमागधी भाषा थी। यह महावीर के समय दिव्यध्वनि का रूप थी। यह दिव्यध्वनि सर्वांग से निकलती है क्योंकि यह ध्वनि है, जैसे घंटे को किसी भी तरफ से लकड़ी मारो उसकी आवाज सारे घंटे से निकलती हुई कही जायेगी। इस तरह दिव्यध्वनि का अपना एक विशाल रूप है और तीर्थ की प्रवृत्ति उसका असाधारण कार्य है, लेकिन दिव्यध्वनि का यह प्रभाव गणधर के माध्यम से ही प्रकट होता है। गणधर के बिना दूसरा उसे कोई झेल नहीं सकता अतः सामान्य श्रुतकेवली की अपेक्षा गणधर श्रुतकेवली का और भी अधिक प्रभाव है, ठीक उसी तरह से जैसे सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर केवली का अधिक महत्व होता है। एक–एक तीर्थंकर केवली के समवशरण में अनेक सामान्य केवली होते हैं और एक गणधर के रहते हुये समवशरण में अनेक श्रुतकेवली रहते हैं लेकिन जो प्रभाव समवशरण में तीर्थंकर और गणधर का होता है वह अन्य सामान्य केवलियों एवं श्रुत केवलियों का नहीं होता है।

1.3 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–भगवान महावीर की दिव्यदेशना विपुलाचल पर किस तिथि में प्रारम्भ हुई ?

(क) श्रावण शुक्ला पंचमी ☐
(ख) श्रावण कृष्णा एकम ☐
(ग) कार्तिक शुक्ला एकम ☐

प्रश्न 2–वर्तमान जैन वर्ग..... की छत्रछाया में अपना आत्मविकास करने का उद्यम कर रहे हैं ?

(क) भगवान महावीर ☐
(ख) भगवान शांतिनाथ ☐
(ग) वृषभसेन गणधर ☐

प्रश्न 3–किसे अनक्षरी कहा जाता है ?

(क) गुरुवाणी को ☐
(ख) दिव्यध्वनि को ☐
(ग) आधुनिक विज्ञान को ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–दिव्यध्वनि को सर्वभाषात्मक कौन से आचार्य ने कहा है ?

प्रश्न 2–भगवान की दिव्यध्वनि कितनी महाभाषा और कितनी लघुभाषा में खिरती है ?

प्रश्न 3–भगवान महावीर की दिव्यध्वनि अर्धमागधी भाषा में खिरी थी, इसका क्या तात्पर्य है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–अर्हंत भगवान की दिव्यध्वनि कैसी होती है, इसको विस्तृत रूप में समझाइए ?

पाठ 2–तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि के प्रसार में गौतम गणधर स्वामी का योगदान

2.1 इन्द्रभूति गौतम कैसे बने गणधर ? —

मगध देश में एक ब्राह्मण नाम का नगर था। वहाँ एक शांडिल्य नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी भार्या का नाम स्थंडिला था, वह ब्राह्मणी बहुत ही सुन्दर और सर्व गुणों की खान थी। इस दम्पति के बड़े पुत्र के जन्म के समय ही ज्योतिषी ने कहा था कि यह गौतम समस्त विद्याओं का स्वामी होगा। उसी स्थंडिला ब्राह्मणी ने द्वितीय गार्ग्य पुत्र को जन्म दिया था, वह भी सर्वकला में पारंगत था, इन्हीं ब्राह्मण की दूसरी पत्नी केशरी के पुत्र का नाम भार्गव था। इस प्रकार ये तीनों भाई सर्व वेद-वेदांग के ज्ञाता थे। वह गौतम ब्राह्मण किसी ब्रह्मशाला में पांच सौ शिष्यों का उपाध्याय था। "मैं चौदह महाविद्याओं का पारगामी हूँ, मेरे सिवाय और कोई विद्वान् नहीं है।" ऐसे अहंकार में यह सदा चूर रहता था। इन तीनों भाइयों के इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नाम ही प्रसिद्ध हैं।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्रगट होकर समवसरण की रचना हो चुकी थी किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिर रही थी। 66 दिन व्यतीत हो गए। तभी सौधर्म इन्द्र ने समवशरण में गणधर का अभाव समझकर अपने अवधिज्ञान से "गौतम" को इस योग्य जानकर वृद्ध का रूप बनाया और वहाँ गौतमशाला में पहुँचकर कहते हैं—

"मेरे गुरु इस समय ध्यान में होने से मौन हैं अतः मैं आपके पास इस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।" गौतम ने विद्या के गर्व से गर्विष्ठ हो पूछा—"यदि मैं इसका अर्थ बता दूँगा तो तुम क्या दोगे ?" तब वृद्ध ने कहा—यदि आप इसका अर्थ कर देंगे तो मैं सब लोगों के सामने आपका शिष्य हो जाऊँगा और यदि आप अर्थ न बता सके तो इन सब विद्यार्थियों और अपने दोनों भाइयों के साथ आप मेरे गुरु के शिष्य बन जाना। महाअभिमानी गौतम ने यह शर्त मंजूर कर ली क्योंकि वह समझता था कि मेरे से अधिक विद्वान इस भूतल पर कोई है ही नहीं। तब वृद्ध ने वह काव्य पढ़ा—

धर्मद्वयं त्रिविधकालसमग्रकर्म, षड्द्रव्यकायसहिताः समयैश्च लेश्याः।
तत्त्वानि संयमगती सहितं पदार्थै-रंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायं।।

तब गौतम ने कुछ देर सोचकर कहा—"अरे ब्राह्मण! तू अपने गुरु के पास ही चल। वहीं मैं इसका अर्थ बताकर तेरे गुरु के साथ वाद-विवाद करूँगा।" इन्द्र तो चाहता ही यह था। वह वृद्ध वेषधारी इन्द्र गौतम को समवशरण में ले आया।

वहां मानस्तम्भ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उसे सम्यक्त्व प्रगट हो गया। गौतम ने अनेक स्तुति करते हुए भगवान के चरणों में नमस्कार किया तथा अपने पांच सौ शिष्यों और दोनों भाइयों के साथ भगवान के पादमूल में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। अन्तर्मुहूर्त में ही इन गौतममुनिराज को अवधि और मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया तथा वे महावीर स्वामी के प्रथम गणधर हो गए। उत्तर पुराण में लिखा है—

"तदनन्तर सौधर्मेन्द्र ने मेरी पूजा की और मैंने पांच सौ ब्राह्मण पुत्रों के साथ श्री वर्धमान भगवान को नमस्कार कर संयम धारण कर लिया। परिणामों की विशेष शुद्धि होने से मुझे उसी समय सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। तदनन्तर भट्टारक वर्धमान स्वामी के उपदेश से मुझे श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन पूर्वान्ह काल में समस्त अंगों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया, पुनः चार ज्ञान से सहित मैंने रात्रि के पूर्व भाग में अंगों की तथा रात्रि के पिछले भाग में पूर्वों की रचना की, उसी समय मैं ग्रन्थकर्ता हुआ हूँ।"

2.2 गौतमगणधर का विशिष्ट कृतित्व—

श्री गौतमस्वामी के द्वारा रचित कतिपय रचनायें दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में आज भी उपलब्ध हैं और प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार गौतम गणधर स्वामी ने अपने मुख से स्वयं को द्वादशांगश्रुत का ग्रंथ कर्ता कहा है। उन्होंने भगवान महावीर के मोक्ष दिवस को सायंकाल में केवलज्ञान प्राप्त किया पुनः आयु के अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके

गुणावा से निर्वाण को प्राप्त किया है।

विशेष—वर्तमान में बिहार प्रान्त में स्थित गुणावा जी तीर्थ गौतम गणधर की निर्वाणभूमि तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। शास्त्रों में कहीं विपुलाचल पर्वत का नाम भी आता है।

2.2.1 चैत्यभक्ति—

चैत्यभक्ति के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि गौतम ब्राह्मण जब भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में पहुँचते हैं और मानस्तम्भ देखकर उनका मान गलित हो जाता है, तब भक्ति में गद्‌गद् होकर भगवान की स्तुति करते हुए उच्चारण करते हैं—"जयति भगवान्" इत्यादि।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वयं टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के शब्दों में देखिए—

"श्रीवर्धमानस्वामिनं प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी जयतीत्यादि स्तुतिमाह"—

श्री वर्धमानस्वामी का प्रत्यक्ष दर्शन करके श्री गौतमस्वामी "जयति" इत्यादि स्तुति करते हैं। यथा—

जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंभिता-वमरमुकुटच्छायोद्‌गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणौ, विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः।।1।।

वे भगवान जयवन्त होवें कि जिनके चरणों का आश्रय लेकर कलुष मन वाले, मान से ग्रसित ऐसे परस्पर में एक दूसरे के वैरी भी जन्तु क्रूर भाव को छोड़कर परस्पर विश्वास को प्राप्त हो गए हैं। भगवान के चरण युगल कैसे हैं ? देवों द्वारा रचित सुवर्णमयी कमलों पर विहार करने से शोभा को प्राप्त हैं तथा इन्द्रों के मुकुटों की मणियों की निकलती हुई कांति की प्रभा से स्पर्शित हैं।

यह चैत्यभक्ति अनेक छन्दमय है, 35 श्लोकों में बहुत ही मधुर, सरस और उत्तम है। अन्त में पांच श्लोक जो पृथ्वी छन्द में हैं उनका छन्द और वर्ण लालित्य अवर्णनीय है। उनमें भगवान की वीतराग छवि और अनेक शुभ लक्षणों का वर्णन है यथा—

अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवन्हेर्जयात्, कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः।
विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा, मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्।।31।।

हे भगवन्! आपके नेत्रकमल लालिमा रहित हैं क्योंकि आपने सकल क्रोधरूपी अग्नि को जीत लिया है। आपके नेत्र कटाक्ष बाणों से भी रहित हैं क्योंकि आप में विकार का उद्रेक है ही नहीं। आप का मुख सदा मन्द-मन्द मुस्कान को लिए हुए है अर्थात् प्रसन्न मुद्रायुक्त है क्योंकि आप में विषाद और मद का अभाव हो चुका है इसलिए हे नाथ! आपका मुख ही मानो आपके हृदय की आत्यन्तिक शुद्धि—निर्मलता को कह रहा है।

इस प्रकार से बहुत ही गूढ़ और महान अर्थ को लिए हुए यह चैत्यभक्ति अपने आप में अनुपम निधि है।

उसी प्रकार से मुनि, आर्यिका आदि जिस प्रतिक्रमण को प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल में करते हैं वह दैवसिक—रात्रिक प्रतिक्रमण तथा पन्द्रह दिन में होने वाला या चार महीना या वर्ष में होने वाला बड़ा प्रतिक्रमण तथा अष्टमी आदि में होने वाली आलोचना—ये तीनों प्रतिक्रमण श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित हैं। यह रचनायें साक्षात् उनके मुखकमल से विनिर्गत हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण की टीका करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं—

"श्रीगौतमस्वामी मुनीनां दुष्षमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलार्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्करोति"—

'श्रीमते वर्धमानाय नमो' इत्यादि।

श्री गौतमस्वामी इस दुष्षमकाल में मुनियों के द्वारा दुष्परिणाम आदि से प्रतिदिन उपार्जित किए गए जो कर्म हैं, उनकी विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण लक्षण उपाय को कहते हुए उसकी आदि में मंगल के लिए इष्ट देवता विशेष को नमस्कार करते हैं—

श्रीमान् वर्धमान भगवान् को नमस्कार हो—इत्यादि।

2.2.2 निषीधिका दण्डक—

इस दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत प्रतिक्रमण भक्ति में "निषीधिका दण्डक" आता है इसमें प्रथम पद जो "णमो णिसीहियाए" है, उसका अर्थ टीकाकार ने 17 प्रकार से किया है। यथा—

1. जिन और सिद्ध की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमायें, 2. उनके मन्दिर, 3. बुद्धि आदि ऋद्धि से सहित मुनिगण, 4. उनसे आश्रित क्षेत्र, 5. अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञानी, 6. उनके ज्ञान उत्पत्ति के प्रदेश 7. उनसे आश्रित क्षेत्र, 8. सिद्धजीव, 9. उनके निर्वाण क्षेत्र, 10. उनसे आश्रित आकाश प्रदेश, 11. सम्यक्त्व आदि चार गुणयुक्त तपस्वी, 12. उनसे आश्रित क्षेत्र, 13. उनके द्वारा छोड़े गए शरीर के आश्रित प्रदेश, 14. योग में स्थित तपस्वी, 15. उनसे आश्रित क्षेत्र, 16. उनके द्वारा छोड़े गए शरीर के आश्रित प्रदेश, 17. और तीन प्रकार के पण्डितमरण में स्थित मुनिगण।

इस निषीधिका दण्डक में श्रीगौतमस्वामी ने अष्टापदपर्वत, सम्मेदशिखर, चम्पापुरी, पावापुरी आदि की भी वंदना की है।

जब चार ज्ञानधारी सर्वऋद्धि समन्वित गौतम गणधर इन तीर्थक्षेत्रों की वंदना करते हैं, तब आज जो अध्यात्म की नकल करने वाला कोई यह कह दे कि "यदि साधु के तीर्थ वंदना का भाव हो जावे तो उसे प्रायश्चित्त लेना चाहिए।" यह कथन जैन सिद्धान्त से कितना विपरीत है, यह विद्वानों को स्वयं सोचना चाहिए।

2.2.3 गणधरवलय मन्त्र—

इसी प्रकार बड़ा प्रतिक्रमण जो कि पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिकरूप से किया जाता है। उसकी टीका के प्रारम्भ में टीकाकार कहते हैं—

"श्रीगौतमस्वामी दैवसिकादि प्रतिक्रमणादिभिर्निराकर्तुमशक्यानां दोषानां निराकरणार्थं वृहत्प्रतिक्रमणलक्षमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलाट्यर्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह णमोजिणाणमित्यादि।"

ये "णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं" आदि 48 मन्त्र गणधरवलय मन्त्र कहे जाते हैं, वृहत्प्रतिक्रमणपाठ में प्रतिक्रमणभक्ति में इनका प्रयोग है।

इन मन्त्रों का मंगलाचरणरूप धवला की नवमी पुस्तक में है। वहाँ का प्रकरण देखिए—

णमो जिणाणं—जिनों को नमस्कार हो।

यह सूत्र मंगल के लिए कहा गया।

पूर्व संचित कर्मों के विनाश को मंगल कहते हैं।

यदि ऐसा है तो "जिनसूत्रों का अर्थ भगवान के मुख से निकला हुआ है, जो विसंवाद रहित होने के कारण केवलज्ञान के समान है तथा वृषभसेन आदि गणधर देवों द्वारा जिनकी शब्द रचना की गई है, ऐसे द्रव्य सूत्रों से उनके पढ़ने और मनन करनेरूप क्रिया में प्रवृत्त हुए सब जीवों के प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूप से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है।" इसी प्रकार विधान होने से यह जिन नमस्कारात्मक सूत्र व्यर्थ पड़ता है अथवा यदि यह सूत्र सफल है तो सूत्रों का अध्ययन व्यर्थ होगा क्योंकि उससे होने वाला कर्मक्षय इस जिन नमस्कारात्मक सूत्र में ही पाया जाता है, इस प्रकार दोनों का विषय भिन्न है।

आगे दूसरे सूत्र की उत्थानिका में विशेष स्पष्टीकरण हो रहा है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक जनों के अनुग्रहार्थ गौतम भट्टारक महाकर्मप्रकृति प्राभृत की आदि में नमस्कार करके पर्यायार्थिक नययुक्त शिष्यों के अनुग्रहार्थ उत्तर सूत्रों को कहते हैं।

णमो ओहिजिणाणं।– अवधिजिनों को नमस्कार हो।

यहाँ अभिप्राय यह है कि "महाकर्मप्रकृति प्राभृत" ग्रन्थ को रचते हुए भट्टारक श्री गौतमस्वामी मंगलाचरण में सर्वप्रथम "णमो जिणाणं" सूत्र का उच्चारण करते हैं। यद्यपि उतने एक सूत्र से मंगल हो गया है फिर भी पर्यायार्थिकजन के अनुग्रह के लिए आगे के अन्य सूत्रों की रचना करके मंगल करते हैं।

यहाँ यह बात विशेष समझने की है कि धवला के सूत्र साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् के मुख से विनिर्गत होने से बहुत ही प्रमाणिक हैं।

यहाँ 'णमो जिणाणं' में छठे गुणस्थान से लेकर अर्हन्त भगवान तक के सभी जिनों को लिया है अव्रतियों को नहीं लिया है, ऐसा समझना चाहिए। एक-एक मन्त्र के अर्थों की कितनी विशेषता है, विशेष इच्छुकों को इनके टीका ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। एक मन्त्र के अर्थ को कहते हैं—

"णमो दित्ततवाणं"।

दीप्ति का कारण होने से तप दीप्ति कहा जाता है। दीप्त है तप जिनका, वे दीप्ति तप हैं। चतुर्थ व षष्ठ आदि उपवासों के करने पर जिनका शरीर तेज तप जनित लब्धि के माहात्म्य से प्रतिदिन शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान बढ़ता जाता है, वे ऋषि दीप्ततप कहलाते हैं। उनकी केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती है अपितु बल भी बढ़ता है क्योंकि शरीर, बल, माँस और रुधिर की वृद्धि के बिना शरीर दीप्ति की वृद्धि नहीं हो सकती है इसलिए उनके आहार भी नहीं होता क्योंकि उसके कारणों का अभाव है। यदि कहा जाए कि भूख के दु:ख को शांत करने के लिए वे भोजन करते हैं, सो भी ठीक नहीं क्योंकि उनके भूख के दु:ख का अभाव है।

धवला टीका से यह निश्चित है कि श्री गौतम स्वामी चार ज्ञान के धारक सर्व ऋद्धियों से समन्वित महान तपस्वी भगवान महावीर स्वामी के प्रथम गणधर थे। भगवान को केवलज्ञान होने के बाद भी 66 दिन तक उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी, फिर जब इन्द्र ने इस इन्द्रभूति गौतम को भगवान के समवशरण में प्रवेश कराया था तब उनके जैनेश्वरी दीक्षा लेने के बाद ही 66 दिन के अनंतर भगवान की दिव्यध्वनि खिरी थी पुन: श्रीगौतमस्वामी ने दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त के बाद मन:पर्ययज्ञान को प्राप्त कर लिया था उसी दिन सायंकाल में अंगपूर्व की रचना कर ली थी।

इन्हें धवला में भूतबलि आचार्य ने कैसे लिया है, सो धवला में स्पष्ट किया है—

"यह निबद्ध मंगल तो नहीं हो सकता क्योंकि कृति आदिक चौबीस अनुयोगद्वाररूप अवयवों वाले महाकर्मप्रकृति प्राभृत की आदि में गौतम स्वामी ने इसकी प्ररूपणा की है और भूतबलि भट्टारक ने वेदना- खण्ड के आदि में मंगल के निमित्त इसे वहाँ से लाकर स्थापित किया है अत: इसे निबद्ध मंगल मानने में विरोध है।"

"वर्धमान भगवान ने तीर्थ की उत्पत्ति की है।" अठारह महाभाषा और सात सौ क्षुद्रभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीजपदों के प्ररूपक अर्थकर्ता हैं तथा बीजपदों में लीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता गणधर भट्टारक ग्रन्थकर्ता हैं। ग्रंथकर्ता गौतम स्वामी की विशेषता धवला टीकाकार क्या बतला रहे हैं। देखिए—

पाँच महाव्रतों के धारक, तीन गुप्तियों से रक्षित, पांच समितियों से युक्त, आठ मदों से रहित, सात भयों से मुक्त, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व सम्भिन्नश्रोतृत्व बुद्धियों से उपलक्षित, प्रत्यक्षभूत उत्कृष्ट अवधिज्ञान से असंख्यात लोकमात्र काल में अतीत, अनागत एवं वर्तमान परमाणु पर्यन्त समस्त मूर्त द्रव्य व उनकी पर्यायों को जानने वाले सप्त तपलब्धि के प्रभाव से मल-मूत्ररहित, दीप्ततपलब्धि के बल से सर्वकाल उपवासयुक्त होकर भी शरीर के तेज से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले, सर्वौषधि लब्धि के निमित्त से समस्त औषधियों स्वरूप, अनन्त बलयुक्त होने से हाथ की कनिष्ठा अंगुली द्वारा तीनों लोकों को चलायमान करने में समर्थ, अमृतास्रव आदि ऋद्धियों के बल से हस्तपुट में गिरे हुए सब आहारों को अमृत स्वरूप से परिणमाने में समर्थ, महातप गुण से कल्पवृक्ष के समान, अक्षीणमहानस लब्धि के बल से अपने हाथों में गिरे हुए आहारों की अक्षयता के उत्पादक, अघोरतप ऋद्धि के माहात्म्य से जीवों के मन, वचन

एवं कायगत समस्त कष्टों को दूर करने वाले, सम्पूर्ण विद्याओं के द्वारा सेवित चरणमूल से संयुक्त, आकाशचारण गुण से सब जीवसमूहों की रक्षा करने वाले, वचन एवं मन से समस्त पदार्थों के सम्पादन करने में समर्थ, अणिमादिक आठ गुणों के द्वारा सब देवसमूहों को जीतने वाले, तीनों लोकों के जनों में श्रेष्ठ, परोपदेश के बिना अक्षर व अनक्षररूप सब भाषाओं से हम सबको ही कहते हैं—"इस प्रकार सबको विश्वास कराने वाले तथा समवसरणस्थ जनों के कर्ण इन्द्रियों में अपने मुँह से निकली हुई अनेक भाषाओं के सम्मिश्रित प्रवेश के निवारक ऐसे गणधर देव ग्रन्थकर्ता हैं क्योंकि ऐसे स्वरूप के बिना ग्रन्थ की प्रमाणता का विरोध होने से धर्म रसायन द्वारा समवसरण के जनों का पोषण बन नहीं सकता।

गणधरदेव बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस, बल, अक्षीण, सुस्वरत्वादि ऋद्धियों तथा अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान से सहित होते हैं।

संपहि वड्ढमाणतित्थगंथकत्तारो वुच्चदे—

अब वर्धमान जिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता को कहते हैं—

पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, पांच महाव्रत, आठ प्रवचनमाता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति तथा सहेतुक बन्ध और मोक्ष।

"उक्त पांच अस्तिकायादिक कथा हैं।" ऐसे सौधर्मेन्द्र के प्रश्न से सन्देह को प्राप्त हुए, पाँच सौ-पाँच सौ शिष्यों से सहित तीन भ्राताओं से वेष्टित, मानस्तम्भ के देखने से मान से रहित हुए, वृद्धि को प्राप्त होने वाली विशुद्धि से संयुक्त वर्धमान भगवान के दर्शन करने पर असंख्यात भवों में अर्जित महान कर्मों को नष्ट करने वाले, जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणा करके पंच सृष्टियों से अर्थात् पांच अंगों द्वारा भूमिस्पर्शपूर्वक वंदना करके एवं हृदय से जिनभगवान का ध्यान कर संयम को प्राप्त हुए, विशुद्धि के बल से मुहूर्त के भीतर उत्पन्न हुए समस्त गणधर के लक्षणों से संयुक्त तथा जिनमुख से निकले हुए बीजपदों के ज्ञान से सहित ऐसे गौतम गोत्र वाले इन्द्रभूति ब्राह्मण द्वारा चूंकि आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग व दृष्टिवादांग, इन बारह अंगों तथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निषिद्धिका, इन अंगबाह्य चौदह प्रकीर्णकों की श्रावण मास के कृष्ण पक्ष में युग की आदि में प्रतिपदा के पूर्व दिन में रचना की थी अतएव इन्द्रभूति भट्टारक वर्धमान जिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता हुए। कहा भी है—

वर्ष के प्रथम मास व प्रथम पक्ष में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के पूर्व दिन में अभिजित् नक्षत्र में तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

2.3 प्रथम दिव्यध्वनि का दिन बना वीरशासन दिवस—

भगवान महावीर की दिव्यध्वनि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन खिरी थी, उन्हीं के धर्मतीर्थ का प्रवर्तन वर्तमान में चल रहा है। उनके धर्म को धारण करने वाले जीव उन्हीं वीर प्रभु के शासन में रह रहे हैं। इसीलिए यह श्रावणवदी एकम् का दिवस 'वीरशासन जयंती' के नाम से सर्वत्र मनाया जाता है।

धवला में श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं—

'पंचशैलपुर (पंचपहाड़ी से शोभित राजगृही के पास) में विपुलाचल पर्वत के ऊपर भगवान महावीर ने भव्यजीवों को अर्थ का उपदेश दिया।

इस अवसर्पिणी कल्पकाल के 'दुःषमा सुषमा' नाम के चौथेकाल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर वर्ष के प्रथम मास, प्रथम पक्ष और प्रथम दिन में अर्थात् श्रावण कृष्णा एकम् के दिन प्रातःकाल के समय आकाश में अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति हुई।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रुद्रमुहूर्त में सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथमयोग में जब युग की आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।।57।।

यह श्रावणकृष्णा प्रतिपदा वर्ष का प्रथम मास है और युग का आदिप्रथम दिवस है। जैसा कि अन्यत्र ग्रंथों में भी कहा है।

अतः यह स्पष्ट है कि यह श्रावण कृष्णा एकम् का दिवस युग का प्रथम दिवस है। अर्थात् प्रत्येक सुषमा सुषमा, सुषमा आदि कालों का प्रारंभ इस दिवस से ही होता है जैसा कि टिप्पण में कहा गया है। इसलिए यह दिवस अनादिनिधन जैन सिद्धांत के अनुसार वर्ष का प्रथम दिवस माना जाता है। अनादिकाल से युग और वर्ष की समाप्ति आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को होती है। युग तथा वर्ष का प्रारंभ श्रावण कृष्णा एकम् से होता है। वर्तमान में इसी दिन वीर प्रभु की दिव्यध्वनि खिरने से धर्मतीर्थ का प्रवर्तन इसी दिन से चला है। इसलिए यह दिवस और भी महान होने से महानतम अथवा पूज्यतम हो गया है।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान वैशाख शुक्ला दशमी को प्रगट हो चुका था। किन्तु गणधर के अभाव में छ्यासठ दिन तक भगवान् की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी इसके बारे में जयधवला में स्पष्ट किया है—

'केवलज्ञान होने के बाद छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी?" 'गणधर के नहीं होने से।

'सौधर्म इन्द्र ने केवलज्ञान होने के बाद ही गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया?

'नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था।'

'जिसने तीर्थंकर के पादमूल में महाव्रत ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती?'

'ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता।'

'उन इन्द्रभूति नाम के गौतम गणधर ने (उसी दिन) बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में (48 मिनट में) क्रम से रचना की। अतः भावश्रुत और अर्थ पदों के कर्ता तीर्थंकर हैं तथा तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुत पर्याय से परिणत हुए, इसलिए द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। उन गौतम स्वामी ने भी दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहार्य को दिया। लोहार्य ने भी जम्बूस्वामी को दिया। परिपाटी क्रम से (एक के बाद एक) ये तीनों ही सकलश्रुत के धारण करने वाले कहे गये हैं और यदि परिपाटी क्रम की अपेक्षा न की जाये तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुत के धारी हुए हैं।' अर्थात् संख्यात हजार मुनि द्वादशांग के पारगामी हुए हैं।

2.4 दिव्यध्वनि कैसी होती है ? —

दिव्यध्वनि सर्वभाषामयी है अक्षर-अनक्षरात्मक है, जिसमें अनंत पदार्थ समाविष्ट है अर्थात् जो अनंत पदार्थों का वर्णन करती है, जिसका शरीर बीजपदों से गढ़ा गया है, जो प्रातः मध्यान्ह और सायं इन तीनों कालों में छह-छह घड़ी तक निरंतर खिरती रहती है। इस समय को छोड़कर बाकी समय गणधर देव के संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को प्राप्त होने पर उन्हें दूर करने के लिए खिरती है।"

यहाँ पर दिव्यध्वनि को सर्वभाषारूप कहा है—

"अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं से युक्त, तिर्यंच, देव और मनुष्यों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली ऐसी दिव्यध्वनि है।"

"अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा, तथा और भी जो संज्ञी जीवों की अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएं हैं उन सभी रूप से दिव्यध्वनि होती है। वह तालु, दांत, कंठ, ओष्ठ के व्यापार से रहित है। तीनों कालों में नव मुहूर्तों तक खिरती है। इसके अतिरिक्त गणधरदेव, इंद्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप शेष समयों में भी खिरती है।"

दिव्यध्वनि सुनने का माहात्म्य—"जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की वाणी को सुनकर बारह गणों के भव्यजीव अनंतगुणश्रेणीरूप विशुद्धि से संयुक्त शरीर को धारण करते हुए असंख्यात श्रेणीरूप कर्मपटल को नष्ट कर देते हैं।"

दिव्यध्वनि सुनने के लिए बैठने का स्थान—"समवसरण में बारह कोठों के क्षेत्र से यद्यपि वहाँ पर पहुँचने वाले जीवों का क्षेत्रफल असंख्यात गुणा अधिक है, तथापि वे सब जीव जिनदेव के माहात्म्य से एक-दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। जिन-भगवान के माहात्म्य से बालक आदि सभी जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अंतर्मुहूर्त में ही (48 मिनट के अंदर ही) संख्यात योजन चले जाते हैं।

इन कोठों में कौन नहीं जा सकते हैं ?—इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं जाते हैं तथा अनध्यवसाय से युक्त, संदेह से संयुक्त और विविध प्रकार के विपरीत भावों सहित जीव भी वहाँ नहीं रहते हैं। इससे अतिरिक्त वहाँ पर जिन-भगवान के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, जन्म, वैर, कामबाधा, क्षुधा और पिपासा की बाधाएं भी नहीं होती है।"

हरिवंशपुराण में भी बताया है कि वहाँ शूद्र, पाखंडी व अन्य वेषधारी तापसी आदि नहीं जा सकते हैं।

वर्तमान में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुसार ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप श्रुत नहीं हैं। फिर भी वर्तमान में जो षट्खंडागम, कसायपाहुड़, महाबंध, समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथ उपलब्ध हैं वे भगवान की वाणी के अंशरूप ही हैं। यथा—

"जिनका अर्थरूप से तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधरदेव ने जिनकी ग्रंथ रचना की है ऐसे द्वादश अंग आचार्य परम्परा से निरंतर चले आ रहे हैं। परन्तु काल प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर उन अंगों को धारण करने वाले योग्य पात्रों के अभाव में वे उत्तरोत्तर क्षीण होते आ रहे हैं। इसलिए जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषों का अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरू थे, जिन्होंने गुरु परम्परा से श्रुत और उसका अर्थ ग्रहण किया था उन आचार्यों ने तीर्थ विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव वे असूत्र न होकर सूत्र ही हैं।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथ भगवान की वाणी के ही अंशरूप हैं। अत: पूर्णतया प्रामाणिक हैं।

इस वीर शासन जयंती दिवस को सोल्लासपूर्ण वातावरण में मनाते हुए प्रत्येक जैन श्रावकों का कर्तव्य हो जाता है कि उस दिन स्वाध्याय करने का नियम लेकर अपने ज्ञान को समीचीन बनावें और वीर भगवान के शासन में रहते हुए अपने आत्मा को कर्मों से छुटाने के पुरुषार्थ में लगें तथा प्रतिदिन निम्नलिखित श्लोक के द्वारा श्रुतदेवता की आराधना, उपासना, भक्ति करते रहें—

अंगंबज्झणिम्मी अणाइमज्झंतणिम्मलंगाए।
सुयदेवयअंबाए णमो सया चक्खुमइयाए।।4।।

जिसका आदि, मध्य और अंत से रहित निर्मल शरीर अंग और अंगबाह्य से निर्मित है और जो सदा चक्षुष्मती जागृतचक्षु हैं ऐसी श्रुतदेवी माता को मेरा सतत नमस्कार होवे।

2.5 विपुलाचल पर्वत पर प्रथम दिव्यध्वनि खिरी—

भगवान महावीर का समवसरण बन गया था किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी। जब प्रभु का श्रीविहार होता था तब समवसरण विघटित हो जाता था एवं प्रभु का श्रीविहार आकाश में अधर होता था। देवगण भगवान के श्रीचरण कमलों के नीचे-नीचे स्वर्णमयी सुगंधित दिव्य कमलों की रचना करते रहते थे पुन: जहाँ भगवान रुकते, अर्धनिमिष मात्र में कुबेर आकाश में अधर ही समवसरण बना देता था।

हरिवंश पुराण में आया है कि छ्यासठ दिन तक मौन से विहार करते हुए प्रभु राजगृह में पहुँचे-

षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम्।।
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा।।
इन्द्राग्निवायुभूताख्याः कौडिन्याख्याश्च पण्डिताः।
इन्द्रनोदनयाऽऽयाताः समवस्थानमर्हतः।।
प्रत्येकं सहिताः सर्वे शिष्याणां पञ्चभिः शतैः।
त्यक्ताम्बरादिसंबंधाः संयमं प्रतिपेदिरे।।
सुता चेटकराजस्य कुमारी चंदना तदा।
धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणा पुरःसरी।।
श्रेणिकोऽपि च संप्राप्तः सेनया चतुरंगया।
सिंहासनोपविष्टं तं प्रणनाम जिनेश्वरम्।।
प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोषत्रयक्षयम्।
जिनेंद्रं गौतमोऽपृच्छत् तीर्थार्थं पापनाशनम्।।
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः।
दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना।।
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यन्हि पूर्वाण्हे शासनार्थमुदाहरत्।।

तदनन्तर छ्यासठ दिन तक मौन से विहार करते हुए श्रीवर्धमान जिनेन्द्र जगत्प्रसिद्ध राजगृह नगर आये। वहाँ जिस प्रकार सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ होता है उसी प्रकार वे लोगों को प्रतिबद्ध करने के लिए विपुल लक्ष्मी के धारक विपुलाचल पर्वत पर आरूढ़ हुए।

इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति तथा कौण्डिन्य आदि पण्डित इन्द्र की प्रेरणा से श्रीअर्हंत देव के समवसरण में आये। वे सभी पंडित अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों से सहित थे, इन सभी ने वस्त्रादि का त्याग कर संयम धारण कर लिया। उसी समय राजा चेटक की पुत्री कुमारी 'चन्दना' एक स्वच्छ वस्त्र-सफेद साड़ी धारण कर आर्यिकाओं में प्रमुख गणिनी हो गयीं। राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ समवसरण में पहुँचे और वहाँ पर सिंहासन पर विराजमान श्री वर्द्धमान भगवान को नमस्कार किया।

तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एवं राग-द्वेष और मोह को क्षय करने वाले,पापनाशक श्री जिनेन्द्रदेव से श्री गौतम गणधर ने तीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए प्रश्न किया।

अनंतर श्रीमहावीर स्वामी ने श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के प्रातःकाल के समय अभिजित् नक्षत्र में समस्त संशयों को छेदने वाले, दुन्दुभि के शब्द के समान गंभीर तथा एक योजन तक फैलने वाली दिव्यध्वनि के द्वारा शासन की परंपरा चलाने के लिए उपदेश दिया।

अन्यत्र ग्रंथों में आया है कि-

जब इंद्रराज ने देखा-भगवान को केवलज्ञान होकर 65 दिन व्यतीत हो गये, फिर भी प्रभु की दिव्यध्वनि नहीं खिर

रही है क्या कारण है ? चिंतन कर यह पाया कि गणधर का अभाव होने से ही दिव्यध्वनि नहीं खिरी है। तब सौधर्मेंद्र ने इन्द्रभूति ब्राह्मण को इस योग्य जानकर उस अभिमानी को लेने के लिए युक्ति से वृद्ध का रूप बनाया और वहाँ "गौतमशाला" में पहुँचे। वहाँ के प्रमुख गुरु 'इन्द्रभूति' से बोले—

'मेरे गुरु इस समय ध्यान में लीन होने से मौन हैं अत: मैं आपके पास इस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।'

गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण ने विद्या से गर्विष्ठ होकर पूछा—

'यदि मैं इसका अर्थ बता दूंगा तो तुम क्या दोगे ?'

तब वृद्ध ने कहा-'यदि आप इसका अर्थ कर देंगे, तो मैं सब लोगों के सामने आपका शिष्य हो जाऊँगा और यदि आप अर्थ न बता सके तो इन सब विद्यार्थियों और अपने दोनों भाइयों के साथ आप मेरे गुरु के शिष्य बन जाना।'

महाअभिमानी इंद्रभूति ने यह शर्त मंजूर कर ली, क्योंकि वह यह समझता था कि मेरे से अधिक विद्वान् इस भूतल पर कोई है ही नहीं। तब वृद्ध ने वह काव्य पढ़ा-

"धर्मद्वयं त्रिविधकालसमग्रकर्म, षड्द्रव्य-कायसहिता: समयैश्च लेश्या:।
तत्त्वानि संयमगती सहितं पदार्थै-रंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायम्।।

तब गौतम गोत्र से 'गौतम' नाम से प्रसिद्ध इन्द्रभूति ने कुछ देर सोचकर कहा-'अरे ब्राह्मण! तू अपने गुरु के पास ही चल। वहीं मैं इसका अर्थ बताकर तेरे गुरु के साथ वाद-विवाद करूँगा।'

सौधर्मेंद्र तो यही चाहते थे। तब वेषधारी इंद्रराज गौतम को लेकर भगवान के समवसरण की ओर चल पड़े।

वहाँ मानस्तंभ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उन्हें सम्यक्त्व प्रगट हो गया। समवसरण के सारे वैभव को देखते हुए महान आश्चर्य को प्राप्त उन्होंने भगवान महावीरस्वामी का दर्शन किया और भक्ति में गद्गद् होकर स्तुति करने लगे-

'जयति भगवान् हेमाम्भोज-प्रचार-विजृंभिता-वमरमुकुटच्छायोद्गीर्ण-प्रभापरिचुम्बितौ।।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ता: परस्परवैरिणो। विगतकलुषा: पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसु:।।1।।

स्तुति करके विरक्तमना होकर उन इंद्रभूति ने प्रभु के चरण सानिध्य में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। तत्क्षण ही उन्हें मति-श्रुत ज्ञान के साथ ही अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। वे गणधर पद को प्राप्त हो गये तभी भगवान की दिव्यध्वनि खिरी थी।

'कषायपाहुड़' ग्रंथ में प्रथम दिव्यध्वनि के बारे में प्रश्नोत्तररूप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है—

जिन्होंने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करके समस्त प्राणियों को संशयरहित किया है, जो वीर हैं—जिन्होंने विशेषरूप से समस्त पदार्थ समूह को प्रत्यक्ष कर लिया है, जो जिनों में श्रेष्ठ हैं तथा राग, द्वेष और भय से रहित हैं ऐसे भगवान महावीर धर्मतीर्थ के कर्ता हैं।

प्रश्न—भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ का उपदेश कहाँ पर दिया ?

उत्तर—'सेणियराए सचेलणे महामंडलीए सयलवसुहामंडलं भुंजते मगहामंडल-तिलओवमराय....?

गिह-णयर-णेरयि-दिसमहिट्ठिय-विउलगिरिपव्वए सिद्धचारणसेविए बारहगण-परिवेड्ढिएण कहियं।

जब महामण्डलीक श्रेणिक राजा अपनी चेलना रानी के साथ सकल पृथिवी मंडल का उपभोग करता था तब मगधदेश के तिलक के समान राजगृह नगर की नैऋत्य दिशा में स्थित तथा सिद्ध और चारणों द्वारा सेवित विपुलाचल पर्वत के ऊपर बारहगणों—सभाओं से परिवेष्टित भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

राजगृह नगर के पास स्थित पंचशैलपुर है-जिसे पंचपहाड़ी कहते हैं। पूर्व दिशा में चौकोर आकार वाला ऋषिगिरि नाम का पर्वत है। दक्षिण दिशा में वैभार पर्वत, नैऋत्य दिशा में विपुलाचल नाम का पर्वत है, ये दोनों त्रिकोण आकार वाले हैं। पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में धनुष के आकार वाला 'छिन्न' नाम का पर्वत है। ऐशान दिशा में गोलाकार

पांडु नाम का पर्वत है। ये सब पर्वत कुश के अग्रभागों से ढके हुए हैं।

प्रश्न—किस काल में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है ?

उत्तर—भरत क्षेत्र संबंधी अवसर्पिणी काल के दुःषमसुषमा नामक चौथे काल में नौ दिन, छह महिना अधिक तैंतीस वर्ष अवशिष्ट होने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है। कहा भी है—

इम्मिस्सेवसप्पिणीए चउत्थकालस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवासावसेसे किंचि विसेसूणकालम्मि।।

इस अवसर्पिणी काल के दुःषमसुषमा नामक चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है।

आगे इसी को स्पष्ट करते हैं—चौथे काल में पंद्रह दिन और आठ महीना अधिक पचहत्तर वर्ष बाकी रहने पर आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन बहत्तर वर्ष की आयु लेकर मति-श्रुत-अवधि ज्ञान के धारक भगवान महावीर पुष्पोत्तर विमान से च्युत होकर गर्भ में अवतीर्ण हुए। उन बहत्तर वर्षों में तीस वर्ष कुमार काल है, बारह वर्ष छद्मस्थ काल है तथा तीस वर्ष केवली काल है। इन तीनों कालों का जोड़ बहत्तर वर्ष होता है। इस 72 वर्ष प्रमाण काल को पंद्रह दिन और आठ महीना अधिक 75 वर्ष में घटा देने पर वर्द्धमान जिनेंद्र के मोक्ष जाने पर जितना चतुर्थ काल शेष रहता है उसका प्रमाण होता है।

इस काल में छ्यासठ दिन कम केवली काल अर्थात् 29 वर्ष, नौ महीना और चौबीस दिन के मिला देने पर चतुर्थकाल में नौ दिन और छह महीना अधिक तैंतीस वर्ष बाकी रहते हैं।

शंका—केवलिकाल में से छ्यासठ दिन किसलिए कम किये हैं ?

समाधान—भगवान महावीर को केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर भी छ्यासठ दिन तक धर्मतीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिए केवलिकाल में से छ्यासठ दिन कम किये गये हैं।

जयधवला में कहा है—

"दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती ?
गणिंदाभावादो।
सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो ?
ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो।"

शंका—केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनंतर छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई ?

समाधान—गणधर न होने से उतने दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नहीं हुई।

शंका—सौधर्मेन्द्र ने केवलज्ञान प्राप्त होते ही गणधर देव को क्यों नहीं उपस्थित किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था, उसमें उसी समय गणधर को उपस्थित करने की शक्ति नहीं थी।

शंका—जिसने अपने तीर्थंकर पादमूल में महाव्रत स्वीकार किया है ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है ?

समाधान—ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता है, क्योंकि यदि स्वभाव में ही प्रश्न होने लगे तो कोई व्यवस्था ही न बन सकेगी।

अतएव कुछ कम चौंतीस वर्ष प्रमाण चौथे काल के रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई यह सिद्ध हुआ।

कोई अन्य आचार्य "भगवान वर्द्धमान की आयु 71 वर्ष, 3 माह 25 दिन प्रमाण है" ऐसा कहते हैं।

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तक 9 माह 8 दिन हुए। चैत्र शुक्ला चतुर्दशी से अट्ठाईस वर्ष व्यतीत कर पुनः मगसिर कृष्णा दशमी तक लेने से अट्ठाईस वर्ष सात माह बारह दिन (28 वर्ष, 7 माह 12 दिन) होते हैं। मगसिर कृ. 11 से आगे बारह वर्ष के बाद वैशाख शुक्ला दशमी को केवलज्ञान हुआ अतः 12 वर्ष, 5 माह 15 दिन बाद केवली हुए हैं। वैशाख शुक्ला 11 से आगे वैशाख शुक्ला 10 तक उन्तीस वर्ष पुनः वैशाख शुक्ला 11 से कार्तिक कृष्णा अमावस्या तक पाँच माह बीस दिन ऐसे 29 वर्ष, 5 माह, 20 दिन का केवली काल है। इस प्रकार वर्द्धमान जिनेन्द्र की आयु 71 वर्ष, 3 माह, 25 दिन प्रमाण मानी गयी है।

भगवान महावीर की आयु बहत्तर वर्ष की थी। दूसरे मत से इकहत्तर वर्ष, तीन माह, पच्चीस दिन की थी। ये दोनों मत जयधवला ग्रंथ में आये हैं।

श्रावणकृष्णा एकम् के दिन भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी थी जब इंद्रभूति ब्राह्मण ने वर्द्धमान भगवान से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की थी। उत्तरपुराण में कहा है—

'श्रीवर्द्धमानमानम्य संयमं प्रतिपन्नवान्।'

श्रीवर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके सकलसंयम ग्रहण कर लिया था।

दिव्यध्वनि का वर्णन तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में आया है।

जोयणपमाणसंट्ठिद-तिरियामरमणुव णिवहपडिबोधो।
मिदमधुरगभीरतरा-विसदविसयसयल भासाहिं।
अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा।
अक्खरअणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ।।
एदासिं भासाणं तालुवंदतोट्ठकंठवावारं।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकर-भासो।।

एक योजन प्रमाण तक स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को बोध प्रदान करने वाली भगवान की दिव्यध्वनि होती है। यह दिव्यध्वनि मृदु—मधुर, अतिगंभीर और विशद—स्पष्ट विषयों को कहने वाली संपूर्ण भाषामय होती है। यह संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षररूप अठारह भाषा और सात सौ लघु भाषाओं में परिणत होती हुई, तालु-ओंठ-दाँत तथा कंठ के हलन-चलनरूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्य जीवों को आनंदित करने वाली होती है ऐसी दिव्यध्वनि के स्वामी तीर्थंकर भगवान होते हैं।

षट्खंडागम ग्रंथ में श्रीवीरसेनस्वामी कहते हैं—

''तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो तम्हि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम-जणिदचउ-रमलबुद्धि-संपण्णेण बह्मणेण गोदमगोत्तेण सयलदुस्सुदि-पारएण जीवाजीवविसयसंदेह-विणासणट्ठ-मुवगयवड्ढमाण-पादमूलेण इंदिभूदिणावहारिदो।।''

इस प्रकार केवलज्ञानी भगवान महावीर के द्वारा कहे गये पदार्थ को उसी काल में और उसी क्षेत्र में क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न चार प्रकार के-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययरूप निर्मल ज्ञान से युक्त संपूर्ण दुःश्रुति-अन्यमतावलंबी वेद-वेदांग में पारंगत, गौतमगोत्रीय ऐसे इन्द्रभूति ब्राह्मण ने जीव-अजीव विषयक संदेह को दूर करने के लिए श्रीवर्द्धमान भगवान के चरणकमल का आश्रय लेकर ग्रहण किया अर्थात् प्रभु की दिव्यध्वनि को सुना।

इसीलिए भगवान महावीर 'अर्थकर्ता' कहलाये हैं।

'पुणो तेणिंदभूदिणा भावसुदपज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंथणमेक्केण चेव-मुहुत्तेण रयणा कदा।''

पुनः उन इन्द्रभूति गौतमस्वामी ने भावश्रुत पर्याय से परिणत होकर बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रंथों की रचना एक ही मुहूर्त में कर दी।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी यही प्रथम देशना दिवस—'वीरशासन जयंती' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी दिन श्री गौतमस्वामी ने गणधर पद प्राप्त करके द्वादशांगरूप श्रुत की रचना की थी जो कि मौखिक मानी गई उसे लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता है। आज का उपलब्ध सारा जैन वाङ्मय इस द्वादशांग का अंशरूप है।

2.6 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1–गौतम ब्राह्मण के पिता का क्या नाम था ?

(क) शांडिल्य ब्राह्मण ☐
(ख) गार्ग्य ब्राह्मण ☐
(ग) वायुभूति ब्राह्मण ☐

प्रश्न 2–भगवान महावीर को केवलज्ञान प्रगट होकर समवसरण रचना होने के बाद कितने दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी ?

(क) 33 दिन ☐
(ख) 66 दिन ☐
(ग) 50 दिन ☐

प्रश्न 3–मानस्तम्भ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उन्हें ..... प्रगट हो गया ?

(क) शुद्धोपयोग ☐
(ख) मतिज्ञान ☐
(ग) सम्यक्त्व ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1–श्री गौतमस्वामी कृत चैत्यभक्ति में किसका वर्णन है ?

प्रश्न 2–तीर्थंकर की दिव्यध्वनि कब–कब खिरती है ?

प्रश्न 3–इस अवसर्पिणी काल में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति कब हुई ?

प्रश्न 4–युग का प्रथम दिवस कौन–सा माना जाता है, इसे जैन सिद्धान्तानुसार समझाइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1–विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर की प्रथम दिव्यध्वनि खिरने के सम्पूर्ण वृतान्त को हरिवंश पुराण के आधार से विस्तारपूर्वक बताइए ?

पाठ 3—गौतम गणधर वाणी में श्रावक धर्म एवं मुनिधर्म

भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य श्री गौतम गणधर स्वामी ने भगवान की दिव्यध्वनि को आज से 2570 वर्ष पूर्व श्रावण कृष्णा एकम् के दिन द्वादशांग श्रुत के रूप में निबद्ध किया था। वर्तमान में वह सम्पूर्ण श्रुत उपलब्ध नहीं है किन्तु उनका अंश विभिन्न ग्रंथों के माध्यम से प्राप्त हो रहा है।

उस प्राप्त श्रुत के अनेक ग्रंथों में श्री गौतम गणधर स्वामी के मुख से विनिर्गत वाणी को संग्रहीत करके पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने दश अध्यायों में लघु एवं वृहत् टीका के रूप में प्रदान किया है। उसी में से यहाँ अति संक्षिप्तरूप में श्रावकधर्म एवं मुनिधर्म को प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसे गौतम स्वामी ने "सुदं मे आउस्संतो" अर्थात् "हे आयुष्मन्तों! मैंने साक्षात् वीर प्रभु की दिव्यध्वनि में सुना है" के माध्यम से प्रिय शब्दों में श्रावक एवं मुनियों को संबोधित किया है।

यहाँ संक्षेप में उनकी वाणी का रसास्वादन प्राप्त करें तथा विस्तृत जानकारी बड़े ग्रंथों से प्राप्त करें—

3.1 सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म)—

पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदि-महावीरेण महा-कस्सवेण सव्वण्ह-णाणेण सव्वलोय-दरसिणा सावयाणं साावियाणं खुड्डयाणं खुड्डियाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि। तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादि-वादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्ता-दाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदारसंतोस-परदारा-गमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकद-परिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।

तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविध-अणत्थ-दण्डादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोग-परिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।

तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामाइयं, विदिए पोसहो-वासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिम-सल्लेहणा-मरणं, तिदियं अब्भोवस्साणं चेदि।

से अभिमद-जीवाजीव-उवलद्ध-पुण्णपाव-आसव-संवर-णिज्जर-बंधमोक्ख-महिकुसले धम्माणु-रायरत्तो पिमाणु-रागरत्तो (पेम्माणुरागरत्तो) अट्ठि-मज्जाणुरायरत्तो मुच्छिदट्ठे गिहिदट्ठे विहिदट्ठे पालिदट्ठे सेविदट्ठे इणमेव णिग्गंथपावयणे अणुत्तरे सेअट्ठे सेवणुट्ठे-

णिस्संकिय-णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछी य अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ट्ठिदिकरणं, वच्छल्ल-पहावणा य ते अट्ठ।।1।।

सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहं गिहत्थधम्म-मणुपाल-इत्ता-

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह, अणुमण-मुद्दिट्ठ देसविरदो य।।1।।
महु-मंस-मज्ज-जूआ, वेसादि-विवज्जणासीलो।
पंचाणुव्वय-जुत्तो, सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।।2।।

जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया साावियाओ वा खुड्डय खुड्डियाओ वा अट्ठदह-भवण-वासिय-वाणविंतर-जोइसिय-सोहम्मीसाण-देवीओ वदिक्क-मित्तउवरिम-अण्णदर-महड्ढियासु देवेसु उव्वज्जंति।

तं जहा—सोहम्मी-साण-सणक्कुमार-माहिंद-बंभबंभुत्तर-लांतवकापिट्ठ-सुक्क-महासुक्क-सतार-सहस्सार-आणत-पाणत-आरण-अच्चुत-कप्पेसु उववज्जंति।

अडयंबर-सत्थधरा, कडयंगद-बद्धनउड-कयसोहा।
भासुर - वर - बोहिधरा, देवा य महड्ढिया होंति।।1।।

उक्कस्सेण दोतिण्णि-भव-गहणाणि जहण्णेण सत्तट्ठभव-गहणाणि तदो सुमणु-सुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था पच्छा णिग्गंथा होऊण सिज्झंति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सव्व-दुक्खाणमंतं करेंति।

अर्थ—हे आयुष्मन्तों! मैंने (गौतम ने) महाकाश्यप गोत्रीय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्रमण भगवान महावीर से श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के लिए पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म सुना है। उसमें ये पांच अणुव्रत हैं—पहले अणुव्रत में स्थूल प्राणातिपात से विरमण—त्याग है, दूसरे अणुव्रत में स्थूल मृषावाद से विरमण—त्याग है, तीसरे अणुव्रत में स्थूल अदत्तादान से विरमण—त्याग है, चौथे अणुव्रत में स्वदार सन्तोष है तथा परदार गमन से विरमण—त्याग है और पांचवें अणुव्रत में स्थूल इच्छाकृत परिमाण करना है, ये पांच अणुव्रत हैं।

उनमें ये तीन गुणव्रत हैं—पहला गुणव्रत दिशा और विदिशा का प्रत्याख्यान—मर्यादारूप नियम है, दूसरे गुणव्रत में विविध अनर्थदंडों से विरमण—त्याग है और तीसरे गुणव्रत में भोग और उपभोग वस्तुओं का परिसंख्यान—संख्या हैं ये तीन गुणव्रत हैं।

उनमें ये चार शिक्षाव्रत हैं—पहले में सामायिक, दूसरे में प्रोषधोपवास, तीसरे में अतिथिसंविभाग और चौथे शिक्षाव्रत में अन्तिम सल्लेखनापूर्वक— मरण और तीसरा अभ्रावकाश का है।

उपर्युक्त बारह व्रतों के धारक—जिसने जीव-अजीव तत्त्व को समझ लिया है तथा जिसने पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा-बंध और मोक्ष इन तत्त्वों को उपलब्ध कर लिया है ऐसे नव पदार्थों के विषय में अभिकुशल–निपुण व्यक्ति में धर्मानुराग से अनुरक्त होकर भी लक्ष्मी के अनुराग में अनुरक्त है। (गृहस्थ होने से परिग्रह का त्यागी नहीं है) एवं अस्थिमज्जा के समान धर्म के अनुराग से अनुरक्त है। (जिस प्रकार सात धातुओं में अस्थि—हड्डी मज्जा नामक धातु से निरन्तर संलग्न रहती है, उसी तरह सहधर्मियों के साथ प्रीति का होना, ऐसी सघन प्रीति को अस्थिमज्जा प्रीति कहते हैं।) ऐसा गृहस्थ मूर्च्छितार्थ—ममतापूर्वक ग्रहण किये गये पदार्थ में, गृहीतार्थ—सामान्यरूप से ग्रहण किये गये पदार्थ में, विहितार्थ—अपने द्वारा किये गये पदार्थ में, पालितार्थ—अपने द्वारा पालन किये गये पदार्थ में, सेवितार्थ—अपने द्वारा सेवित—उपयोग में आने वाले पदार्थ में, निर्ग्रंथ प्रवचन—मुनियों के प्रवचन में, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, श्रेयो—कल्याणकारी पदार्थ में, सेवितार्थ—सेवन प्रवृत्तिरूप क्रिया में (प्रमाद से जो हुआ हो वह मिथ्या होवे) ऐसा अभिप्राय है।

नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं।

ये पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सब मिलकर बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का अनुपालन कर दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त विरमण, रात्रिभक्त विरमण, ब्रह्मचर्य, आरंभ निवृत्ति, परिग्रह विरति, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये देशव्रत के ग्यारह स्थान हैं।

मधु, मांस, मद्य, जुआ, वेश्या आदि व्यसन इनका त्यागी पांच अणुव्रतों से और सात शीलों से परिपूर्ण श्रावक होता है।

जो श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका इन व्रतों को धारण करते हैं वे अठारह स्थानों में, भवनवासी, वाण व्यन्तर, ज्योतिषी और सौधर्म–ईशान स्वर्ग की देवियों का व्यतिक्रम कर उपरिम अन्यतर महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

यही बताते हैं—सौधर्म–ईशान कल्प, सनत्कुमार–महेन्द्र, ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, लान्तव–कापिष्ठ कल्प, शुक्र–महाशुक्र

कल्प, सतार–सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प में उपजते–उत्पन्न होते हैं।

ऐसे देदीप्यमान ज्ञान के धारक महर्द्धिक देव होते हैं। जो उत्कर्षपने से दो, तीन भव ग्रहण करते हैं। जघन्य से सात–आठ भव ग्रहण करते हैं। पश्चात् वे सुमनुष्यत्व से सुदेवत्व और सुदेवत्व से सुमनुष्यत्व को उससे साइहत्थ–साधितार्थ अथवा सद्गृहस्थ होकर पश्चात् निर्ग्रन्थ मुनि होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं और परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, सब दु:खों का अन्त करते हैं।

3.1.1 एकादश प्रतिमा—

इच्छामि भंत्ते! देवसियं आलोचेउं। तत्थ-

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-रायभत्ते य।
बंभारंभ-परिग्गह-अणुमण-मुद्दिट्ठ देसविरदे य।।
पंचुंबर-सहियाइं सत्त वि वसणाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्त-विसुद्धमई सो दंसण-सावओ भणियो।।1।।

पंच य अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावयाइं चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि।।2।।

जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालयाणं णिच्चं पि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु।।3।।

उत्तम-मज्झ-जहण्णं तिविहं पोसह-विहाण-मुद्दिट्ठं।
सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्वं।।4।।

जं वज्जिजदि हरिदं तय-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सच्चित्त-णिव्वत्तिमं ठाणं।।5।।

मण-वयण-काय-कदकारिदाणुमोदेहिं मेहुणं णवधा।
दिवसम्मि जो विवज्जदि गुणम्मि सो सावओ छट्ठो।।6।।

पुव्वुत्त-णवविहाणं णि (वि) मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो।
इत्थिकहादि-णिवित्ती सत्तम-गुणबंभचारी सो।।7।।

जं किं पि गिहारंभं बहु थोवं वा सया विवज्जेदि।
आरंभ-णिवित्तमदी सो अट्ठम-सावओ भणिओ।।8।।

मोत्तूण वत्थमित्तं परिग्गहं जो विवज्जदे सेसं।
तत्थ वि मुच्छं ण करदि वियाण सो सावओ णवमो।।9।।

पुट्ठो वापुट्ठो वा णियगेहिं परेहिं सग्गिह-कज्जे।
अणु-मणाणं जो ण कुणदि वियाण सो सावओ दसमो।।10।।

णवकोडीसु विसुद्धं भिक्खा-यरणेण भुंजदे भुंजं।
जायण-रहियं जोग्गं एयारस सावओ सो दु।।11।।

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ।।12।।

तव–वय–णियमा–वासय–लोचं कारेदि पिच्छ गिण्हेदि।
अणुवेहा– धम्मझाणं करपत्ते एयठाणम्मि।।13।।

इत्थ मे जो कोई देवसिओ अइचारो अणाचारो तस्स भंते! पडिक्कमामि पडिक्कमंत्तस्स मे सम्मत्तमरणं समाहिमरणं पंडियमरणं वीरियमरणं दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

एकादश प्रतिमा के नाम एवं लक्षण

ग्यारह प्रतिमाओं के नाम—(1) दर्शन (2) व्रत (3) सामायिक (4) प्रोषधोपवास (5) सचित्तत्याग (6) रात्रिभुक्ति त्याग अर्थात् दिवा मैथुन त्याग (7) ब्रह्मचर्य (8) आरंभ त्याग (9) परिग्रह त्याग (10) अनुमति त्याग (11) उद्दिष्ट त्याग।

(1) दर्शन प्रतिमा—जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त, शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी, पंचपरमेष्ठी के चरण कमलों की शरण ग्रहण करने वाला और सच्चे मार्ग पर चलने वाला है, वह दर्शन प्रतिमाधारी कहलाता है। वह श्रावक पंच-उदुम्बर और सप्तव्यसनों का तथा रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्यागी होता है।

(2) व्रत प्रतिमा—जो शल्यरहित होकर निरतिचार पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है, वह व्रत प्रतिमाधारी कहलाता है। इस प्रतिमा में सामायिक व्रत में दो समय सामायिक और विधिवत् देव-पूजन करना आवश्यक है।

(3) सामायिक प्रतिमा—जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंचपरमेष्ठी और कृत्रिम–अकृत्रिम जिनालयों की प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल इन तीनों कालों में कम से कम दो घड़ी तक विधिपूर्वक वन्दना करना सामायिक प्रतिमा कहलाती है।

(4) प्रोषधोपवास प्रतिमा—प्रत्येक महीने की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी, ऐसे चारों पर्वों में अपनी शक्ति को न छिपाकर धर्मध्यान में लीन होते हुए प्रोषध को अथवा उपवास को अवश्य करना प्रोषध प्रतिमा का लक्षण है। प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन करना होता है।

उत्कृष्ट प्रोषध प्रतिमा में सप्तमी और नवमी को एक बार शुद्ध भोजन और अष्टमी को उपवास होता है। जघन्य में अष्टमी को एक बार भोजन होता है। मध्यम में कई भेद हो जाते हैं।

(5) सचित्तत्याग प्रतिमा—कच्चे फल-फूल, बीज, पत्ते आदि नहीं खाना, इन्हें छिन्न-भिन्न करके, लवण आदि मिलाकर या गरम आदि करके प्रासुक बनाकर खाना, पानी भी प्रासुक करके पीना सचित्तत्याग प्रतिमा कहलाती है।

(6) रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा—रात्रि में ही स्त्री सेवन करने का व्रत लेना अर्थात् दिन में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा लेना रात्रिभक्तव्रत प्रतिमा है। रात्रि भोजन त्याग के अतिचारों का भी त्याग करना रात्रिभक्त व्रत कहलाता है। ऐसा कथन चारित्रसार ग्रंथ में आया है।

पुनश्च वसुनन्दि श्रावकाचार के अनुसार-जो मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना इन नौ प्रकारों से दिन में मैथुन का त्याग करता है वह प्रतिमारूप गुणस्थान में छठा श्रावक है अर्थात् छठी प्रतिमाधारी है।

अथवा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस छठी प्रतिमा का नाम "रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा" दिया है और इसका अर्थ इस प्रकार किया है कि-

जो दयालु श्रावक रात्रि में अन्न, खाद्य, लेह्य, पेय इन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर लेता है वह रात्रिभुक्ति त्यागी छठी प्रतिमाधारी श्रावक होता है।

यहाँ विशेष रूप से यह जानना है कि यद्यपि पहली प्रतिमा में ही रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग हो जाता है, फिर भी पुत्र-पौत्रादि कुटुम्बीजन अथवा अन्य लोगों के निमित्त से कारित और अनुमोदना संबंधी जो दोष लगता था, उनका भी यहाँ त्याग हो जाता है।

(7) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—जो पूर्वोक्त नौ प्रकार के मैथुन को सर्वथा त्याग करता हुआ स्त्री कथा आदि से भी निवृत हो जाता है वह सातवें प्रतिमारूप गुण का धारी ब्रह्मचारी श्रावक है।

(8) आरंभ त्याग प्रतिमा—हिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापार आदि गृहकार्यसंबंधी सब तरह की क्रियाओं का त्याग करने वाला श्रावक आरंभत्यागी प्रतिमाधारी कहलाता है। इस प्रतिमा में दान, पूजन आदि धर्म कार्य संबंधी आरंभ कार्य कर सकते हैं। घर में रहकर भी धर्म साधन कर सकते हैं, घर छोड़कर भी कर सकते हैं।

(9) परिग्रह त्याग प्रतिमा—जो वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं करता है उसे परिग्रहत्याग नवमीं प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिए।

(10) अनुमति त्याग प्रतिमा—स्वजनों से और परजनों से पूछा गया अथवा नहीं पूछा गया जो श्रावक अपने गृहसम्बन्धी कार्य में अनुमोदना नहीं करता है, उसे अनुमति त्याग दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिए।

(11) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—जो अपने घर को छोड़कर मुनियों के संघ में जाकर गुरु के पास दीक्षा लेकर तपश्चरण करता है और नवकोटि विशुद्ध भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करता है, निमंत्रण से भोजन नहीं करता है, खंड वस्त्र धारण करता है, वह उद्दिष्ट त्यागी प्रतिमाधारी कहलाता है।

इस ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के दो भेद हैं—क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लक एक लंगोटी और खंड वस्त्र (चादर) रखते हैं। सिर और दाढ़ी मूँछ के बालों को कैंची से या उस्तरा से कटा लेते हैं अथवा केशलोंच भी कर लेते हैं। पिच्छी उपकरण से स्थान आदि का प्रतिलेखन करते हैं, एक बार बैठकर थाली आदि में भोजन करते हैं। भिक्षावृत्ति से भोजन करते हैं' अथवा गुरुओं के आहारार्थ निकल जाने पर उनके पीछे-पीछे आहार के लिए चले जाते हैं। ऐलक एक लंगोटी मात्र रखते हैं, नियम से केशलोंच करते हैं और करपात्र में आहार लेते हैं। इतना ही इन दोनों में अंतर है।

उनमें जो कोई दैवसिक-(रात्रिक) अतिचार, अनाचार दोष लगे हैं उन सबका हे भगवन् ! प्रतिक्रमण करता हूँ-उन सब में लगे अतिक्रमणादि दोषों को दूर करता हूँ। इस प्रकार अतिक्रमणादि दोष मैंने दूर किए, उनका शोधन किया। उस मेरे दोष शोधन करने वाले का सम्यक्त्वयुक्तमरण, समाधिमरण, पण्डितमरण, वीर्यमरण होवे। दुःखों का क्षय, कर्मों का क्षय, बोधि-रत्नत्रय का लाभ, सुगति में गमन और जिनेन्द्र के गुणों की सम्पत्ति प्राप्त होवे।

3.2 सुदं मे आउस्संतो ! (मुनिधर्म)—

सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदि-महावीरेण महा-कस्सवेण सव्वण्हुणा सव्वलोगदरिसिणा सदेवासुर-माणुसस्स लोयस्स आगदि-गदि-चवणो-ववादं बंधं मोक्खं इड्ढि ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणो-माणसियं भूतं कयं पडिसेवियं आदिकम्मं अरुह-कम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणंता पस्संता विहरमाणेण समणाणं पंचमहव्वदाणि राइभोयणवेरमण-छट्ठाणि सभावणाणि समाउग-पदाणि सउत्तर-पदाणि सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि।

(28 मूलगुण)

वद-समिदिंदिय-रोधो लोचो आवासय-मचेल-मण्हाणं।
खिदिसयण-मदंतवणं ठिदिभोयण-मेयभत्तं च।।1।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तो हं।।2।।

छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं।

(पच्चीस भावना)

चूलियं तु पवक्खामि भावणा पंचविंसदी।
पंच पंच अणुण्णादा एक्वेक्कम्हि महव्वदे।।1।।
मणगुत्तो वचिगुत्तो इरिया - कायसंयदो।
एसणा - समिदि - संजुत्तो पढमं वदमस्सिदो।।2।।
अकोहणो अलोहो य, भय - हस्स - विवज्जिदो।
अणुवीचि-भास-कुसलो, विदियं वदमस्सिदो।।3।।
अदेहणं भावणं चावि, उग्गहं य परिग्गहे।
संतुट्ठो भत्तपाणेसु, तिदियं वदमस्सिदो।।4।।
इत्थिकहा इत्थिसंसग्ग - हास - खेड - पलोयणे।
णियमम्मि ट्ठिदो णियत्तो य, चउत्थं वदमस्सिदो।।5।।
सचित्ताचित्त - दव्वेसु, बज्झंब्भंतरेसु य।
परिग्गहादो विरदो, पंचमं वदमस्सिदो।।6।।
धिदिमंतो खमाजुत्तो, झाणजोग-परिट्ठिदो।
परीसहाणउरं देंत्तो, उत्तमं वदमस्सिदो।।7।।
जो सारो सव्वसारेसु, सो सारो एस गोयम।।
सारं झाणंति णामेण, सव्वं बुद्धेहिं देसिदं।।8।।

इच्चेदाणि पंचमहव्वयाणि राईभोयणादो वेरमणछट्ठाणि सभावणाणि समाउग्ग-पदाणि सउत्तर-पदाणि सम्मं धम्मं अणुपा-लइत्ता समणा भयवंता णिग्गंथादोओण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणियंति सव्वदुक्खाण-मंतं करेंति परिविज्जाणंति।

सुदं मे आउस्संतो ! (मुनिधर्म) का अर्थ

हे आयुष्मान् भव्यों ! इस भरत क्षेत्र में देव, असुर और मनुष्यों सहित प्राणिगण की आगति, गति, च्यवनोपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, द्युति, अनुभाग, तर्क, कला, मन, मानसिक, भूत, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरुहकर्म इनको तीन सौ तेतालीस रज्जुप्रमाण और लोक में सब जीवों, सब भावों और सब पर्यायों को एक साथ जानते हुए, देखते हुए तथा विहार करते हुए, काश्यप–गोत्रीय श्रमण, भगवान, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महतिमहावीर अन्तिम तीर्थंकर देव ने पच्चीस भावनाओं सहित, मातृका पदों सहित और उत्तर–पदों सहित रात्रि भोजन विरमण है छठा अणुव्रत जिनमें ऐसे पांच महाव्रतरूप समीचीन धर्मों का उपदेश दिया है, वह मैंने उनकी दिव्यध्वनि से सुना है।

(28 मूलगुण)

पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियरोध, लोच, छह आवश्यक, अचेलकत्व (नग्नता), स्नान त्याग, क्षितिशयन, अदन्त धावन, खड़े होकर आहार लेना, दिन में ही एक बार ही आहार लेना। ये अट्ठाईस मूलगुण श्रमणों के जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं, इनमें प्रमाद से लगे हुए दोष मिथ्या हो। छेदोपस्थापना मेरे हो।

पच्चीस भावना का अर्थ

उक्त और अनुक्त अर्थ का चिन्तन करना चूलिका है। उसका अर्थ कहता हूँ। उसमें पच्चीस भावनाएँ हैं, जो कि एक एक महाव्रत में पाँच-पाँच स्वीकार की गई हैं।।1।।

मन से गुप्त, वचन से गुप्त, गमन करते समय काय से प्राणियों की पीड़ा के परिहार में तत्पर तथा एषणा समिति से संयुक्त होता हूँ। अन्यत्र भावना कही गई हैं, यहाँ उन भावनाओं से सहित व्यक्ति कहा गया है, जो कि अभिन्न होने से भावना ही है, क्योंकि भावनाओं से युक्त व्यक्ति के ही अहिंसा व्रत निर्मल होता है।।2।।

क्रोध से रहित, लोभ से रहित, भय से वर्जित, हास्य से वर्जित और आगमानुकूल बोलने में कुशल होऊँ। ये पांच सत्य महाव्रत की भावनाएँ हैं। इनसे युक्त के सत्यमहाव्रत निर्मल होता है।।3।।

तृतीय अचौर्य व्रत के आश्रित मैं पांच भावनाओं में तत्पर होता हूँ। वे भावनाएं ये हैं अदेहन अर्थात् कर्मवश जो मैंने देह का उपार्जन किया है, वह ही मेरे धन है, अन्य परिग्रह नहीं है। ऐसी भावना भाता हूँ। यहां पृषोदरादि इत्यादि वाक्य से ध का लोप होकर अदेहधन के स्थान में अदेहन बन गया है। देह में ही अशुचित्व, अनित्यत्व आदि भावना है उसको भी भाता हूँ। परिग्रह में अवग्रह अर्थात् निवृत्ति की भावना भाता हूँ। भक्त, पान आदि चतुर्विध आहार में सन्तुष्ट अर्थात् गृद्धि-रहित होता हूँ। इन भावनाओं को भाने वाले के तीसरा महाव्रत निर्मल होता है।।4।।

मैथुन से विरति लक्षण चतुर्थ ब्रह्मव्रत को मैं आश्रित हुआ हूँ मैं स्त्री कथा, स्त्री संसर्ग, स्त्रियों के साथ हास्य विनोद, स्त्रियों के साथ क्रीड़न और उनके मुखादि अंगों का रागभाव से अवलोकन इन सब ब्रह्मचर्य के विघातकों में चूँकि नियम से स्थित हूँ इसलिए निवृत्त होता हूँ। इन भावनाओं से चतुर्थ व्रत निर्मल होता है।।5।।

परिग्रह से विरति लक्षण पंचम व्रताश्रित मैं दासी, दास आदि सचित्त द्रव्य में और धन-धान्य आदि अचित्त द्रव्य में तथा वस्त्र, आभरण आदि बाह्य द्रव्य में और ज्ञानावरणादि आभ्यन्तर द्रव्य में तथा गृह क्षेत्र आदि अन्य सब परिग्रह से विरत होता हूँ। इस प्रकार की पाँच भावनाओं को भाने वाले के परिग्रह विरति व्रत निर्मल ठहरता है। (ये पाँचों व्रत प्रतिज्ञारूप हैं, क्योंकि अभिसन्धि-पूर्वक किया हुआ नियम व्रत होता है ऐसा कहा गया है)।।6।।

उत्तम व्रत (प्रतिज्ञा) आश्रित वही होता है जो धृतिमान्, सन्तुष्ट इस लोक और परलोक की आकांक्षा से रहित है, उत्तम क्षमा-युक्त है, ध्यानयोग में सब ओर से स्थित है और परीषहों को सहन करता है।।7।।

जगदन्तर्वर्ती सब वस्तुओं में सार व्रत हैं उनमें सार हे गौतम! ध्यान है, क्योंकि 'सारं ध्यानं' इस नाम से सब बुद्धों (सर्वज्ञों) ने ध्यान को सार कहा है।।8।।

इस प्रकार पच्चीस भावनाओं सहित, अष्ट प्रवचनमातृकाओं सहित और उत्तर पदों सहित पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन विरति—छठा अणुव्रत ये महान हैं। जो सम्यक्धर्म हैं उनका अनुपालन कर श्रमण निर्ग्रंथत्वपने से सिद्ध स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त होते हैं, हेयोपादेय विवेक से सम्पन्न बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, संसार से पार होते हैं, सब दुःखों का अंत करते हैं और परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।

3.3 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-श्रावक के कितने व्रत होते हैं ?

(क) 4 ☐
(ख) 6 ☐
(ग) 12 ☐

प्रश्न 2-तीन गुणव्रतों में से अन्तिम गुणव्रत–

(क) दिशा और विदिशा का प्रमाण ☐
(ख) अनर्थदण्ड से विरति ☐
(ग) भोग–उपभोग की वस्तुओं का परिसंख्यान ☐

प्रश्न 3-सम्यक्त्व के कितने अंग हैं ?

(क) आठ ☐
(ख) चार ☐
(ग) बारह ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-श्रावक के बारह व्रतों को धारण करने वाले भव्यात्मा जीव कहाँ–कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

प्रश्न 2-श्रावक के व्रतों का उत्कृष्टतया पालन करने वाले कम से कम और अधिक से अधिक कितने भव ग्रहण करके निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं ?

प्रश्न 3-ग्यारह प्रतिमाधारी के दो भेद कौन–कौन से हैं, परिभाषा सहित बताइए !

प्रश्न 4-मुनियों के 28 मूलगुण कौन–कौन से हैं, नाम बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम एवं लक्षण बताइए ?

पाठ 4 – जिनवाणी का उद्‌गम और विकास

4.1 सम्पूर्ण जिनागम द्वादशांगरूप है इसे शब्दब्रह्म भी कहते हैं। भगवान् महावीर स्वामी की प्रथम देशना विपुलाचल पर्वत पर श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन हुई थी उस समय सप्तऋद्धि से समन्वित गौतम गणधर को पूर्वाण्ह में समस्त अंगों के अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े। उसी दिन अपराण्ह में अनुक्रम से उन्हें पूर्वों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया। पुनः मनःपर्यय ज्ञानधारी श्री गणधर देव ने उसी दिन रात्रि के पूर्ण भाग में अंगों की और पिछले भाग में पूर्वों की ग्रंथ रचना की।"

इस ग्यारह अंग चौदह पूर्व रूप श्रुतसमुद्र में कोई विषय अपूर्ण नहीं है। अष्टांग निमित्त, अष्टांग आयुर्वेद, मंत्र, तंत्र आदि सभी विषय इसमें आ जाते हैं। आज द्वादशांगरूप से श्रुतज्ञान उपलब्ध नहीं है। हाँ, अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के चयनलब्धि नामक चतुर्थ अधिकार का ज्ञान श्री धरसेनाचार्य को था जिनके प्रसाद से वह षट्‌खण्डागमरूप ग्रंथ में निबद्ध हुआ है।

इस द्वादशांगरूप शास्त्र को आचार्यों ने चार अनुयोगों में विभक्त किया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। ये चारों ही अनुयोग भव्य जीवों को रत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारण हैं। इन अनुयोगरूप द्रव्यश्रुत से उत्पन्न हुआ भावश्रुत परम्परा से केवलज्ञान का कारण है। कहा भी है—

विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुअवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।।

विनयपूर्वक पढ़ा हुआ शास्त्र यदि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी जन्मांतर में पूरा का पूरा उपस्थित हो जाता है और अंत में केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है।

यह समस्त श्रुतज्ञान की महिमा है न कि एक किसी अनुयोग की। श्री कुंदकुंद देव कहते हैं—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणबाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।17।।

जिनेन्द्रदेव के वचन औषधिरूप हैं, ये विषयसुखों का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतस्वरूप हैं, इसीलिये ये जन्म-मरणरूप व्याधि का नाश करने वाले हैं और सर्वदुःखों का क्षय करने वाले हैं।

श्रुतज्ञान महान् वृक्ष सदृश है-

अनादिकाल की अविद्या के संस्कार से प्रत्येक मनुष्य का मन मर्कट के समान अतीव चंचल है, उसको रमाने के लिये श्री गुणभद्रसूरि इस श्रुतज्ञान को महान् वृक्ष की उपमा देते हुये कहते हैं—

अनेकांतात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते ।
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं।
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।।170।।

जो श्रुतस्कंधरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनोंरूप पत्ते से व्याप्त है, विस्तृत नयों रूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है उस श्रुतस्कन्ध वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधु अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमण करावे।

जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त कर सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त कर ली है उन्हें अरहंत परमात्मा अथवा कर्मविजेता 'जिन' कहते हैं। अनादिकाल से प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के कल्पकाल में ऐसे असंख्य जिन होते हैं जो अपनी आयु के अंत में शेष अघातिया कर्मों का भी नाश कर मोक्ष में चले जाते हैं, उन्हें 'सिद्ध'

कहते हैं। अनंत और अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को छोड़ फिर ये सिद्ध परमात्मा कभी संसार में आकर जन्म-मरण के चक्र में नहीं फंसते।

यद्यपि मोक्ष जाने के पूर्व प्रत्येक कल्पकाल में असंख्य जिन होते हैं तथापि उनमें से प्रत्येक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल में जो 24-24 तीर्थंकर होते हैं उनके द्वारा ही 'जिन' अवस्था में समवसरण सभा में दिव्यध्वनि के माध्यम से दिव्योपदेश होता है। यह दिव्यध्वनि सर्वज्ञवाणी होने से निर्दोष, सर्वप्राणी हितैषी और मंगलमय होती है अत: प्रमाणभूत होती है।

जिनमुख से उत्पन्न होने से इसको जिनवाणी कहते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के प्रारंभ में भगवान ऋषभदेव आद्य तीर्थंकर हुए, उनके द्वारा संसार को आत्मकल्याणकारी वास्तविक धर्म का स्वरूप समझाया गया। धर्म का आल्हादकारक, सुखप्रदायक प्रकाश सर्वत्र फैला। असंख्य प्राणियों का अज्ञान और मिथ्यात्वांधकार तिरोहित हुआ। इस जिनवाणी के उद्गम की परम्परा इस हुण्डावसर्पिणी काल में भगवान ऋषभदेव और उनके अनंतर प्रत्येक तीर्थंकर के समय में तत्कालीन तीर्थंकर के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लेने पर समवसरण सभा में होती रही। असंख्य प्राणियों ने उसे सुना और वे आत्मकल्याण के वीतराग धर्म को अपनाकर परमसुखी परमात्मा बन गये।

अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर की भी जिनवाणी उनके द्वारा 42 वर्ष की अवस्था में सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने पर राजगृही के पास विपुलाचल पर्वत पर इन्द्राज्ञा से कुबेर द्वारा रचित अत्यंत सुंदर, लोकातिशय, महान वैभवशाली समवसरण सभा में हुई। उस अत्यंत भव्य समवसरण सभा में विशाल 12 कक्ष थे जिनमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, पशु-पक्षी एवं चतुर्णिकाय के देव-देवियाँ अपने-अपने लिए नियोजित कक्ष में बैठकर भगवान का धर्मोपदेश सुनते थे। भगवान महावीर की दिव्य एवं लोकोपकारी वाणी को उनके प्रमुख शिष्य मन:पर्ययज्ञानधारी इन्द्रभूति गौतम गणधर ने द्वादशांग के रूप में निबद्ध कर प्राणियों को समझाया, उनको प्रबुद्ध किया। इस द्वादशांगरूप जिनवाणी में ऐसा कोई विषय शेष नहीं रहा जिस पर विशद प्रकाश नहीं डाला गया हो। विपुलाचल पर्वत पर कई दिनों तक भगवान महावीर की धर्मदेशना चली। उसके अनन्तर लगातार 30 वर्षों तक (निर्वाण गमन से पूर्व तक) यह धर्मदेशना अनेक पृथक्-पृथक् प्रदेशों और राज्यों में समवसरण के माध्यम से होती रही।

इस धर्मदेशना का प्रभाव जनसाधारण और राजा-महाराजाओं पर खूब पड़ा। राजा-महाराजाओं ने, जो उस समय के प्रचलित हिंसामय धर्मों और मिथ्या मतों में फंस गये थे, उनका परित्याग कर दिया और वे प्राय: सभी भगवान महावीर के धर्मदेशना के झंडे के नीचे आ गये। क्रूर हिंसा से पूर्ण यज्ञ-यागादि की ज्वाला नष्ट हो गई। अहिंसा को धर्मरूप में सबने अपनाया था। अधर्म और पाप के रूप में जो संसार में उस समय भयंकर विषमता फैल गयी थी, धर्म के नाम पर कलह, विसंवाद और संघर्ष होते थे उन सबको दूर करने के लिए भगवान महावीर ने अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और स्याद्वाद के लोक हितैषी और आत्मशांतिकारक सिद्धान्त दिये। आज अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर का ही धर्मशासन चल रहा है और यह धर्मशासन इस अवसर्पिणी के पंचमकाल के अंत तक चलेगा।

अत: यह लोककल्याणकारी अहिंसा, अपरिग्रह और स्याद्वाद का द्वादशांगरूप धर्मशासन जिस धर्मदेशना (जिनवाणी) के आधार पर चल रहा है उसके प्रस्तुतकर्ता अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। जिस दिन यह जिनवाणी भगवान महावीर के मुख से सर्वप्रथम विपुलाचल पर्वत पर खिरी वह मंगलमय दिवस श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का था।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति (गौतमस्वामी), सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए उनके बाद पाँच श्रुतकेवली हुए , जिन्होंने भगवान महावीर की देशना को द्वादशांगरूप में प्रचारित किया। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद काल के अनुसार ज्ञान में क्षीणता आती गई और द्वादशांग श्रुतज्ञान की स्मृति भी कम होती गई। शिष्यपरम्परा से अंगज्ञान क्षीण होते-होते अंत में एक आचार्य लोहाचार्य नाम के हुए जिन्हें एक अंग का ज्ञान शेष

रहा था। यह सर्वकाल भगवान महावीर के अनंतर 683 वर्ष का था।

इसके पश्चात् अंगज्ञान भी क्षीण होता चला गया। अंत में धरसेनाचार्य नामक एक आचार्य हुए जिन्हें मात्र अग्रायणीय पूर्व का ज्ञान था और वे अष्टांग महानिमित्त के महान ज्ञाता थे तब उन्हें इस जिनवाणी के शेष अंशमात्र श्रुतज्ञान के भी लुप्त हो जाने की चिंता हुई अतः उन्होंने संसार के जीवों के कल्याण हेतु उस अंशमात्र श्रुतज्ञान की रक्षा के लिए अपना ज्ञान उस समय के विशिष्ट महाज्ञानी तपस्वी महामुनि पुष्पदंत और भूतबली को दिया। इन दोनों विद्वान, महातपस्वी साधुओं ने गुरु परम्परा से प्राप्त जिनवाणी को षट्खंडागम नामक ग्रंथ में लिपिबद्ध कर लुप्त होने वाली जिनवाणी के अंश का विकास करने का प्रथम श्रेय प्राप्त किया।

जिस दिन यह षट्खंडागम नामक ग्रंथ लिपिबद्ध होकर पूर्ण हुआ वह दिन ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी का था। उस दिन अंकलेश्वर (सौराष्ट्र) में चतुःसंघ ने उस ग्रंथ को महान भक्तिपूर्वक वेष्टन में बांधकर बड़ी भारी श्रद्धा और प्रभावना के साथ उसकी अष्टद्रव्य से पूजा की अतः यह मंगलमय दिवस श्रुतपंचमी के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

उसके अनंतर श्री वीरसेनाचार्य ने षट्खंडागम के पांच खण्डों की 72 हजार श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका की, जो धवला टीका के नाम से प्रख्यात है। वे छठे खण्ड की 20 हजार श्लोक प्रमाण महाधवला टीका करके समाधिस्थ हो गये। उनके बाद उनके महान विद्वान शिष्य महापुराण ग्रंथ के रचयिता आचार्य जिनसेन ने छठे खंड की अपूर्ण टीका को 40 हजार श्लोक प्रमाण रचकर महाधवला टीका पूर्णकर अपने गुरु के कार्य को पूर्ण किया। इस प्रकार 1 लाख 32 हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रंथ अन्य किसी धर्म का आज उपलब्ध नहीं है।

इसके पश्चात् तो अनेक महान दिगम्बर जैनाचार्य हुए जिन्होंने गुरु परम्परा से प्राप्त जिनवाणी के अनुसार चतुरनुयोग संबंधी अनेक महान ग्रंथों की संस्कृत-प्राकृत भाषा में रचनाएँ कीं और उनकी टीकाएँ कर संसार पर महान उपकार किया है। उनमें गुणधराचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, यतिवृषभाचार्य, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, गुणभद्र, विद्यानंदि, अमृतचंद्राचार्य, सोमदेव, जयसिंहनंदि, नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती आदि अनेकानेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने अपने सम्यक्ज्ञानरूप दिव्य प्रकाश से संसार को साहित्य रचनाएँ प्रदान करके आलोकित किया है।

भगवान महावीर के पश्चात् एक ऐसे महान विद्वान तपस्वी आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी हुए हैं जिन्होंने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, रयणसार, पंचास्तिकाय, मूलाचार और अष्टपाहुड़ आदि अनेक प्राभृत ग्रंथों की अध्यात्मप्रधान शैली में रचनाएँ की हैं। बारस अणुवेक्खा और प्राकृत दशभक्तियाँ भी आपकी अमूल्य रचनाएँ हैं। तमिलभाषा में एक कुरलकाव्य भी है जो आपकी रचना माना जाता है जो कि तमिल साहित्य का अनुपम रत्न है।

तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता श्री उमास्वामी आचार्य महान विद्वान आचार्य हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत भाषा में सूत्ररूप ग्रंथों की रचना का सूत्रपात किया। तत्त्वार्थसूत्र नामक अनुपम ग्रंथ के माध्यम से आपने मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए 10 अध्यायों में सप्त तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया है। आपके इस ग्रंथ पर अनेक विद्वान आचार्यों ने विद्वत्ता पूर्ण बड़ी-बड़ी संस्कृत टीकाएँ रची हैं।

इसी प्रकार जिनवाणी के विकास में जिन्होंने बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया है, उनमें से एक आचार्य समंतभद्र भी हैं। ये असाधारण विद्वत्ता के धनी थे। महान प्रतिवादी, प्रतिभासम्पन्न और बड़े तपस्वी साधुरत्न थे। वृहत्स्वयंभू स्तोत्र, देवागम स्तोत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, युक्त्यनुशासन, जिनशतक, गंधहस्ति महाभाष्य, तत्त्वानुशासन जैसे महान ग्रंथों की रचना कर संसार का महान उपकार किया है। गंधहस्ति महाभाष्य तो तत्त्वार्थसूत्र की टीका है जो दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं है। शेष सभी ग्रंथ संस्कृत श्लोकमय रचनाएँ हैं। तत्त्वानुशासन ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं है।

प्रतिभाशाली महान आचार्यों की इस शृखंला में पूज्यपाद आचार्य का नाम भी जैन जगत में अत्यंत गौरव के साथ लिया जाता है, उन्होंने अपनी अमूल्य कृतियों से जिनवाणी के रहस्य को खोलकर संसार के समक्ष उपस्थित किया है। समन्तभद्राचार्य ने जैनेन्द्र व्याकरण, समाधिशतक, इष्टोपदेश आदि स्वतंत्र रचनाएँ निर्मित की हैं। इसके अलावा संस्कृत दश भक्तियों की रचना भी आपने की है। तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रंथ जैन जगत में अनुपम टीका ग्रंथ

है, जो वर्तमान के उपलब्ध ग्रंथों में तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वप्रथम टीका ग्रंथ है। 'जिनाभिषेक' ग्रंथ भी आपका माना जाता है।

आचार्य विद्यानंदि भी महान प्रतिभाशाली आचार्य हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर श्लोकवार्तिकालंकार नाम विशद टीका ग्रंथ दार्शनिक शैली में रचा है। इसी प्रकार अष्टसहस्री नामक टीका ग्रंथ समन्तभद्राचार्य के देवागम स्तोत्र पर रचा गया है। स्वोपज्ञ टीका सहित आप्तपरीक्षा आपकी स्वतंत्र रचना है। इसके अतिरिक्त भी आपने विद्यानंद महोदय, सत्यशासन परीक्षा आदि कई ग्रंथों का प्रणयन किया है।

दार्शनिक शैली के ग्रंथकार जैन आचार्यों की शृंखला में पात्रकेसरी आचार्य का नाम भी प्रसिद्ध है। वे उच्चकोटि के विद्वान आचार्य थे उन्होंने पात्रकेसरी स्तोत्र, त्रिलक्षणकदर्शन आदि ग्रंथों की रचनाकर जिनधर्म के उद्योत में अपना अपूर्व योगदान दिया है।

आचार्य अकलंकदेव भी अद्वितीय प्रतिभा के धनी महान आचार्य हुए हैं। उनकी विद्वत्ता भी नामानुसार अकलंक ही थी। इनके समय में बौद्धदर्शन का बहुत जोर था अत: अन्य दर्शनों की अपेक्षा बौद्धदर्शन की विशेष समीक्षा आपके ग्रंथों मे पायी जाती है। दार्शनिकप्रधान आपकी रचनाएँ स्वतंत्र और टीका ग्रंथों के रूप में जैन साहित्य की अनुपम निधियाँ हैं। तत्त्वार्थवार्तिक तत्त्वार्थसूत्र की टीका है। अष्टशती देवागम स्तोत्र की टीका है। इसके अतिरिक्त अकलंकस्तोत्र, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह आदि स्वतन्त्र रचनारूप में प्रमुख ग्रंथ हैं।

जिनसेनाचार्य की प्रतिभा और विद्वत्ता तो अवर्णनीय थी। उनका बनाया हुआ प्रथमानुयोग का महान पुराण ग्रंथ 'महापुराण' काव्यग्रंथों में जैन साहित्य की ही नहीं, संसार की समस्त साहित्य कृतियों में एक महान रचना है। लगभग 40 हजार श्लोक प्रमाण आपकी जयधवला टीका है। इसके अतिरिक्त पार्श्वाभ्युदय काव्य भी काव्य संसार में एक श्रेष्ठ कृति है।

जिनसेनाचार्य के ही विद्वान शिष्य गुणभद्राचार्य ने उत्तर पुराण रचकर भगवान ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती को छोड़ समस्त शलाका पुरुषों का जीवन चरित्र आठ हजार श्लोकों में निबद्ध किया है। इसके अतिरिक्त आत्मानुशासन भी आपकी अनुपम रचना है। जिनदत्त चरित्र भी आपकी ही रचना माना जाता है।

श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के द्वारा रचित करणानुयोग प्रधान ग्रंथ हैं, जो करणानुयोग के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। षट्खंडागम के आधार पर गोम्मटसार (जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड), लब्धिसार-क्षपणासार का प्रणयन किया तथा त्रिलोक का वर्णन करने वाला त्रिलोकसार ग्रंथ भी आपने ही निर्मित किया है। आपकी इन रचनाओं से जैन जगत का महान उपकार हुआ है।

अमृतचंद्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित समयसारादि ग्रंथों के विशेष टीकाकार आचार्य हुए हैं। समयसार, प्रवचनसार व पंचास्तिकाय ग्रंथों पर आत्मख्याति आदि टीकाओं का प्रणयन आपने किया। आपने स्वतंत्र रूप से तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ का निर्माण भी किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के ही उक्त तीन ग्रंथ, श्री सोमदेवसूरि के यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृत तथा वादीभसूरि का छत्रचूड़ामणि एवं गद्य चिन्तामणि काव्यग्रंथ भी जैन जगत की अनुपम निधियाँ हैं। इसी प्रकार देवसेनाचार्य, माणिक्यनंदि, शुभचंद्राचार्य आदि अनेक उद्भट विद्वान् तपस्वी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने चारों अनुयोगों पर महान विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ कर जिनवाणी के रहस्य को खोलने में और संसार में उसका दिव्य प्रकाश फैलाने में बड़ा भारी श्रम किया है।

सचमुच में यदि इन उपकारकबुद्धि आचार्यों ने संसार के कल्याणार्थ अपने तपस्वी जीवन का बहुमूल्य समय जिनवाणी के रहस्योद्घाटन में न दिया होता तो संसार धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने में अज्ञात रहता। दिगम्बर जैन जगत के सभी महान आचार्य जिनवाणी के सच्चे सपूत कहे जा सकते हैं, जिन्होंने जिनवाणी की जन्म भर सेवा की और जिनवाणी को विकास में लाकर समीचीन धर्म का प्रकाश संसार को दिया। धन्य हैं वे आचार्य और धन्य हैं उनकी बहुमूल्य साहित्यिक कृतियाँ, जिन पर भगवान महावीर का अनुयायी जैन समाज गौरवान्वित है।

दिगम्बर जैनाचार्यों ने जैसे रत्नत्रय धर्म के विभिन्न अंगों पर अपनी रचनाएँ कीं वैसे ही आयुर्वेद, छन्द, अलंकार,

है कि प्रतिदिन प्रथमानुयोग ग्रंथ अवश्य पढ़ने चाहिए। इससे चारित्र की प्रेरणा मिलती है तथा अपने में अन्यों को चारित्र में स्थिर करने की युक्ति सूझती है।

'एक बार राजा श्रेणिक ने समवसरण में एक मुनि के बारे में प्रश्न किया, उत्तर में श्री गौतमस्वामी ने कहा— राजन्! तुम शीघ्र ही वहाँ जावो, उन मुनि के ध्यान में इस समय रौद्र भावना चल रही है यदि अंतर्मुहूर्त काल यही स्थिति रही तो उनके नरकायु का बंध हो जायेगा अतः तुम जाकर उन्हें संबोधन करो। राजा श्रेणिक ने जाकर उन्हें संबोधित किया उसी समय वे मुनि रौद्रध्यान से हटकर धर्मध्यान में आये और तत्क्षण ही शुक्लध्यान में आरुढ़ हो गये, अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया।"

सुकुमाल, गजकुमार आदि मुनियों ने उपसर्ग के समय भी धैर्य से अपने परिणामों को संभाला और सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये। सल्लेखना के समय क्षपक मुनि को निर्यापकाचार्य ऐसे-ऐसे उदाहरण सुनाकर धर्मभावना में स्थिर करते हैं। अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का उपसर्ग दूर करने के लिये श्री विष्णुकुमार महामुनि ने अपना वेष छोड़ दिया और अपनी विक्रिया ऋद्धि के बल से उन मुनियों की रक्षा की। यह घटना भी धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य का एक ज्वलंत उदाहरण ही है।

तीर्थंकर होने वाले महापुरुष भी कितने भव तक पुरुषार्थ करते हैं-

सम्यग्दर्शन होते ही मोक्षप्राप्ति सुलभ नहीं है। तीर्थंकरादि महापुरुषों ने भी कई भव तक दीक्षा ले-लेकर घोर तपश्चरण किया है जब कहीं सिद्धि मिली है। यह बात प्रथमानुयोग से ही तो जानी जाती है। देखिये—

भगवान वृषभदेव के जीव ने महाबल विद्याधर की पर्याय में स्वयंबुद्ध मंत्री के सम्बोधन से आठ दिन आष्टान्हिक पूजा करके २२ दिन की सल्लेखना ग्रहण की, पुनः ललितांग देव हुआ था। वहाँ से आकर वज्रजंघ राजा होकर श्रीमती रानी के साथ चारण मुनियों को आहार देकर जो पुण्य संचित किया उसके फलस्वरूप भोगभूमि में उत्पन्न हुये, तब तक उन्हें सम्यक्त्व नहीं था। भोगभूमि में मुनियों के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त किया पुनः श्रीधर देव हुये, अनंतर सुविधि राजा होकर पुत्र (श्रीमती के जीव केशव) के मोह में पड़कर दीक्षा न ले सकने के कारण श्रावक के उत्कृष्ट व्रत (क्षुल्लक) तक धारण करके अंत में दीक्षा लेकर सल्लेखना से मरण कर अच्युतेन्द्र हुये। पुनः वज्रनाभि चक्रवर्ती होकर छह खंड का राज्य भोगकर उसका त्याग करके दीक्षित हो गये। उनके पिता वज्रसेन तीर्थंकर थे उनके समवसरण में दीक्षा लेकर 'सम्पूर्ण द्वादशांगरूप'[१] श्रुत का अध्ययन करके सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति बांध ली व जिनकल्पी मुनि होकर विचरण करने लगे। एक समय ध्यान में आरुढ़ थे उस समय उपशम श्रेणी पर चढ़ गये और ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर यथाख्यात चारित्र के धारक पूर्ण वीतरागी हो गये। पुनः वहाँ से उतरकर वापस सातवें-छठे गुणस्थान में आ गये।

'पुनरपि द्वितीय बार उपशम श्रेणी में आरोहण करके पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान को पूर्णकर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुये। उसी समय उनकी आयु पूर्ण हो गई और उस ग्यारहवें गुणस्थान में मरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये।' वहाँ से चयकर भगवान वृषभदेव हुये हैं।

इस प्रकार से भगवान के इन दश भवों को पढ़ने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि जब तीर्थंकर होने वाले महापुरुषों को इतनी तैयारी करनी पड़ती है। अहो! पूर्वभव में दो बार उपशम श्रेणी में आरोहण करने की उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त कर लेना पुनः अविरति हो जाना कितनी विचित्रता है। फिर तीर्थंकर के भव में भी हजार वर्ष तक तपश्चरण करना पड़ा तब कहीं जाकर घातिया कर्मों के नाश हेतु क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर पाये और उत्कृष्ट आत्मध्यान के ध्याता हो पाये।

'महाबल विद्याधर के चार मंत्रियों में तीन मंत्री मिथ्यादृष्टि थे उनमें से संभिन्नमति और महामति तो मिथ्यात्व के पाप से निगोद में चले गये और शतमति नरक में चला गया। उस नरक में जाने वाले मंत्री के जीव को तो श्रीधर देव ने धर्म का उपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा दिया किन्तु निगोद में कैसे सम्बोधन दिया जा सकता है ?'[१]

इस उदाहरण को पढ़कर मिथ्यात्व से कितना भय उत्पन्न होता है, अहो! यदि मैं किंचित् भी जिनवाणी के प्रति अश्रद्धा करके मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाऊँगा तो पुनः यदि निगोद में चला गया तो क्या होगा ? मुझे कौन उपदेश देगा ? इसलिये शास्त्र के वाक्यों पर अश्रद्धा करके अपने सम्यक्त्व को नहीं गंवाना चाहिये।

जिनप्रतिमा के अपमान से अंजना ने बाईस वर्ष तक पति वियोग का दुःख सहन किया। किंचित् मुनिनिंदा के पाप से वेदवती ने जो निकाचित बंध किया उसके फलस्वरूप सीता की पर्याय में लोकापवाद को प्राप्त होकर देश निष्कासन का दुःख सहन किया। लक्ष्मीमती आदि अनेकों महिलाओं ने मुनियों का अपमान करके कुष्ट रोग से पीड़ित होकर तिर्यंच योनियों के और नरकों के घोर दुःख सहे हैं। पुनः मुनियों के उपदेश से रोहिणी व्रत, सुगंधदशमी व्रत आदि के अनुष्ठान से उत्तम गति पाई है। मैनासुंदरी ने पति के कुष्ट रोग को दूर करने के लिए मुनि के उपदेश से सिद्धचक्र विधान का अनुष्ठान किया था। मैनासुंदरी भी सम्यग्दृष्टि थी और वैसा संकट दूर करने का उपाय बतलाने वाले मुनि भी सम्यग्दृष्टि भावश्रमण ही थे।

राजा सुभौम ने जीवन के लोभ से महामंत्र का अपमान कर सप्तम नरक को प्राप्त कर लिया। जीवंधर के द्वारा दिये गये महामंत्र को सुनकर कुत्ते ने प्राण छोड़े तो यक्षेन्द्र हो गया और जीवन भर जीवंधर स्वामी के प्रति कृतज्ञ होकर उपकार करता रहा। रात्रि भोजन त्याग करने मात्र से सियार ने तिर्यंच योनि छोड़कर मनुष्य पर्याय पाकर प्रीतिंकर कुमार होकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार से पुण्य और पाप के फलस्वरूप नाना उदाहरणों को देखकर सहज ही पाप से भय उत्पन्न होता है तथा धर्म में श्रद्धा, अनुराग और गाढ़ भक्ति जाग्रत हो जाती है।

अतः श्रावकों को ही नहीं, मुनि आर्यिकाओं को भी प्रतिदिन प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करना चाहिए।

1.3 प्रथमानुयोगविषयक साहित्य अनेक भाषाओं में लिखा गया है—

1.3.1 प्राकृत भाषा में निबद्ध साहित्य—

1. पउमचरिउ विमलसूरि कृत—उक्त ग्रंथ में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के जीवन चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। श्रीरामचन्द्र की धर्म न्यायनीति एवं सत्य पर पूर्ण निष्ठा का उत्तम आदर्श विश्व के लिए प्रेरक एवं मार्गदर्शक है। धर्म में प्रवृत्ति बढ़ाने वाला है।

2. नेमिचन्द्र सूरिकृत–'महावीर चरिउ'—इस ग्रंथ में भगवान् महावीर के पूर्व भवों का वर्णन करते हुए बताया है कि जिनशासन की विराधना से मारीचि के जीव को अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ा था अतः धर्म की विराधना नहीं करने का सन्देश प्राप्त होता है।

3. सोमप्रभ सूरिकृत–'सुमतिनाह चरियं'—इसमें भगवान् सुमतिनाथ के जीवनचरित का वर्णन किया गया है।

4. वर्धमानसूरिकृत–'आदिनाह चरियं'—इस ग्रंथ में तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवनचरित का वर्णन कर विश्व समाज को मार्गदर्शन दिया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ को समझाया है।

5. अनन्त हंसकृत कुम्मापुत चरियं—इस ग्रंथ में दान, शील, तप और भाव शुद्धि की महत्ता का वर्णन किया है।

1.3.2 अपभ्रंश साहित्य में—सिरहर कृत "वड्ढमाण चरिउ" ग्रंथ में भगवान् महावीर के जीवनचरित पर प्रकाश डाला गया है तथा वर्तमान समय के प्राणियों को सन्मार्ग का उपदेश दिया गया है।

1.3.3 प्रथमानुयोग साहित्य में संस्कृत भाषा में निबद्ध चरितकाव्य निम्न प्रकार हैं:—

1. रविषेणकृत पद्मचरित, 2. जटासिंहनन्दिकृत वरांगचरित, 3. गुणभद्रकृत जिनदत्तचरित, 4. वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित, 5. महासेनकृत प्रद्युम्नचरित, 6. असगकविकृत वर्धमानचरित, 7. वादिराजकृत पार्श्वनाथ चरित, यशोधरचरित, 8. मल्लिषेणकृत नागकुमार चरित, 9. हेमचन्द्रकृत त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित, कुमारपाल चरित। 10. नेमिचन्द्रकृत-धर्मनाथ चरित, 11. गुणभद्रमुनिकृत-धन्यकुमार चरित, 12. देवप्रभसूरिकृत पाण्डव चरित, 13. जिनपालकृत सनत्कुमार चरित, 14. माणिक्यचन्दसूरिकृत पार्श्वनाथ चरित, 15. अमरसूरिकृत चतुर्विंशति जिनेन्द्रदत्त चरित 16. वर्धमानसूरि कृत वासुपूज्य चरित, 17. वर्धमान भट्टारककृत वरांगचरित, 18. पद्मनन्दिकृत वर्धमान चरित, 19. भट्टारक सकलकीर्तिकृत वीर वर्धमान चरित, 20. यशोधर देवकृत चन्द्रप्रभ चरित, 21. नेमिचन्द्रकृत अनन्तनाथ चरित, 22. देवचन्द्रकृत शान्तिनाथ चरित, 23. जिनेवरकृत मल्लिनाथ चरित, 24. श्रीचन्द्र कृत मुनिसुव्रत चरित आदि अनेक चरित ग्रंथों में प्रथमानुयोग का वर्णन कथानकों के द्वारा जगत् के जीवों के कल्याणार्थ हुआ है। संस्कृत के चरित ग्रंथों के रचनाकार, संस्कृत भाषा के प्रौढ़ पंडित आचार्य सकलकीर्ति के निम्नलिखित चरित ग्रन्थों से अहिंसा धर्म का महत्त्व प्रतिपादित होता है, सदाचार के परिपालन में दृढ़ता प्राप्त होती है। वे इस प्रकार हैं—1. शान्तिनाथ चरित, 2. वर्द्धमान चरित, 3. मल्लिनाथ चरित, 4. यशोधर चरित, 5. धन्यकुमार चरित, 6. सुकुमाल चरित, 7. जम्बूस्वामी चरित, 8. सुदर्शन चरित, 9. श्रीपाल चरित, 10. वृषभनाथ चरित।

1.3.4 अन्य आचार्यों द्वारा रचित चरित ग्रंथों का उल्लेख इस प्रकार है—

विद्यानंदिकृत सुदर्शन चरित, ज्ञानसागरकृत विमल चरित, रत्नकीर्तिकृत भद्रवाहु चरित, कविराज मल्लकृत जम्बूस्वामी चरित, रत्नचन्द्रमणिकृत प्रद्युम्न चरित, ज्ञानविमलसूरिकृत श्रीपाल चरित, पं. भूरामल शास्त्रीकृत समुद्रदत्त चरित आदि ग्रंथों से उत्तम आचरण एवं पापों से बचने की भावना जाग्रत होती है। चरित ग्रंथों के आधार पर धर्माचरण का उन्नयन होता है तथा जो ग्रंथों का स्वाध्याय करने में समर्थ नहीं होते, उन्हें भी विशेष लाभ नाटक साहित्य से प्राप्त होता है। इसी दृष्टि से जैनधर्म की महत्ता बढ़ाने वाले मैनासुन्दरी नाटक, सोमा सती नाटक, चन्दनबाला नाटक, सीता की अग्नि परीक्षा आदि अनेक नाटक हैं जो धर्म की महिमा बढ़ाने वाले हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच व्रतों की महिमा के अनेकों कथानकों व उदाहरणों को प्राणियों के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया गया है।

पुराण ग्रंथों में प्रतिपादित जैनधर्म के सिद्धान्तों को महिमामण्डित कर यथार्थता का बोध कराने में महनीय योगदान प्राप्त हुआ है। संक्षेप में प्रमुख आचार्यों द्वारा रचित पुराणों का उल्लेख इस प्रकार है—

1. आचार्य रविषेणकृत पदमपुराण—इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का आदर्श चरित एवं राम और सीता की धर्मपरायण मिसाल लोक के लिए प्रेरक है।

2. आचार्य जिनसेनकृत-आदिपुराण—इसमें वर्णित भगवान् आदिनाथ के जीवनचरित के साथ-साथ कर्मयुग के प्रारम्भ में सम्पूर्ण शिक्षाएँ देकर आदिनाथ ने जगत् के जीवों का उद्धार किया है।

3. आचार्य गुणभद्र कृत-उत्तरपुराण—इसमें तीर्थंकरों के जीवनचरित के वर्णन के साथ नारायण आदि का वर्णन कर जीवन को आदर्शमय बनाने का सन्देश दिया है।

4. आचार्य जिनसेन कृत-हरिवंश पुराण—इसमें भगवान् नेमिनाथ के साथ नारायण और बलभद्र पद के धारक श्रीकृष्ण तथा बलराम (बलदेव) के भी कौतुकावह चरित इसमें लिखे गये हैं। पाण्डवों तथा कौरवों का लोकप्रिय चरित इसमें बड़ी सुन्दरता के साथ अंकित है।

5. पाण्डव पुराण—इस ग्रन्थ में पाण्डवों के जीवन आदर्शों का वर्णन किया गया है।

6. आचार्य श्रीभूषणकृत शान्तिनाथ पुराण—इस पुराण ग्रंथ में 16वें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान् के पूर्व भवों का वर्णन किया गया है। तीर्थंकर, कामदेव और चक्रवर्ती उक्त तीन पद के धारी का जीवनदर्शन संसार के लिए एक आदर्श जीवन जीने की शिक्षा देता है। लोककल्याण के साथ-साथ स्वयं मुक्ति को वरण करने का परम पुरुषार्थी बन जाता है।

1.4 कथा साहित्य का जिनशासन की प्रभावना में महनीय योगदान है—

इसमें निम्नलिखित कथाएं उल्लेखनीय हैं—(1) पुण्याश्रव कथाकोष, (2) व्रत कथाकोष, (3) आराधना कथाकोष, (4) रात्रिभोजनत्याग कथा, (5) नागकुमार कथा, (6) पुष्पाञ्जलिव्रत कथा, (7) रविव्रत कथा, (8) भट्टारक विद्याधरकथा, (9) अष्टांगसम्यक्त्व कथा, (10) सप्तव्यसन कथा (11) मौनव्रत कथा, (12) द्वादशी कथा, (13) दशलक्षण कथा, (14) पल्लीविधान कथा, (15) नि:शल्याष्टमी कथा, (16) श्रुतस्कन्ध कथा, (17) मौन एकादशी कथा, (18) जिनकथा, (19) लवणांकुश कथा, (20) अनन्तव्रत कथा, (21) सुगन्धदशमी व्रत कथा,(22) नन्दीश्वर व्रत कथा, (23) षोडशकारण व्रत कथा, (24) रत्नत्रयव्रत कथा, (25) कर्मनिर्जरचतुर्दशीव्रत कथा, (26) मुकुटसप्तमी कथा, (27) षटरस कथा, (28) सप्तपरमस्थान कथा, (29) काञ्जिका व्रत कथा, (30) रक्षा विधान कथा, (31) अक्षयनिधिदशमी व्रत कथा, (32) ज्येष्ठ जिनवर कथा, (33) आकाशपंचमी कथा, (34) रोहिणीव्रत कथा, (35) धनकलश कथा, (36) निर्दोषसप्तमी कथा, (37) लब्धिविधान कथा, (38) पुरन्दर विधान कथा।

1.5. प्रथमानुयोग साहित्य की उपादेयता—

इस प्रकार प्रथमानुयोग जिनवाणी का एक प्रमुख अंग है। कथा के माध्यम से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह अंग प्राथमिक जीवों के लिए अत्यन्त हितकारी है, इसे सुनकर सुनने वाले जीवों को बोधि और समाधि की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति को बोधि कहते हैं। प्राप्त तत्त्वों को अच्छी तरह जानना अथवा धर्म्म और शुक्लध्यान की प्राप्त होना समाधि है। प्रथमानुयोग में दोनों का निधान (भण्डार) है। प्रथमानुयोग बांचने और सुनने वाले जीवों की मानसिक पवित्रता का कारण होने से पुण्य रूप होता है। जम्बूस्वामी चरित, प्रद्युम्नचरित, महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि इसके उदाहरण हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवें अधिकार में उल्लेख किया गया है कि प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति आदि के निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव तुच्छ बुद्धि हों, वे भी उससे धर्म सम्मुख होते हैं क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहचानते हैं, लौकिक कथाओं को जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। प्रथमानुयोग में लौकिक प्रवृत्ति रूप ही निरूपण होने से उसे वे भली-भाँति समझ पाते हैं तथा लोक में राजादि की कथाओं में पाप का पोषण होता है।

1.6 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1-जिसमें तीर्थंकर भगवन्तों, चक्रवर्ती, कामदेव आदि त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का निरूपण किया गया हो वह क्या कहलाता है ?

(क) प्रथमानुयोग ☐
(ख) करणानुयोग ☐
(ग) चरणानुयोग ☐

प्रश्न 2-मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी के जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने वाले पउमचरिउ ग्रंथ की रचना किन आचार्य ने की है ?

(क) जिनसेन ☐
(ख) सोमप्रभ ☐
(ग) विमलसूरि ☐

प्रश्न 3-आचार्य श्री मल्लिषेण कृत काव्य रचना का नाम बताइए ?

(क) यशोधर चरित ☐
(ख) नागकुमार चरित ☐
(ग) प्रद्युम्न चरित ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1-प्रथमानुयोग साहित्य में संस्कृत भाषा में निबद्ध चरित काव्यों में से किन्हीं पांच रचनाओं के नाम उनके रचनाकारों के साथ बताइए ?

प्रश्न 2-आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी के अनुसार प्रथमानुयोग की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 3-आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित किन्हीं सात चरित्र ग्रंथों के नाम बताइए ?

प्रश्न 4-पुराण ग्रंथों का लेखन किन-किन आचार्यों ने किया है, उनके नाम बताते हुए उनकी रचना का भी नामोल्लेख कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-प्रथमानुयोग साहित्य की उपादेयता पर प्रकाश डालिए ?

पाठ 2–सृष्टि का क्रम एवं षट्काल परिवर्तन

2.1 जैन वाङ्मय अनादिनिधन है। युग परिवर्तन की अपेक्षा से यह सादि-सनिधन भी माना जाता है। **'कर्मारातीन् जयतीति जिनः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कर्म शत्रुओं को जीतने वाले हैं वे 'जिन' कहलाते हैं। इन्हें ही जिनदेव, जिनेन्द्र भगवान, जिनराज आदि सहस्त्रों नामों से पुकारा जाता है। इनके द्वारा बताया हुआ मार्ग जिनधर्म, जैनधर्म, आर्हतधर्म आदि नामों से प्रसिद्ध है। इन जिनराज की दिव्यध्वनि को ही आगम, जिनागम, जिनवाणी, सरस्वती, शारदा, जैन वाङ्मय, "जैन भारती" आदि संज्ञाएं व्यवहृत हैं।

जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निकली हुई वाणी द्वादशांग रूप है। पूर्वाचार्यों ने उसे चार अनुयोग रूप से विभाजित किया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इन्हें चार वेद भी कहते हैं। इन चार अनुयोगों में द्वादशांग का सारभूत समस्त जैन वाङ्मय समाया हुआ है।

जिस प्रकार से जैनधर्म अनादिनिधन है उसी प्रकार से यह सम्पूर्ण चराचर विश्व भी अनादिनिधन है। कुछ लोग इस जगत को परमपुरुष परमात्मा के द्वारा बनाया हुआ मानते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने इस सारी सृष्टि को 'स्वयं सिद्ध' माना है। यहाँ सर्वप्रथम जैन सिद्धान्त के अनुसार 'सृष्टि का क्रम' दिखाया जाता है।

यह तीन लोकरूप सम्पूर्ण विश्व शाश्वत है। मध्यलोक के अन्तर्गत सर्वप्रथम जम्बूद्वीप है। इस द्वीप में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में हमेशा ही षट्काल परिवर्तन होता रहता है। इसे 'युग परिवर्तन' भी कहते हैं। इस काल परिवर्तन को अच्छी तरह समझ लेने से ही सृष्टि का क्रम समझ में आ जाता है अतः कुछ लोगों की जो मान्यता है कि ब्रह्मा से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है, विष्णु से उसका पालन होता है एवं महादेव से उसका प्रलय होता है, इस काल परिवर्तन के समझ लेने से इन सब मान्यताओं का निरसन सहज ही हो जाता है।

2.2 सृष्टि का क्रम-

भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल के दो विभाग होते हैं। जिसमें मनुष्यों एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई, वैभव आदि घटते रहते हैं वह अवसर्पिणी एवं जिसमें बढ़ते रहते हैं वह उत्सर्पिणी कहलाता है। अद्धापल्यों से निर्मित दस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी और इतना ही उत्सर्पिणी काल भी है, इन दोनों को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में से प्रत्येक के छह-छह भेद हैं।

2.3 अवसर्पिणी काल के छह भेद-

सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। उत्सर्पिणी काल के भी छह भेद होते हैं जो कि इनसे विपरीत होते हैं—दुःषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, सुषमा-दुःषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा। 'समा' काल के विभाग को कहते हैं तथा 'सु' और 'दुर्' उपसर्ग क्रम से अच्छे-बुरे अर्थ में होने से व्याकरण से निष्पन्न ये 'सुषमा' 'दुःषमा' शब्द अच्छे और बुरे काल के वाचक हो जाते हैं। ये दोनों ही भेद कालचक्र के परिभ्रमण से सतत कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की तरह घूमते रहते हैं। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी, ऐसे क्रम से बदलते रहते हैं।

इनमें से प्रथम सुषमा-सुषमा काल चार कोड़ाकोड़ी सागर, द्वितीय सुषमाकाल तीन कोड़ाकोड़ी सागर, तृतीय काल दो कोड़ाकोड़ी सागर, चतुर्थ काल बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, पंचम काल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण और छठा काल भी इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है।

2.4 षट्काल परिवर्तन-

2.4.1 प्रथम काल—

सुषमा-सुषमा काल में भूमि रज, धूम, अग्नि, हिम, कण्टक आदि से रहित एवं शंख, बिच्छू, चींटी, मक्खी आदि विकलत्रय जीवों से रहित होती है। दिव्य बालू, मधुर गंध से युक्त मिट्टी और पंच वर्ण वाले चार अंगुल ऊँचे तृण होते हैं। वहाँ वृक्ष समूह, कमल आदि से युक्त निर्मल जल से परिपूर्ण वापियाँ, उन्नत पर्वत, उत्तम-उत्तम प्रासाद, इन्द्रनीलमणि आदि से सहित पृथ्वी एवं मणिमय बालू से शोभित उत्तम-उत्तम नदियाँ होती हैं। इस काल में असंज्ञी जीव, जातविरोधी जीव भी नहीं होते हैं। गर्मी, सर्दी, अंधकार और रात-दिन का भेद भी नहीं होता है एवं परस्त्रीरमण, परधनहरण आदि व्यसन भी नहीं होते हैं। इस काल में युगल रूप से उत्पन्न हुए मनुष्य उत्तम तिल, मशा आदि व्यंजन एवं शंख, चक्र आदि चिन्हों से सहित तथा स्वामी और भृत्य के भेदों से रहित होते हैं। इनके शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष अर्थात् तीन कोस तथा आयु तीन पल्य प्रमाण होती है, यहाँ के प्रत्येक स्त्री-पुरुषों के पृष्ठ भाग में दो सौ छप्पन हड्डियाँ होती हैं। इनके शरीर मलमूत्र-पसीने से रहित, सुगंध निश्वांस से सहित, तपे हुए स्वर्ण सदृश वर्ण वाले, समचतुरस्र संस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त होते हैं, प्रत्येक मनुष्य का बल नौ हजार हाथियों सदृश रहता है। इस काल में नर-नारी से अतिरिक्त अन्य परिवार नहीं होता है। इस समय वहाँ पर ग्राम, नगर आदि नहीं होते हैं, दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जो युगलों को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुओं को दिया करते हैं।

कल्पवृक्षों के नाम—पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और ज्योतिरंग ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं। पानांग जाति के कल्पवृक्ष भोगभूमिज मनुष्यों को मधुर, सुस्वादु, छह रसों से युक्त पुष्टिकारक बत्तीस प्रकार के पेय द्रव्य को देते हैं। तूर्यांग कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, पटु, पटह, मृदंग आदि वादित्रों को देते हैं। भूषणांग कल्पवृक्ष कंकण, कटिसूत्र, हार आदि आभूषणों को, वस्त्रांग कल्पवृक्ष चीनपट्ट, क्षौमादि वस्त्रों को, भोजनांग कल्पवृक्ष सोलह प्रकार के आहार, इतने ही प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार की दाल, एक सौ आठ प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ त्रेसठ प्रकार के स्वाद्य पदार्थ एवं त्रेसठ प्रकार के रसों को दिया करते हैं। आलयांग कल्पवृक्ष स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि सोलह प्रकार के दिव्य भवनों को, दीपांग कल्पवृक्ष शाखा, प्रवाल, फल, फूल और अंकुरादि के द्वारा जलते हुए दीपकों के समान प्रकाश को देते हैं, भाजनांग कल्पवृक्ष सुवर्ण आदि से निर्मित झारी, कलश, गागर, चामर और आसन आदि देते हैं, मालांग जाति के कल्पवृक्ष बेल, तरु, गुच्छ और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पों की मालाओं को देते हैं और ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्ष मध्य दिन के करोड़ों सूर्यों की किरणों के समान होते हुए नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र आदि की कान्ति का संहरण करते हैं। ये सब कल्पवृक्ष न वनस्पतिकायिक हैं न कोई व्यन्तर देव हैं किन्तु विशेषता यह है कि ये सब पृथ्वीरूप होते हुए जीवों को उनके पुण्य कर्म का फल देते हैं।

भोगभूमिजों के भोग आदि—ये मनुष्य कल्पवृक्षों से दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से बहुत प्रकार के शरीरों को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं और चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। ये युगल कदलीघात मरण से रहित होते हुए संपूर्ण आयुपर्यन्त चक्रवर्ती के भोगों की अपेक्षा अनन्तगुणे भोग को भोगते हैं। वहाँ के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दर और स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश सुन्दर होती हैं।

भोगभूमि के आभूषण—भोगभूमि में कुण्डल, हार, मेखला, मुकुट, केयूर, भालपट्ट, कटक, प्रालम्ब, सूत्र (ब्रह्मसूत्र), नूपुर, दो मुद्रिकाएँ, अंगद, असि, छुरी, ग्रैवेयक और कर्णपूर ये सोलह आभरण पुरुषों के एवं छुरी और असि से रहित चौदह आभरण स्त्रियों के होते हैं।

भोगभूमि में उत्पत्ति के कारण—भोगभूमि में मनुष्य और तिर्यञ्च जीव उत्पन्न होते हैं, मिथ्यात्व भाव से युक्त होते हुए भी मन्दकषायी, मधु मांसादि के त्यागी, गुणियों के गुणों में अनुरक्त, उपवास से शरीर को कृश करने वाले,

निर्ग्रन्थ साधुओं को आहारदान देने वाले जीव या अनुमोदना आदि करने वाले पशु आदि भी यहाँ उत्पन्न होते हैं। जिनने पूर्व भव में मनुष्य आयु को बाँध लिया है और पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया है ऐसे कितने ही सम्यग्दृष्टि पुरुष भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

कोई अज्ञानी जिनलिंग को ग्रहण करके छोड़ देते हैं, मायाचार में प्रवृत्त होकर कुलिंगियों को अनेक प्रकार के दान देते हैं, वे भी भोगभूमि में तिर्यञ्च होते हैं।

भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्चों की नव मास आयु शेष रहने पर स्त्रियों को गर्भ रहता है और दोनों—युगल के मृत्यु का समय निकट आने पर युगल/बालक-बालिका का जन्म होता है अर्थात् सन्तान के जन्म लेते ही माता-पिता मरण को प्राप्त हो जाते हैं। पुरुष को छींक और स्त्री को जंभाई आते ही वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं और उनके शरीर शरत्कालीन मेघ के सदृश तत्क्षण आमूल विलीन हो जाते हैं।

भोगभूमि के उत्पत्ति स्थान—मृत्यु के बाद भोगभूमिज मनुष्य या तिर्यञ्च यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो भवनत्रिक—भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिष्क देवों में जन्म लेते हैं। यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो सौधर्म युगल में जन्म लेते हैं।

भोगभूमिज युगल की वृद्धि—वहाँ के बालयुगल शय्या पर सोकर अंगूठा चूसते हुए तीन दिन निकाल देते हैं, पश्चात् बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शन की योग्यता, इनमें से क्रमशः प्रत्येक अवस्था में उन बालकों के तीन-तीन दिन व्यतीत होते हैं अर्थात् इक्कीस दिन में ये युगल सात प्रकार की योग्यता को प्राप्त करके पूर्ण यौवन सहित सर्व कलाकुशल हो जाते हैं।

सम्यक्त्व के कारण—वहाँ पर कोई जीव जातिस्मरण से, कोई देवों के सम्बोधन करने से, कोई ऋद्धिधारी मुनि आदि के उपदेश सुनने से सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकते हैं किन्तु इनके श्रावक के व्रत और संयम नहीं हो सकता है।

भोगभूमिज तिर्यञ्च—भोगभूमि में गाय, सिंह, हाथी, मकर, शूकर, हरिण, भैंस, बन्दर, तेन्दुआ, व्याघ्र, शृगाल, रीछ, मुर्गा, तोता, कबूतर, राजहंस आदि तिर्यञ्च युगल भी उत्पन्न होते हैं जो परस्पर के वैरभाव से रहित, क्रूरतारहित, मन्दकषायी होते हैं। वहाँ के व्याघ्र आदि थलचर एवं कबूतर आदि नभचर तिर्यञ्च मांसाहार के बिना दिव्य तृणों का भक्षण करते हैं। चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण इस प्रथम काल में शरीर की ऊँचाई, आयु, बल, ऋद्धि और तेज आदि हीन-हीन होते जाते हैं।

2.4.2 द्वितीय काल—

इस प्रकार से अवगाहना आदि के घटते-घटते 'सुषमा' नामक द्वितीय काल प्रविष्ट होता है। इस काल के आदि में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष-दो कोस, आयु दो पल्य प्रमाण और शरीर का वर्ण चन्द्रमा सदृश धवल होता है। इनके पृष्ठ भाग में एक सौ अट्ठाईस हड्डियाँ होती हैं। अतीव सुन्दर समचतुरस्र संस्थान से युक्त ये भोगभूमिज तीसरे दिन बहेड़ा के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। इस काल में उत्पन्न हुए बालक युगल शय्या पर सोते हुए अपने अंगूठे के चूसने में पाँच दिन व्यतीत करते हैं पश्चात् उपवेशन, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुण प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता, इनमें से प्रत्येक अवस्था में उन बालकों के पाँच-पाँच दिन व्यतीत हो जाते हैं। इतनी मात्र विशेषता को छोड़कर शेष वर्णन जो सुषमा-सुषमा काल में कहे गये हैं, उन्हें यहाँ पर भी समझना चाहिए। तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण इस सुषमा नामक काल में पहले से ही ऊँचाई, बल, ऋद्धि, आयु और तेज आदि उत्तरोत्तर हीन-हीन होते जाते हैं।

2.4.3 तृतीय काल—

तीन कोड़ाकोड़ी सागर काल के व्यतीत होने पर क्रम से सुषमा दुःषमा नामक तृतीय काल प्रवेश करता है, इस काल का प्रमाण दो कोड़ाकोड़ी सागर है। प्रारंभ में मनुष्यों की ऊँचाई दो हजार धनुष-एक कोस, आयु एक पल्य प्रमाण

और वर्ण प्रियंगुफल के समान होता है। इस काल में स्त्री-पुरुषों के पृष्ठभाग की हड्डियाँ चौंसठ होती हैं। सभी मनुष्य समचतुरस्र संस्थान से युक्त, एक दिन के अंतराल से आंवले के बराबर भोजन ग्रहण करने वाले होते हैं। इस काल में उत्पन्न हुए बालकों के शय्या पर सोते हुए अपने अंगूठे के चूसने में सात दिन व्यतीत होते हैं। इसके पश्चात् उपवेशन, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुण प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता। इनमें से प्रत्येक अवस्था में क्रमशः सात-सात दिन जाते हैं। इतनी मात्र विशेषता को छोड़कर शेष वर्णन जो सुषमा-सुषमा नामक काल में कह चुके हैं सो ही यहाँ पर समझना चाहिए।

इन तीनों ही भोगभूमियों में चोर, शत्रु आदि की बाधाएँ, असि, मसि आदि छह कर्म, शीत, आतप, प्रचंड वायु एवं वर्षा आदि नहीं होती हैं। इन्हें क्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि भी कहते हैं।

कुलकरों की उत्पत्ति—इस भरतक्षेत्र के मध्यवर्ती आर्यखण्ड में अवसर्पिणी का तृतीय काल चल रहा था। इनमें आयु, अवगाहना, ऋद्धि, बल और तेज घटते-घटते जब इस तृतीय काल में पल्योपम के आठवें भाग मात्र काल शेष रह जाता है तब कुलकरों की उत्पत्ति प्रारंभ होती है।

प्रथम कुलकर का नाम 'प्रतिश्रुति' और उनकी देवी का नाम स्वयंप्रभा था। उनके शरीर की ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष और आयु पल्य के दसवें भाग प्रमाण थी। उस समय आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन सायंकाल में भोगभूमियों को पूर्व दिशा में उदित होता हुआ चन्द्र और पश्चिम दिशा में अस्त होता हुआ सूर्य दिखलाई पड़ा। 'यह कोई आकस्मिक उत्पात है' ऐसा समझकर वे लोग भय से व्याकुल हो गये। उस समय वहाँ पर 'प्रतिश्रुति' कुलकर सबमें अधिक तेजस्वी और प्रजाजनों के हितकारी तथा जन्मांतर के संस्कार से अवधिज्ञान को धारण किये हुए सभी में उत्कृष्ट बुद्धिमान गिने जाते थे। उन्होंने कहा—हे भद्र पुरुषों! तुम्हें जो ये दिख रहे हैं वे सूर्य-चन्द्र नाम के ग्रह हैं, कालवश अब ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों की किरण समूह मंद पड़ गई हैं अतः इस समय ये दिखने लगे हैं, ये हमेशा ही आकाश में परिभ्रमण करते रहते हैं, अभी तक ज्योतिरंग कल्पवृक्ष से इनकी प्रभा तिरोहित होने से ये नहीं दिखते थे अतः तुम इनसे भयभीत मत होवो। प्रतिश्रुति के वचनों से उन लोगों को आश्वासन प्राप्त हुआ और उन लोगों ने उनके चरणकमलों की पूजा तथा स्तुति की।

प्रतिश्रुति कुलकर के स्वर्ग जाने के पश्चात् पल्य के अस्सीवें भाग अंतराल के व्यतीत हो जाने पर सुवर्ण सदृश कान्ति वाले 'सन्मति' नामक द्वितीय कुलकर उत्पन्न हुए। इनके शरीर की ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष एवं आयु 'अमम' के बराबर संख्यात वर्षों की थी। उस समय ज्योतिरंग कल्पवृक्ष नष्टप्राय हो गये और सूर्य के अस्त होने पर अंधकार तथा तारागणों को देखकर 'ये अत्यन्त भयानक/अदृष्टपूर्व उत्पात प्रकट हुए हैं' इस प्रकार सभी मनुष्य व्याकुल होकर कुलकर के निकट आये। तब सन्मति कुलकर ने कहा कि कालवश ज्योतिरंग कल्पवृक्षों की किरणें सर्वथा प्रणष्ट हो जाने से इस समय आकाश में अंधकार और ताराओं का समूह दिख रहा है। तुम लोगों को इनकी ओर से भय का कोई कारण नहीं है। ये तो सदा ही रहते थे किन्तु कल्पवृक्षों की किरणों से प्रकट नहीं दिखते थे। ये ग्रह, तारा और नक्षत्र तथा सूर्य-चन्द्रमा जम्बूद्वीप में नित्य ही सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते हैं। तब कुलकर के वचनों से वे सब निर्भय हो गये और उन कुलकर की पूजा करके स्तुति करने लगे।

इन कुलकर के स्वर्ग जाने के बाद असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल बीत जाने पर इस भरतक्षेत्र में तीसरे कुलकर उत्पन्न हुए। इनका नाम 'क्षेमंकर' था, शरीर की ऊँचाई आठ सौ धनुष और आयु 'अटट' प्रमाण वर्षों बराबर थी, वर्ण सुवर्ण सदृश और सुनंदा नामक महादेवी थी। उस समय व्याघ्र आदि तिर्यंच जीव क्रूरता को प्राप्त हो गये थे, तब भोगभूमिज मनुष्य उनसे भयभीत होकर क्षेमंकर मनु के पास पहुँचे और बोले—हे देव! ये सिंह, व्याघ्रादि पशु बहुत शान्त थे, जिन्हें हम लोग अपनी गोद में बिठाकर अपने हाथ से खिलाते थे, वे पशु आज हम लोगों को बिना किसी कारण ही सींगों से मारना चाहते हैं,

मुख फाड़कर डरा रहे हैं हम क्या करें ? तब कुलकर बोले—हे भद्र पुरुषों! अब तुम्हें इन पर विश्वास नहीं करना चाहिए, इनकी संगति छोड़ देना चाहिए, ये कालदोष से विकार को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार से क्षेमंकर कुलकर के वचनों से उन लोगों ने सींग और दाढ़ वाले पशुओं का संसर्ग छोड़ दिया, केवल निरुपद्रवी गाय, भैंस आदि से संसर्ग रखने लगे।

इनकी आयु पूर्ण होने के पश्चात् असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल बीत जाने पर सज्जनों में अग्रसर ऐसे 'क्षेमंधर' नामक चौथे कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'तुटिक' प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष की थी, इनका वर्ण स्वर्ण के सदृश और इनकी देवी का नाम विमला था। उस समय क्रूरता को प्राप्त हुए सिंहादि मनुष्यों के मांस को खाने लगे, तब सिंहादि के भय से भयभीत हुए भोगभूमिजों को क्षेमंधर मनु ने उनसे सुरक्षित करने के लिए दण्डादि रखने का उपदेश दिया।

इनके अनंतर असंख्यात करोड़ वर्षों के बीत जाने पर प्रजा के पुण्योदय से 'सीमंकर' नाम के पांचवें कुलकर हुए। इनकी आयु 'कमल' प्रमाण वर्षों की एवं शरीर की ऊँचाई सात सौ पचास धनुष की थी, वर्ण स्वर्ण के सदृश एवं 'मनोहरी' नाम की प्रसिद्ध देवी थी। इनके समय कल्पवृक्ष अल्प हो गये और फल भी अल्प देने लगे थे, इस कारण मनुष्यों में अत्यन्त क्षोभ होने लगा था। परस्पर में इन भोगभूमिजों के विसंवाद को देखकर सीमंकर मनु ने कल्पवृक्षों की सीमा नियत करके परस्पर संघर्ष को रोक दिया।

भोगभूमि की दण्ड व्यवस्था—उपर्युक्त प्रतिश्रुति आदि पाँच कुलकरों ने उन भोगभूमिजों के अपराध में 'हा'/हाय! बुरा कार्य किया, ऐसी दण्ड की व्यवस्था की थी, बस! इतना कहने मात्र से ही प्रजा आगे अपराध नहीं करती थी।

पाँचवें कुलकर के स्वर्गगमन के पश्चात् असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल व्यतीत हो जाने पर 'सीमंधर' नामक छठे कुलकर उत्पन्न हुए। ये 'नलिन' प्रमाण वर्षों की आयु के धारक और सात सौ पच्चीस धनुष ऊँचे थे, इनकी देवी का नाम 'यशोधरा' था। इनके समय में कल्पवृक्ष अत्यन्त थोड़े रह गये और फल भी बहुत कम देने लगे इसीलिए मनुष्यों के बीच नित्य ही कलह होने लगा तब इन कुलकर ने कल्पवृक्षों की सीमाओं को अन्य अनेक वृक्ष तथा छोटी-छोटी झाड़ियों से चिन्हित कर दिया।

इनके बाद फिर असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल बीत जाने पर 'विमलवाहन' नामक सातवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'पद्म' प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई सात सौ धनुष प्रमाण थी, वर्ण स्वर्ण के सदृश और 'सुमति' नाम की महादेवी थी। इस समय गमनागमन से पीड़ा को प्राप्त हुए भोगभूमिज मनुष्य इन कुलकर के उपदेश से हाथी, घोड़े आदि पर सवारी करने लगे और अंकुश, पलान आदि से उन पर नियंत्रण करने लगे।

सातवें कुलकर के स्वर्ग जाने के बाद असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल बीत जाने पर 'चक्षुष्मान्' नामक आठवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'पद्मांग' प्रमाण और ऊँचाई छह सौ पचहत्तर धनुष की थी, इनकी देवी का नाम 'धारिणी' था। इनके समय से पहले के मनुष्य अपनी संतान का मुख नहीं देख पाते थे, उत्पन्न होते ही माता-पिता की मृत्यु हो जाती थी परन्तु अब वे क्षण भर पुत्र का मुख देखकर मरने लगे, उनके लिए यह नई बात थी अतएव भयभीत हुए 'चक्षुष्मान्' कुलकर के पास आये, तब इन्होंने उपदेश दिया कि ये तुम्हारे पुत्र-पुत्री हैं, इनके पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर मुख को देखो। इस प्रकार मनु के उपदेश से स्पष्टरूप से अपने बालकों के मुख को देखकर वे भोगभूमिज तत्काल ही आयु से रहित होकर विलीन हो जाते थे।

आठवें कुलकर के स्वर्गगमन के पश्चात् करोड़ों वर्षों का अन्तराल व्यतीत होने पर 'यशस्वान्' नाम के नौवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'कुमुद' प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई छह सौ पचास धनुष की थी, इनके 'कांतिमाला' नाम की देवी थी। उस समय ये कुलकर प्रजा को अपनी संतान के नामकरण के उत्सव का उपदेश देते थे। तब भोगभूमिज नामकरण करके आशीर्वाद देकर थोड़े समय रहकर आयु के क्षीण होने पर विलीन हो जाते थे।

नवम कुलकर के स्वर्गस्थ होने पर करोड़ों वर्षों का अन्तराल व्यतीत कर दशवें 'अभिचन्द्र' नाम के कुलकर हुए। इनकी आयु 'कुमुदांग' प्रमाण थी और शरीर की ऊँचाई छह सौ पच्चीस धनुष की थी। इनकी देवी का नाम 'श्रीमती' था। ये बालकों के रुदन को रोकने के निमित्त उपदेश देते थे कि तुम लोग इन्हें रात्रि में चन्द्रमा को दिखाकर क्रीड़ा कराओ और बोलना सिखाओ, यत्नपूर्वक इनकी रक्षा करो। इनके उपदेश से भोगभूमिज अपनी सन्तानों के साथ वैसा ही व्यवहार करके आयु के अन्त में विलीन होते थे।

इन कुलकरों की दण्ड-व्यवस्था—सीमंकर आदि पाँच कुलकर क्षोभ से आक्रांत उन युगलों के शिक्षण के निमित्त दण्ड के लिए 'हा'/हाय! बुरा किया। 'मा'/अब ऐसा मत करना, ऐसे खेदप्रकाशक और निषेधसूचक दो शब्दों का उपयोग करते हैं और इतने मात्र से ही प्रजा अपराध छोड़ देती है।

अभिचन्द्र कुलकर के स्वर्गारोहण के पश्चात् उतना ही अन्तराल व्यतीत होने के बाद 'चन्द्राभ' नाम के ग्यारहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'नयुत' प्रमाण वर्षों की और शरीर की अवगाहना छह सौ धनुष प्रमाण थी। इनकी देवी का नाम 'प्रभावती' था। इनके समय में अतिशीत, तुषार और अतिवायु चलने लगी थी, शीत वायु से अत्यन्त दुःख पाकर वे भोगभूमिज मनुष्य तुषार से ढके हुए चन्द्र आदि ज्योति समूह को नहीं देख पाते थे। इस कारण इनके भय को दूर करते हुए चन्द्राभ कुलकर ने उपदेश दिया कि भोगभूमि की हानि होने पर अब कर्मभूमि निकट आ गई है। काल के विकार से यह स्वभाव प्रवृत्त हुआ है, अब यह तुषार सूर्य की किरणों से नष्ट होगा, यह सुनकर प्रजाजन सूर्य की किरणों से शैल्य को नष्ट करते हुए कुछ दिनों तक अपनी सन्तान के साथ जीवित रहने लगे।

चन्द्राभ कुलकर के स्वर्ग जाने के बाद अपने योग्य अन्तर को व्यतीत कर 'मरुदेव' नामक बारहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'नयुतांग' वर्ष प्रमाण और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचहत्तर धनुष की थी। इनकी देवी का नाम 'सत्या' था। इनके समय में बिजलीयुक्त मेघ गरजते हुए बरसने लगे। उस समय पूर्व में कभी नहीं देखी गई कीचड़युक्त जलप्रवाह वाली नदियों को देखकर अत्यन्त भयभीत हुए भोगभूमिज मनुष्यों को मरुदेव कुलकर काल के विभाग को बतलाते हैं अर्थात् काल के विकार से अब कर्मभूमि तुम्हारे निकट है। अब तुम लोग नदियों में नौका डालकर इन्हें पार करो, पहाड़ों पर सीढ़ियों को बनाकर चढ़ो और वर्षाकाल में छत्रादि को धारण करो। उन कुलकर के उपदेश से सभी जन नदियों को पारकर, पहाड़ों पर चढ़कर और वर्षा का निवारण करते हुए पुत्र-कलत्र के साथ जीवित रहने लगे।

"पहले यहाँ युगल संतान उत्पन्न होती थी पुनः मरुदेव के 'प्रसेनजित्' नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके पूर्व भोगभूमिज मनुष्यों के शरीर में पसीना नहीं आता था परन्तु प्रसेनजित् का शरीर पसीने के कणों से सुशोभित हो उठता था। वीर मरुदेव कुलकर ने अपने पुत्र प्रसेनजित् का विवाह विधि के द्वारा किसी प्रधान कुल की कन्या से विवाह कराया था। अन्त में मरुदेव पल्य के करोड़वें भाग तक जीवित रहकर स्वर्ग चले गये। तदनन्तर ये 'प्रसेनजित्' तेरहवें कुलकर कहलाये और इन्होंने 'एक करोड़ पूर्व' की आयु वाले, जन्मकाल में बालकों के नाल काटने की व्यवस्था करने वाले 'नाभिराज' नामक चौदहवें कुलकर को उत्पन्न किया था और स्वयं पल्य के दस लाख करोड़वें भाग जीवित रहकर स्वर्गस्थ हो गये थे।"

इन बारहवें कुलकर के स्वर्गस्थ होने के बाद समय व्यतीत होने पर जब कर्मभूमि की स्थिति धीरे-धीरे समीप आ रही थी तब प्रसेनजित् नाम के तेरहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु एक 'पूर्व' प्रमाण थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचास धनुष की थी। इनके 'अभिमती' नाम की देवी थी। इनके समय में बालकों का जन्म जरायु पटल में वेष्टित होने लगा था। 'यह क्या है' इस प्रकार के भय से संयुक्त मनुष्यों को इन कुलकर ने जरायु पटल को दूर करने का उपदेश दिया था। उनके उपदेश से सभी भोगभूमिज प्रयत्नपूर्वक उन शिशुओं की रक्षा करने लगे थे।

इनके बाद ही 'नाभिराज' नाम के चौदहवें कुलकर उत्पन्न हुए थे। इनकी आयु 'एक करोड़ पूर्व' वर्ष की थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष की थी, इनकी 'मरुदेवी' नाम की पत्नी थी। इनके समय बालकों का नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा था इसलिए नाभिराय कुलकर उसके काटने का उपदेश देते हैं और वे भोगभूमिज मनुष्य वैसा ही करते हैं। उस समय कल्पवृक्ष नष्ट हो गये, बादल गरजने लगे, मेघ बरसने लगे, पृथ्वी पर स्वभाव से ही उत्पन्न हुए अनेकों वनस्पतियाँ–वनस्पतिकायिक धान्य आदि दिखलाई देने लगे। धीरे–धीरे बिना बोये ही धान्य सब ओर पैदा हो गये। उनके उपयोग को न समझती हुई प्रजा कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से अत्यन्त क्षुधा वेदना से व्याकुल हुई नाभिराज कुलकर की शरण में आकर बोली—हे देव! मनवांछित फल को देने वाले कल्पवृक्षों के बिना हम पुण्यहीन अनाथ लोग किस प्रकार से जीवित रहें ? जो ये वृक्ष, शाखा, अंकुर, फल आदि उत्पन्न हुए हैं, इनमें कौन तो खाने योग्य हैं और कौन नहीं हैं ? इनका क्या उपयोग है, यह सब हमें बतलाइये। इस प्रकार के दीन वचनों को सुनकर नाभिराज बोले—हे भद्र पुरुषों! ये वृक्ष तुम्हारे योग्य हैं और ये विषवृक्ष छोड़ने योग्य हैं। तुम लोग इन धान्यों को खाओ, गाय का दूध निकालकर पीओ। ये इक्षु के पेड़ हैं, इन्हें दाँतों से या यंत्रों से पेल कर इनका रस पियो। इस प्रकार से महाराजा नाभिराज ने मनुष्यों की आजीविका के अनेकों उपायों को बताकर उन्हें सुखी किया और हाथी के गंडस्थल पर मिट्टी की थाली आदि अनेक प्रकार के बर्तन बनाकर उन पुरुषों को दिये और बनाने का उपदेश भी दिया। उस समय वहाँ कल्पवृक्षों की समाप्ति हो चुकी थी, प्रजा का हित करने वाले केवल नाभिराज ही उत्पन्न हुए थे इसलिए वे कल्पवृक्ष के समान प्रजा का हित करते थे।

चौदह कुलकर कहाँ से आये थे—प्रतिश्रुति आदि को लेकर नाभिराजपर्यंत ये सब चौदह कुलकर अपने पूर्व भव में विदेह क्षेत्र में महाकुल में राजकुमार थे, उन्होंने उस भव में पुण्य बढ़ाने वाले पात्रदान तथा यथायोग्य व्रताचरणरूपी अनुष्ठानों के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले ही भोगभूमि की मनुष्य आयु बाँध ली थी, बाद में श्री जिनेन्द्रदेव के समीप रहने से क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा श्रुतज्ञान की प्राप्ति हुई थी जिसके फलस्वरूप आयु के अंत में मरकर वे इस भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए थे। इन चौदह कुलकरों में से कितने ही कुलकरों को जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञानरूपी नेत्र के धारक थे इसलिए उन्होंने विचार कर प्रजा के लिए ऊपर कहे हुए कार्यों का उपदेश दिया था। ये प्रजा के जीवन को जानने से 'मनु' तथा आर्य पुरुषों को कुल की तरह इकट्ठे रहने का उपदेश देने से 'कुलकर', अनेकों वंशों को स्थापित करने से 'कुलंधर' तथा युग की आदि में होने से 'युगादि पुरुष' भी कहे गये थे।

शलाका पुरुष—अब यहाँ से आगे नाभिराज कुलकर के पश्चात् पुण्योदय से इस भरतक्षेत्र में मनुष्यों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध तिरेसठ शलाका पुरुष उत्पन्न होने लगते हैं। ये शलाका पुरुष 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

24 तीर्थंकर—उनमें से ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान। इस भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए इन चौबीस तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार होवे। ये ज्ञानरूपी फरसे से भव्य जीवों के संसाररूपी वृक्ष को छेदते हैं।

12 चक्रवर्ती—भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुंथु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त ये छह खंडरूप पृथ्वीमण्डल को सिद्ध करने वाले, कीर्ति से भुवनतल को व्याप्त करने वाले 12 चक्रवर्ती भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए हैं।

9 बलभद्र—विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नंदी, नंदिमित्र, रामचंद्र और पद्म (बलदेव) भरतक्षेत्र में ये नौ बलभद्र हुए हैं।

9 नारायण—त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और श्रीकृष्ण ये नव विष्णुपदधारक नारायण हुए हैं।

9 प्रतिनारायण—अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुंभ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासंध ये नव प्रतिनारायण हुए हैं।

ये त्रेसठ शलाका पुरुष कहलाते हैं।

अंतिम कुलकर महाराजा नाभिराज की महारानी मरुदेवी से भगवान् वृषभदेव का जन्म हुआ था। ये ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर भी थे और पन्द्रहवें कुलकर भी माने गये थे। इसी प्रकार ऋषभदेव की रानी यशस्वती ने भरत को जन्म दिया था। ये भरत महाराज चक्रवर्ती भी थे और सोलहवें कुलकर भी कहलाते थे। इस तरह ये सोलह कुलकर भी माने जाते थे।

इन कुलकरों की दण्ड व्यवस्था—ग्यारहवें से लेकर शेष कुलकरों ने 'हा' 'मा' और 'धिक्' इन तीन दण्डों की व्यवस्था की थी अर्थात् 'खेद है', 'अब ऐसा नहीं करना', 'तुम्हें धिक्कार है' जो रोकने पर भी अपराध करते हो।

भरतचक्री का दण्ड—भरत चक्रवर्ती के समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे थे इसलिए उन्होंने वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड देने की रीति भी चलाई थी।

प्रथम तीर्थंकर तृतीय काल में

जब तृतीय काल में चौरासी लाख वर्ष पूर्व, तीन वर्ष साढ़े आठ मास प्रमाण काल शेष रह गया था तब अंतिम कुलकर महाराजा नाभिराय की महारानी 'मरुदेवी' ने प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को जन्म दिया। जब ऋषभदेव युवावस्था को प्राप्त हो गये, तब उनके पिता ने इन्द्र की अनुमति से ऋषभदेव का विवाह यशस्वती और सुनन्दा नाम की कन्याओं के साथ कर दिया। भगवान ऋषभदेव के भरत, बाहुबली आदि एक सौ एक पुत्र और ब्राह्मी-सुन्दरी नाम से दो कन्याएँ हुईं। भगवान ने सर्वप्रथम ब्राह्मी को 'अ आ' आदि लिपि और सुन्दरी को इकाई, दहाई आदि गणित विद्या सिखाई। अनन्तर सभी पुत्रों को भी सम्पूर्ण विद्याओं में, शास्त्रों में और शस्त्र कलाओं में निष्णात कर दिया।

प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य एवं शिल्प इन षट् क्रियाओं से आजीविका का उपाय बतलाने से भगवान प्रजापति कहलाये। उस समय जैसी व्यवस्था विदेहक्षेत्र में थी, वैसी ही व्यवस्था भगवान ने यहाँ पर स्थापित की, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से तीन वर्णों की स्थापना की, 'विवाह-विधि' आदि प्रचलित की। 'अकम्पन' आदि चार महापुरुषों को राज्यव्यवस्था बताकर "महाराज" पद पर उन्हें नियुक्त किया इसीलिए भगवान ऋषभदेव आदिब्रह्मा, युगादिपुरुष, विधाता आदि कहलाने लगे।

अनन्तर मोक्षमार्ग की स्थिति प्रगट करने के लिए वे दिगम्बर मुनि हो गये। उस समय चार हजार राजा उनकी देखा-देखी मुनि हो गये और भूख-प्यास की बाधा न सहन कर सकने से वे सब के सब भ्रष्ट हो गये। तब उन सभी ने मिलकर अनेक पाखण्ड मतों की स्थापना की। कुछ दिन बाद सम्राट भरत ने ब्राह्मण वर्ण नाम से एक वर्ण और स्थापित कर दिया।

भगवान ऋषभदेव के अनन्तर अजितनाथ आदि महावीरपर्यंत चौबीस तीर्थंकर हुए हैं।

इस हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से भगवान ऋषभदेव तृतीय काल में हुए हैं, शेष तीर्थंकर चतुर्थकाल में हुए हैं।

2.4.4 चतुर्थकाल प्रारंभ—

भगवान ऋषभदेव के मोक्ष जाने के बाद तीन वर्ष, साढ़े आठ माह व्यतीत होने पर दुःषमासुषमा नामक चतुर्थ काल प्रविष्ट होता है। उस काल के प्रथम प्रवेश में उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ अड़तालीस और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण थी। यह चतुर्थकाल बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

भगवान ऋषभदेव के मुक्त हो जाने के पश्चात् पचास लाख करोड़ सागरों के व्यतीत हो जाने पर अजितनाथ तीर्थंकर ने मोक्षपद प्राप्त किया।

अजितनाथ के मुक्त होने के बाद तीस लाख करोड़ सागरों के व्यतीत हो जाने पर संभवनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद दस लाख करोड़ सागर व्यतीत हो जाने पर अभिनंदननाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद नौ लाख करोड़ सागरों के चले जाने पर सुमतिनाथ भगवान सिद्धि को प्राप्त हुए।

इसके पश्चात् नब्बे हजार करोड़ सागरों के बीत जाने पर पद्मप्रभ जिन सिद्धि को प्राप्त हुए।

इसके अनन्तर नौ हजार करोड़ सागरों के चले जाने पर सुपार्श्वनाथ भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसके बाद नौ सौ करोड़ सागरों के चले जाने पर चन्द्रप्रभ देव मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसके बाद नब्बे करोड़ सागरों के बीत जाने पर पुष्पदन्तनाथ जिन सिद्धि को प्राप्त हुए।

इसके अनन्तर नौ करोड़ सागरों के चले जाने पर शीतलनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके बाद छ्यासठ लाख छब्बीस हजार सौ सागर कम एक करोड़ सागर अर्थात् तेतीस लाख तिहत्तर हजार नौ सौ सागर के व्यतीत हो जाने पर श्रेयांसनाथ भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसके अनन्तर चौवन सागर के बीत जाने पर वासुपूज्य भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसके बाद तीस सागर व्यतीत हो जाने पर विमलनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके बाद नौ सागर व्यतीत हो जाने पर अनंतनाथ मुक्त हुए।

इसके बाद चार सागर चले जाने पर धर्मनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद पौन पल्य कम तीन सागर के बीत जाने पर शांतिनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके अनन्तर अर्द्धपल्य काल के बीत जाने पर कुंथुनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद एक करोड़ वर्ष कम पाव पल्य के बीत जाने पर अरहनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके बाद एक हजार करोड़ वर्षों के बाद मल्लिनाथ जिन सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् चौवन लाख वर्षों के बीत जाने पर मुनिसुव्रतनाथ सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् छः लाख वर्ष बीत जाने पर नमिनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद पाँच लाख वर्षों के बीत जाने पर नेमिनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् तिरासी हजार सात सौ पचास वर्षों के बीत जाने पर पार्श्वनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् दो सौ पचास वर्षों के बीत जाने पर वीर भगवान सिद्ध हुए। उस समय पंचम काल के प्रवेश होने में तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष थे।

धर्मतीर्थ व्युच्छित्ति का काल—पुष्पदंत को आदि लेकर धर्मनाथपर्यंत सात तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की व्युच्छित्ति (अभाव) हुई थी और शेष सत्रह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परम्परा निरन्तर अक्षुण्णरूप से चलती रही है।

पुष्पदंत के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है अर्थात् उस समय दीक्षा के अभिमुख होने वालों का अभाव होने पर धर्मरूपी सूर्यदेव अस्तमित हो गया था। इसी प्रकार शीतलनाथ के तीर्थ में अर्द्ध पल्य तक, श्रेयांसनाथ के तीर्थ में पौन पल्य तक, वासुपूज्यदेव के तीर्थ में एक पल्य तक, विमलनाथ के तीर्थ में पौन पल्य तक, अनन्तनाथ के तीर्थ में अर्द्ध पल्य तक और धर्मनाथ के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्मतीर्थ का उच्छेद रहा था।

हुंडावसर्पिणी के दोष से यहाँ सात बार धर्म के विच्छेद हुए हैं।

2.4.5 पंचम काल—

वीर भगवान के मोक्ष जाने के बाद तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल व्यतीत हो जाने के बाद 'दुःषमा'

नामक पंचम काल प्रवेश करता है। इस पंचम काल के प्रथम प्रवेश में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष, ऊँचाई सात हाथ और पृष्ठ भाग की हड्डियाँ चौबीस होती हैं।

धर्मतीर्थ परम्परा

केवली—जिस दिन वीर भगवान सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए पुनः गौतम स्वामी के सिद्ध हो जाने पर उसी दिन श्री सुधर्मास्वामी केवली हुए। सुधर्मास्वामी के मुक्त होने पर जंबूस्वामी केवली हुए। पश्चात् जंबूस्वामी के सिद्ध हो जाने पर फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं रहे।

गौतम स्वामी के केवलज्ञान से लेकर जंबूस्वामी के मोक्षगमन तक का काल 62 वर्ष प्रमाण है। केवलज्ञानियों में अंतिम 'श्रीधर' केवली कुण्डलगिरि से सिद्ध हुए। चारण ऋषियों में अंतिम 'सुपार्श्वचन्द्र' नामक ऋषि हुए। प्रज्ञाश्रमणों में अंतिम वज्रयश और अवधिज्ञानियों में अंतिम 'श्री' नाम के ऋषि हुए हैं। मुकुटधरों में अंतिम चंद्रगुप्त ने जिनदीक्षा धारण की, इनके पश्चात् मुकुटधारी राजाओं ने जिनदीक्षा नहीं ली है।

श्रुतकेवली—जंबूस्वामी के अनन्तर नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु मुनि ये पाँचों ही 'चौदह पूर्वी ' इन नाम से विख्यात द्वादश अंगों के धारक पूर्ण श्रुतज्ञानी 'श्रुतकेवली' वर्धमान स्वामी के तीर्थ में हुए हैं। इन पाँचों का काल मिलाकर सौ वर्ष प्रमाण है।

दश पूर्वधारी—विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह मुनि अनुक्रम से ग्यारह अंग और दश पूर्व के धारक 'दश पूर्वी ' कहलाये हैं। परम्परा से प्राप्त इन सबका काल एक सौ तिरासी वर्ष है। इनके बाद कालदोष से फिर दशपूर्वधर मुनिरूपी सूर्य नहीं हुए।

ग्यारह अंगधारी—नक्षत्रमुनि, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अंग के धारक हुए हैं। इन सबका काल दो सौ बीस वर्ष प्रमाण है। इनके बाद फिर कोई मुनि ग्यारह अंग धारक नहीं हुए।

आचारांगधारी—सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए हैं। इनके काल का प्रमाण एक सौ अठारह वर्ष है। इनके स्वर्गस्थ होने पर भरतक्षेत्र में फिर कोई अंग और पूर्व श्रुत के धारक नहीं हुए। गौतम स्वामी से लेकर यहाँ तक का काल छः सौ तिरासी वर्ष होता है। 62+100+183+220+118=683।

इन उपर्युक्त आचार्यों के बाद शेष आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के एकदेश के धारक हुए हैं।

पंचमकाल के अंत तक धर्मतीर्थ—जो श्रुततीर्थ धर्म प्रवर्तन का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों तक चलता रहेगा, अनंतर कालदोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् पंचमकाल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है, उसमें से उपर्युक्त छः सौ तिरासी वर्ष कम करने से बचे हुए प्रमाण काल तक जैनधर्म चलता रहेगा-21000-683=20317।

इतने मात्र बचे हुए शेष समय में चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा। उस समय के लोग प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सात भय व आठ मदों से संयुक्त, शल्य एवं गारवों से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर और क्रोधी होंगे।

राज्य परम्परा—जिस समय वीर भगवान मुक्ति को प्राप्त हुए उसी समय 'पालक' नामक अवन्तीसुत का राज्याभिषेक हुआ। साठ वर्ष तक पालक का राज्य रहा पुनः एक सौ पचपन वर्ष तक विजयवंशियों का, चालीस वर्ष तक मरुंडवंशियों का, तीस वर्ष तक पुष्यमित्र का, इसके बाद साठ वर्ष तक वसुमित्र-अग्निमित्र का, एक सौ वर्ष तक गंधर्व का, चालीस वर्ष तक नरवाहन का, दो सौ बयालीस वर्ष तक भृत्य-आंध्रों का, पुनः दो सौ इकतीस वर्ष तक गुप्तवंशियों का राज्य रहा है।

कल्की का जन्म और कार्य—इसके बाद इन्द्र नामक राजा का पुत्र कल्की उत्पन्न हुआ, इसका नाम चतुर्मुख, आयु सत्तर वर्ष और राज्यकाल बयालीस वर्ष प्रमाण रहा है। महावीर के निर्वाण से इस कल्की तक का काल एक हजार

वर्ष हो जाता है–60+155+40+30+60+100+40+242+231+42=1000 वर्ष।

आचारांगधर आचार्यों के पश्चात् दो सौ पचहत्तर वर्षों के व्यतीत हो जाने पर कल्की राजा को पट्ट बाँधा गया था–683+275+42=1000 वर्ष।

श्री वीरप्रभु के निर्वाण जाने के बाद छः सौ पाँच वर्ष और पाँच माह व्यतीत हो जाने पर 'विक्रम' नामक राजा हुए हैं। उसके बाद तीन सौ चौरानवे वर्ष, सात माह बीत जाने पर प्रथम कल्की उत्पन्न हुआ था।

अनन्तर वह कल्की प्रयत्नपूर्वक अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके लोभ और अन्याय को प्राप्त होता हुआ मुनियों के आहार में से प्रथम ग्रास को शुल्क रूप में माँगने लगता है, तब श्रमण मुनि अग्र ग्रास को देकर और 'यह अन्तरायों का काल है' ऐसा समझकर निराहार चले जाते हैं। उस समय उनमें से किसी एक मुनि को अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद कोई असुरदेव अवधिज्ञान से मुनिगणों के उपसर्ग को जानकर और धर्म का द्रोही मानकर उस कल्की को मार डालते हैं। तब 'अजितंजय' नामक उस कल्की का पुत्र 'रक्षा करो' इस प्रकार कहकर उस देव के चरणों में नमस्कार करता है, तब वह देव 'धर्मपूर्वक राज्य करो' ऐसा कहकर उसकी रक्षा करता है। इसके पश्चात् दो वर्षों तक सच्चे धर्म की प्रवृत्ति रहती है पुनः क्रमशः काल के माहात्म्य से वह प्रतिदिन हीन होती चली जाती है।

इस प्रकार एक हजार वर्षों के पश्चात् पृथक्-पृथक् एक-एक कल्की तथा पाँच सौ वर्षों के पश्चात् एक-एक उपकल्की होता है। प्रत्येक कल्की के समय एक-एक दुःषमाकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समय में चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं। उस समय पूर्व में बाँधे हुए पापों के उदय से चांडाल, शबर, श्वपच, किरात आदि तथा दीन, अनाथ, क्रूर, नाना प्रकार की व्याधि-वेदना से युक्त, हाथों में खप्पर तथा भिक्षापात्रधारी और देशान्तर गमन से पीड़ित ऐसे बहुत से मनुष्य दिखते हैं।

अंतिम कल्की का जन्म और कार्य—इस प्रकार से दुःषमा काल में धर्म, आयु और ऊँचाई कम होती जाती है फिर अन्त में विषम स्वभाव वाला इक्कीसवाँ कल्की उत्पन्न होता है, उसके समय में 'वीरांगज' नामक एक मुनि, 'सर्वश्री' नाम की आर्यिका तथा 'अग्निदत्त' और 'पंगुश्री' नामक श्रावक-श्राविका होंगे। वह कल्की अपनी आज्ञा से अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके मंत्रिवरों से कहेगा कि ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है जो मेरे वश में न हो ? तब मंत्री निवेदन करेंगे कि हे स्वामिन्! एक मुनि आपके वश में नहीं हैं, तब कल्की कहेगा कि कहो! वह अविनीत मुनि कौन है? इसके उत्तर में सचिव कहेंगे कि हे स्वामिन्! सकल अहिंसा व्रतों का आधारभूत वह मुनि सर्व परिग्रह से रहित होता हुआ शरीर की स्थिति के निमित्त दूसरों के घरों पर मध्यान्ह काल में अपने हस्तपुट में विघ्नरहित प्रासुक आहार को ग्रहण करता है। इस प्रकार के वचन सुनकर वह कल्की कहेगा कि वह अहिंसाव्रतधारी पापी कहाँ जाता है ? तुम स्वयं उसका पता लगाओ और उसके प्रथम ग्रास को शुल्करूप में ग्रहण करो।

तत्पश्चात् प्रथम ग्रास के माँगे जाने पर वे मुनिराज तुरंत उसे देकर और अन्तराय करके वापस चले जावेंगे तथा अवधिज्ञान को भी प्राप्त कर लेंगे। उस समय वे मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निदत्त श्रावक और पंगुश्री श्राविका को बुलाकर प्रसन्नचित्त होते हुए कहेंगे कि अब दुःषमाकाल का अंत आ चुका है, तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है और यह अंतिम कल्की है। तब ये चारों जन चार प्रकार के आहार और परिग्रहादि को जीवनपर्यंत छोड़कर सन्यास को ग्रहण करेंगे। वे सब कार्तिक मास के कृष्णपक्ष की अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाति नक्षत्र पर उदित रहने पर सन्यास को ग्रहण करके समाधिमरण को प्राप्त करेंगे।

समाधिमरण के पश्चात् वीरांगज मुनि एक सागर आयु से युक्त होते हुए सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे और वे तीनों जन भी एक पल्य से कुछ अधिक आयु को लेकर वहाँ पर ही उत्पन्न होंगे।

उसी दिन मध्यान्ह में क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार जाति का उत्तम देव कल्की राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय में अग्नि नष्ट हो जावेगी।

इस प्रकार इक्कीस कल्की और इतने ही उपकल्की धर्म के द्रोह से एक सागर आयु से युक्त होकर घम्मा पृथ्वी में जन्म लेते हैं।

2.4.6 अतिदु:षमा नामक छठा काल—

उपर्युक्त घटना के पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम दु:षमादु:षमा नामक छठा काल प्रविष्ट होता है। उसके प्रथम प्रवेश में शरीर की ऊँचाई तीन अथवा साढ़े तीन हाथ, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ बारह और उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष प्रमाण होती है। उस काल में सब मनुष्यों का आहार मूल, फल और मत्स्य आदि होते हैं, उस समय मनुष्यों को वस्त्र, वृक्ष और मकान आदि दिखाई नहीं देते हैं इसलिए सब मनुष्य नंगे और भवनों से रहित होते हुए वनों में घूमते हैं, वे मनुष्य सर्वांग धूम्र वर्ण वाले, पशुओं जैसा आचरण करने वाले, क्रूर, बहरे, अंधे, काने, गूँगे, दरिद्र, क्रोधी, दीन, कुरूप, अतिम्लेच्छ, हुण्डक संस्थान से युक्त, कुबड़े, बौने, नाना प्रकार की व्याधि और वेदना से विकल, प्रचुर कषायों से युक्त, मोही, क्षोभयुक्त स्वभाव से पापिष्ठ, स्वजन-परिजन आदि से रहित, मित्रों से रहित, पुत्र- स्त्रियों से रहित, दुर्गन्धयुक्त शरीर सहित, जूँ-लीख आदि युक्त केशों को धारण करने वाले महामूर्ख होते हैं।

इस काल में नरक और तिर्यञ्चगति से आने वाले जीव ही जन्म लेते हैं तथा यहाँ से मरकर वे अत्यंत घोर नरक व तिर्यंचगति में ही उत्पन्न होते हैं। दिन-प्रतिदिन उन जीवों की ऊँचाई, आयु और शक्ति आदि हीन होते जाते हैं। इनके दु:खों को एक जिह्वा से कहने के लिए भला कौन समर्थ हो सकता है ?

प्रलयकाल—इस छठे काल में उनंचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष के बीत जाने पर जीवों का भयदायक घोर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है। उस समय महागंभीर एवं भीषण संवर्तक वायु चलती है जो कि सात दिन तक वृक्ष, पर्वत, शिला आदि को चूर्ण कर देती है। वृक्ष एवं पर्वतों के भंग होने से मनुष्य एवं तिर्यञ्च महादु:ख को प्राप्त करते हैं तथा वस्त्र और स्थान की अभिलाषा करते हुए अत्यन्त करुण विलाप करते हैं।

इस समय पृथक्-पृथक् संख्यात व सम्पूर्ण बहत्तर युगल गंगा-सिंधु नदियों की वेदी और विजयार्द्ध वन के मध्य में प्रवेश करते हैं। इसके अतिरिक्त देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यञ्चों में से संख्यातों जीवों को उन प्रदेशों में ले जाकर सुरक्षित रखते हैं।

सात प्रकार की वृष्टि—छठे काल के अन्त में मेघों के समूह सात प्रकार की निकृष्ट वस्तुओं की वर्षा सात-सात दिन तक करते हैं जिनके नाम—1. अत्यन्त शीतल जल 2. क्षार जल 3. विष 4. धुआँ 5. धूलि 6. वज्र एवं 7. जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य अग्निज्वाला। इन सातरूप परिणत हुए पुद्गलों की वर्षा सात-सात दिन तक होने से लगातार उनंचास दिन तक चलती है।

"इस वृष्टि के निमित्त से अवशेष बचे मनुष्य आदि भी नष्ट हो जाते हैं तथा विष और अग्नि की वृष्टि से दग्ध हुई पृथ्वी एक योजन भाग नीचे तक काल के वश से भस्म हो जाती है।

इस क्रम से भरतक्षेत्र के भीतर आर्यखण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिंगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। वज्र और महाअग्नि के बल से आर्यखण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कन्ध स्वरूप को छोड़कर लोकान्त तक पहुँच जाती है।

उस समय आर्यखण्ड शेष भूमियों के समान दर्पणतल के सदृश कान्ति से स्थित, धूलि एवं कीचड़ की कलुषता से रहित हो जाता है। वहाँ पर उपस्थित (शेष बचे हुए विजयार्द्ध की गुफा आदि में सुरक्षित) मनुष्यों की ऊँचाई एक हाथ, आयु सोलह अथवा पन्द्रह वर्ष प्रमाण और वीर्य आदि भी तदनुसार ही होते हैं।

यहाँ तक अवसर्पिणी काल के छहों कालों का वर्णन होता है।

वर्तमान काल—यहाँ पर इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में इस समय पञ्चमकाल चल रहा है। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी को मोक्ष गये ढाई हजार वर्ष से भी कुछ अधिक व्यतीत हो चुके हैं। अभी लगभग साढ़े अठारह हजार वर्ष और व्यतीत होंगे। अनन्तर छठा काल आयेगा, ऐसा समझना।

2.5 उत्सर्पिणी काल में षट्कालों का परिवर्तन—

इसके पश्चात् उत्सर्पिणी इस नाम से रमणीय काल प्रवेश करता है। इसके छह भेदों में से प्रथम अतिदुःषमा, द्वितीय दुःषमा, तृतीय दुःषमा–सुषमा, चतुर्थ सुषमा–दुःषमा, पंचम सुषमा और छठा सर्व जनप्रिय अतिसुषमा, ऐसे छह काल होते हैं। यह काल भी अवसर्पिणी के सदृश दस कोड़ाकोड़ी सागर का है। इस काल में जीवों की ऊँचाई, आयु, वीर्य आदि दिन–प्रतिदिन बढ़ते ही जाते हैं।

2.5.1 दुषमादुषमा काल—

उत्सर्पिणी काल के प्रारंभ में पुष्कर मेघ सात दिन तक सुखोत्पादक जल को बरसाते हैं जिससे वज्र, अग्नि से जली हुई सम्पूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है। क्षीरमेघ सात दिन तक क्षीर जल की वर्षा करते हैं जिससे यह पृथ्वी क्षीर जल से भरी हुई उत्तम कान्तियुक्त हो जाती है। इसके पश्चात् सात दिन तक अमृतमेघ अमृत की वर्षा करते हैं जिससे अभिषिक्त भूमि पर लता, गुल्म आदि उगने लगते हैं। इसके बाद रसमेघ सात दिन तक दिव्य रस की वर्षा करते हैं, इस दिव्य रस से परिपूर्ण वे लता आदि सर्वरस वाले हो जाते हैं। उस समय विविध रसपूर्ण औषधियों से भरी हुई भूमि सुस्वाद परिणत हो जाती है।

पश्चात् शीतल गंध को प्राप्त कर वे मनुष्य और तिर्यञ्च गुफाओं से बाहर निकल आते हैं। उस समय वे मनुष्य और तिर्यञ्च नग्न रहकर पशुओं जैसा आचरण करते हुए, क्षुभित होकर वन प्रदेशों में वृक्षों के फल, मूल, पत्ते आदि को खाते हैं। उस काल के प्रथम भाग में आयु पन्द्रह अथवा सोलह वर्ष, ऊँचाई एक हाथ प्रमाण होती है, इसके आगे वह आयु बढ़ती ही जाती है। आयु, तेज, बुद्धि, बाहुबल, देह की ऊँचाई, क्षमा तथा धैर्य इत्यादि ये सब काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार इक्कीस हजार वर्षों के बीत जाने पर इस भरतक्षेत्र में अतिदुःषमा नामक काल पूर्ण हो जाता है।

2.5.2 दुःषमाकाल—

तब दुःषमा नाम का द्वितीय काल प्रवेश करता है। इस काल में मनुष्य, तिर्यञ्चों का आहार बीस हजार वर्ष पर्यन्त पहले के समान ही रहता है। इस काल के प्रथम प्रवेश में उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष और ऊँचाई तीन हाथ या साढ़े तीन हाथ प्रमाण होती है।

कुलकरों की उत्पत्ति—इस काल में एक हजार वर्षों के शेष रहने पर भरतक्षेत्र में चौदह कुलकरों की उत्पत्ति होने लगेगी। क्रम से उन कुलकरों के नाम—कनक, कनकप्रभ, कनकराज, कनकध्वज, कनकपुंगव, नलिन, नलिनप्रभ, नलिनराज, नलिनध्वज, नलिनपुंगव, पद्मप्रभ, पद्मराज, पद्मध्वज और पद्मपुंगव ये चौदह कुलकर होवेंगे। इनमें से प्रथम कुलकर की ऊँचाई चार हाथ और अन्तिम कुलकर की ऊँचाई सात हाथ की होगी।

उस समय विविध औषधियों के होते हुए भी श्रेष्ठ अग्नि नहीं रहती, तब विनय से युक्त मनुष्यों को वे कुलकर उपदेश देते हैं—मथ करके अग्नि उत्पन्न करो और अन्न को पकाओ तथा विवाह करके बान्धव आदि के साथ इच्छानुसार सुख का उपभोग करो। जिनको वे कुलकर इस प्रकार की शिक्षा देते हैं वे अत्यन्त म्लेच्छ सदृश होते हैं। यहाँ विशेष यह है कि अंतिम कुलकर पद्मपुंगव के समय से विवाह विधियाँ प्रचलित हो जाती हैं।

2.5.3 दुषमा-सुषमा काल—

इसके पश्चात् दुषमासुषमा नाम का तृतीय काल प्रवेश करता है। इसके प्रारंभ में ऊँचाई सात हाथ और आयु एक सौ बीस वर्ष प्रमाण होती है। इस समय पृष्ठ भाग की हड्डियाँ चौबीस होती हैं तथा मनुष्य पाँच वर्ण वाले शरीर से युक्त, मर्यादा, विनय एवं लज्जा से सहित, सन्तुष्ट और सम्पन्न होते हैं।

इस काल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। उनमें से प्रथम तीर्थंकर अंतिम कुलकर का पुत्र होता है। उस समय से वहाँ विदेहक्षेत्र जैसी वृत्ति अथवा अवसर्पिणी के चतुर्थ काल जैसी वृत्ति होने लगती है।

भविष्यत्काल के चौबीस तीर्थंकर—महापद्म, सुरदेव, सुपार्श्व, स्वयंप्रभ, सर्वप्रभ, देवसुत, कुलसुत, उदंक, प्रोष्ठिल, जयकीर्ति, मुनिसुव्रत, अर, अपाप, निष्कषाय, विपुल, निर्मल, चित्रगुप्त, समाधिगुप्त, स्वयंभू, अनिवृत्ति, जय, विमल, देवपाल और अनन्तवीर्य ये चौबीस तीर्थंकर होंगे। इनमें से प्रथम तीर्थंकर की ऊँचाई सात हाथ और आयु एक सौ सोलह वर्ष तथा अंतिम तीर्थंकर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष एवं आयु एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण होगी।

भविष्यत्कालीन तीर्थंकरों के पूर्व के तृतीय भव के नाम—ये तीर्थंकर जिन तृतीय भव में तीनों लोकों को शोभित करने वाले तीर्थंकर नामकर्म का बंध करते हैं, उनके उस समय के ये नाम हैं—श्रेणिक, सुपार्श्व, उदंक, प्रोष्ठिल, कृतसूर्य, क्षत्रिय, पाविल, शंख, नन्द, सुनन्द, शशांक, सेवक, प्रेमक, अतोरण, रैवत, कृष्ण, बलराम, भगलि, विगलि, द्वीपायन, माणवक, नारद, सुरूपदत्त और अन्तिम सात्यकिपुत्र (रुद्र) ये सब राजवंश में उत्पन्न हुए थे।

भविष्यत्काल के बारह चक्रवर्ती—भविष्यत्काल में तीर्थंकरों के समय जो बारह चक्रवर्ती होंगे उनके नाम—भरत, दीर्घदन्त, मुक्तदन्त, गूढ़दन्त, श्रीषेण, श्रीभूति, श्रीकान्त, पद्म, महापद्म, चित्रवाहन, विमलवाहन और अरिष्टसेन।

भविष्यत्काल के नव बलभद्र—चन्द्र, महाचन्द्र, चन्द्रधर, वरचन्द्र, सिंहचन्द्र, हरिचन्द्र, श्रीचन्द्र, पूर्णचन्द्र और सुचन्द्र ये पूर्व भव में निदान को न करके पुण्य के उदय से नौ बलदेव होते हैं।

भविष्यत्काल के नव नारायण—नन्दी, नन्दिमित्र, नन्दिभूति, नन्दिषेण, बल, महाबल, अतिबल, त्रिपृष्ठ और द्विपृष्ठ ये नव नारायण बलदेवों के अनुज होंगे।

भविष्यत्काल के नव प्रतिनारायण—श्रीकंठ, हरिकंठ, नीलकंठ, अश्वकंठ, सुकंठ, शिखिकंठ, अश्वग्रीव, हयग्रीव और मयूरग्रीव ये नव प्रतिनारायण, नारायणों के प्रतिशत्रु होंगे।

ये त्रेसठ शलाका पुरुष बयालीस हजार वर्ष कम कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण इस तृतीयकाल में क्रम से उत्पन्न होंगे। इस काल के अन्त में मनुष्यों की आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण, ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष और पृष्ठ भाग की हड्डियाँ चौंसठ होंगी। इस समय के नर-नारी देव एवं अप्सराओं के सदृश होंगे।

2.5.4 सुषमादुषमा काल—

इसके पश्चात् सुषमादुषमा नामक चतुर्थकाल प्रविष्ट होता है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की आयु एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण होती है, मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण होती है पुनः क्रम से आयु, ऊँचाई और बल बढ़ते ही जाते हैं। इसमें कल्पवृक्षों की उत्पत्ति हो जाती है।

उस समय यह पृथ्वी जघन्य भोगभूमि कही जाती है, इसके अन्त में मनुष्यों की आयु एक पल्य प्रमाण होती है, ऊँचाई एक कोस और मनुष्यों का वर्ण प्रियंगु जैसे वर्ण का होता है। कल्पवृक्षों से भोग सामग्री प्राप्त होती है। इन भोगभूमियों का वर्णन अवसर्पिणी काल के कथन में किया जा चुका है। यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है।

2.5.5 सुषमा काल—

इसके बाद सुषमा नामक पाँचवाँ काल प्रविष्ट होता है। इसके प्रथम प्रवेश में मनुष्य-तिर्यञ्चों की आयु आदि मध्यम भोगभूमि के सदृश होते हैं अर्थात् एक पल्य से लेकर अन्त में दो पल्य की आयु हो जाती है एवं एक कोस से

लेकर क्रम से अन्त में दो कोस तक शरीर की ऊँचाई हो जाती है। ये नर–नारी पूर्ण चन्द्र सदृश मुख वाले, बहुत विनयी, शील से सम्पन्न, एक सौ अट्ठाईस पृष्ठ भाग की हड्डियों से सहित होते हैं। यह काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है।

2.5.6 सुषमासुषमा काल–

तदनंतर सुषमा–सुषमा नामक छठा काल प्रविष्ट होता है। उसके प्रथम प्रवेश में आयु आदि पहले के समान होते हैं। काल के स्वभाव से मनुष्य और तिर्यंचों की आयु बढ़ते–बढ़ते अंत में तीन पल्य की आयु और ऊँचाई तीन कोस प्रमाण होती है, मनुष्यों के वर्ण उदित होते हुए सूर्य के सदृश होते हैं, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ दो सौ छप्पन होती हैं। उस समय यह पृथ्वी उत्तम भोगभूमि नाम से प्रसिद्ध हो जाती है। वे भोगभूमिज बहुत परिवार की विक्रिया करने में समर्थ ऐसी शक्तियों से संयुक्त होते हैं। यह काल चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है।

इस प्रकार से उत्सर्पिणी के षट्कालों का परिवर्तन पूर्ण होता है। इसके पश्चात् फिर नियम से वह अवसर्पिणी काल प्रवेश करता है।

षट्काल परिवर्तन कहाँ-कहाँ है?

भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्डों में अरहघटिका के न्याय से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल अनन्तानन्त होते हैं।

2.6 हुंडावसर्पिणी–

असंख्यात अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी काल की शलाकाओं के बीत जाने पर प्रसिद्ध एक हुंडावसर्पिणी आती है। इसके चिन्ह ये हैं—

इस काल के भीतर सुषमादुषमा नामक तृतीय काल की स्थिति में कुछ काल अवशिष्ट रहने पर भी वर्षा आदि पड़ने लगती है और विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है। इसी तृतीय काल में कल्पवृक्षों का अन्त और कर्मभूमि का व्यापार प्रारंभ हो जाता है। उसी काल में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस हुण्डावसर्पिणी के दोष से चक्रवर्ती का विजयभंग, उसी के द्वारा की गई ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति भी हो जाती है। इस काल में अट्ठावन ही शलाका पुरुष होते हैं और नौंवे से लेकर सोलहवें तीर्थंकर तक सात तीर्थों में धर्म का विच्छेद हो जाता है। ग्यारह रुद्र और कलहप्रिय नव नारद उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त सातवें, तेईसवें और अंतिम तीर्थंकर के ऊपर उपसर्ग भी होता है। तृतीय, चतुर्थ व पंचमकाल में उत्तम धर्म को नष्ट करने वाले विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिंगी भी दिखने लगते हैं। चाण्डाल, शबर, श्वपच तथा किरात आदि निकृष्ट जातियाँ तथा बयालीस कल्की व उपकल्की भी होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, वज्राग्नि आदि का गिरना, इत्यादि विचित्र भेदों को लिए हुए नाना प्रकार के दोष इस हुण्डावसर्पिणी काल में हुआ करते हैं।

2.7 ग्यारह रुद्र–

भीमावली, जितशत्रु, रुद्र, वैश्वानर, सुप्रतिष्ठ, अचल, पुण्डरीक, अजितंधर, अजितनाभि, पीठ और सात्यकिपुत्र ये ग्यारह रुद्र अंगधर होते हुए तीर्थकर्ताओं के समयों में हुए हैं। इनमें से प्रथम रुद्र ऋषभनाथ के काल में और जितशत्रु अजितनाथ के काल में हुआ है, इसके आगे सात रुद्र क्रम से सुविधिनाथ से लेकर सात तीर्थंकरों के समय में हुए हैं। दसवाँ रुद्र शान्तिनाथ के समय में और सात्यकिपुत्र वीर भगवान के तीर्थ में हुआ है। सब रुद्र दसवें पूर्व का अध्ययन करते समय विषयों के निमित्त से तप से भ्रष्ट होकर सम्यक्त्वरूपी रत्न से रहित होते हुए घोर नरकों में डूब गये।

2.8 नव नारद–

भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, दुर्मुख, नरकमुख और अधोमुख ये नौ नारद हुए हैं। ये सब नारद

अतिरुद्र होते हुए दूसरों को रुलाया करते हैं और पाप के निधान होते हैं। सब ही नारद कलह एवं महायुद्ध प्रिय होने से वासुदेवों के समान नरक को प्राप्त हुए हैं।

2.9 चौबीस कामदेव–

भगवान बाहुबली, अमिततेज, श्रीधर, यशोभद्र, प्रसेनजित, चन्द्रवर्ण, अग्निमुक्ति, सनत्कुमार (चक्रवर्ती), वत्सराज, कनकप्रभ, सिद्धवर्ण, शान्तिनाथ (चक्र.), कुंथुनाथ (चक्र.), अरनाथ (चक्री), विजयराज, श्रीचन्द्र, राजा नल, हनुमान, बलगज, वसुदेव, प्रद्युम्न, नागकुमार, श्रीपाल और जम्बूस्वामी।

चौबीस तीर्थंकरों के समयों में अनुपम आकृति के धारक ये बाहुबली आदि चौबीस कामदेव होते हैं।

तीर्थंकर, उनके माता-पिता, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, रुद्र, नारद, कामदेव और कुलकर पुरुष, ये सब भव्य होते हुए नियम से सिद्ध होते हैं। तीर्थंकर तो उसी भव से नियम से सिद्ध होते हैं, अन्यों के लिए उसी भव का नियम नहीं है।

2.10 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जो कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे क्या कहलाते हैं ?

(क) श्रमण ☐
(ख) जिन ☐
(ग) मुनि ☐

प्रश्न 2-अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में प्रत्येक के कितने-कितने भेद हैं ?

(क) आठ-आठ ☐
(ख) छह-छह ☐
(ग) बारह-बारह ☐

प्रश्न 3-जिसमें मनुष्यों एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई, वैभव आदि घटते रहते हैं वह क्या कहलाता है ?

(क) उत्सर्पिणी काल ☐
(ख) अवसर्पिणी काल ☐
(ग) हुण्डावसर्पिणी काल ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-कल्पवृक्ष कितने होते हैं, नामोल्लेख करते हुए किन्हीं पांच के कार्यों को बताइए ?

प्रश्न 2-कुलकर कितने होते हैं, नाम बताएं ?

प्रश्न 3-शलाका पुरुष कितने और कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 4-चौबीस कामदेव कौन-कौन से हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-उत्सर्पिणी काल में षट्कालों का परिवर्तन किस प्रकार होता है, विस्तार से बताएं ?

पाठ 3–जैनधर्म की तीर्थंकर परम्परा

3.1 ईश्वर का स्वरूप जैनदर्शन में-

विश्व के अनेक दार्शनिक और साधारणजन भी एक ऐसी सर्वशक्तिमान ईश्वर नाम की सत्ता को मानते हैं, जिसने उनकी मान्यता के अनुसार इस सृष्टि की रचना की है जो उसके प्रबंध-संचालन की सारी व्यवस्था करता है। बिना उसकी इच्छा—आज्ञा के पत्ता तक नहीं हिलता। जैनदर्शन ऐसे किसी भी अनादिसिद्ध ईश्वर—परमात्मा की सत्ता को नहीं मानता—स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार प्रत्येक जीवात्मा अपनी स्वतंत्र सत्ता को लिये हुए अपने ही पुरुषार्थ से रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) धारण कर तप-साधना द्वारा नवीन कर्मों के उदय में आने का संवरण तथा पूर्व में बंधे सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा कर सर्वोच्च शुद्धावस्था (ईश्वरत्व) को प्राप्त कर सकता है। "सम्पूर्ण कर्मों का क्षय–नाश होना ही जिनशासन में मोक्ष कहा गया है।" सभी जीव तो नहीं किन्तु उनमें से जो अतिशय पुण्यशाली आत्माएँ कषाय रहित शुद्धभाव से विशिष्ट कर्म करती रहती हैं और मुक्त होने से पहले समस्त प्राणीजगत को मुक्त होने का मार्ग दिखाती हैं, जैन परम्परा उन्हें ही ईश्वर—परमात्मा मानती है और वे "धर्मतीर्थ" के प्रवर्तक होने से "तीर्थंकर" कहलाते हैं।

3.2 तीर्थ और तीर्थंकर–

जो तिरा दे—पार करा दे अथवा तिरने—पार होने में सहायक—साधक हो उसे "तीर्थ" कहते हैं। जिस धर्ममार्ग से जन्म-मरण और दुःखरूप संसार सागर से पार होकर मुक्ति प्राप्त की जा सके उसे "धर्मतीर्थ" कहते हैं। ("रयणत्तय संजुत्तो जीवो वि हवेई उत्तमं तित्थं" अर्थात् रत्नत्रय से सम्पन्न जीव ही उत्तम धर्मतीर्थ हैं।) उसके प्रवर्तक को "तीर्थंकर" कहते हैं। इन तीर्थंकरों के पावन निर्वाणस्थलों को जैन परम्परा में "तीर्थ" कहते हैं। इन जिनवरों के मार्ग पर चलकर आत्मकल्याणार्थ एकनिष्ठ साधना करने वाले मुनि, आर्यिका आदि सच्चे गुरुओं को "जंगमतीर्थ" कहते हैं। ये तीर्थंकर अनादिकाल से अनंत हो चुके हैं और आगे भी अनंत होते रहेंगे। ये मनुष्यगति से ही होते हैं अन्य किसी से नहीं और वह भी क्षत्रिय कुल में भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्रों में पायी जाने वाली कर्मभूमियों में ही होते हैं।

3.3 तीर्थंकर की विशिष्टता—

तीर्थंकर प्रकृतिसम्पन्न जीव जन्म से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान के धारी होते हैं। उनके गर्भ में आने से पूर्व उनकी माताओं को सोलह शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं जो उनके गर्भ में आने के शुभ सूचक होते हैं। गर्भ में आते ही स्वर्ग की देवियाँ उन माताओं की सार-सम्हार और सेवा-सुश्रूषा करने लग जाती हैं। जन्मते ही ऐरावत हाथी पर आरूढ़ इन्द्र इन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं और वहाँ क्षीरसागर के निर्मल जल से भरे एक हजार आठ कलशों से अभिषेक करते हैं जो उनकी अनंत शक्ति का परिचायक है। उनके जीवन से संबंधित गर्भ, जन्म, दीक्षा (तप), ज्ञान और निर्वाण कल्याणक होते हैं। ये पाँचों ही कल्याणक कल्याणकारी होने से कल्याणक कहे जाते हैं। चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय) कर्मों के क्षय से केवलज्ञान होने पर सर्वज्ञता को प्राप्त तीर्थंकर अरहंतावस्था में समवसरण नाम से अभिहित धर्मसभाओं में तीर्थंकर प्रभु की चतुर्मुख दिव्यध्वनि खिरती है, जो जगत के प्राणियों को जन्म-जरा के दुष्चक्र और दुःख रूप संसार सागर से छुटकारा पाने का मार्ग दिखाते हैं। तीर्थंकर प्रभु की उन धर्मसभाओं में देव, मनुष्य और पशु-पक्षी सभी होते हैं। आयु सहित शेष बचे चार अघातिया कर्मों के क्षय होने पर वे निर्वाण—मोक्ष प्राप्त कर अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अव्याबाध सुख, अनंतवीर्य, सम्यक्त्व, अगुरुलघु, अवगाहनत्व और सूक्ष्मत्व इन गुणों के धारक सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

3.4 तीर्थंकर माता द्वारा सोलह स्वप्न दर्शन एवं फल—

तीर्थंकर भगवान के गर्भ में आने के छह महीने पहले ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर माता के आँगन में त्रिकाल में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा प्रतिदिन करता है। इस प्रकार छह महीने पहले से लेकर नौ महीने पर्यंत पन्द्रह महीने तक रत्न और सुवर्ण की वर्षा होती रहती है। अनन्तर गर्भावतरण के प्रसंग में रात्रि के पिछले प्रहर में माता को सोलह स्वप्न दिखते हैं। वह माता प्रात:काल राजसभा में आकर अपने पतिदेव से उन स्वप्नों का फल पूछती हैं और वे राजा उन स्वप्नों का फल अपने अवधिज्ञान से बतलाते हैं।

सोलह स्वप्न— वे कहते हैं कि हे देवि! सबसे प्रथम ऐरावत हाथी के देखने से तुम्हें उत्तम पुत्र प्राप्त होगा। धवल, उत्तम बैल को देखने से वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा। सिंह के देखने से अनन्त बल से युक्त होगा। मालाओं के देखने से समीचीन धर्मतीर्थ का चलाने वाला होगा। लक्ष्मी के देखने से वह सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों के द्वारा अभिषेक को प्राप्त होगा। चन्द्रमा के देखने से समस्त लोगों को आनन्द देने वाला होगा। सूर्य के देखने से देदीप्यमान प्रभा का धारक होगा। दो कलश देखने से अनेक निधियों को प्राप्त होगा। मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा। सरोवर के देखने से अनेक लक्षणों से शोभित होगा। समुद्र के देखने से केवली होगा। सिंहासन के देखने से जगत् का गुरु होकर साम्राज्य को प्राप्त करेगा। देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा। नागेन्द्र का भवन देखने से वह अवधिज्ञान लोचन से सहित होगा। चमकते हुए रत्नों की राशि देखने से गुणों की खान होगा और निर्धूम अग्नि के देखने से कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाला होगा तथा तुम्हारे मुख में जो वृषभ ने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर भगवान अपना शरीर धारण करेंगे।

इस प्रकार पतिदेव के वचन सुनकर रानी हर्ष से रोमांचित हो जाती हैं। उस समय भगवान स्वर्ग से अवतीर्ण होकर माता के गर्भ में सीप के सम्पुट में मोती की तरह सब बाधाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हो जाते हैं। उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होने वाले चिन्हों से भगवान के गर्भावतार का समय जानकर वहाँ आते हैं और नगर की प्रदक्षिणा देकर भगवान के माता-पिता को नमस्कार करके संगीत, नृत्य, महोत्सव आदि से अनेकों उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थानों पर वापस चले जाते हैं, उसी समय से लेकर इन्द्र की आज्ञा से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये षट्कुमारियाँ और दिक्कुमारियाँ माता के समीप रहकर माता की सेवा, स्तुति और तत्त्वगोष्ठियों से माता का मन अनुरंजित करने लगती हैं।

3.5 तीर्थंकर का जन्म—

तीर्थंकर का जन्म होते ही इन्द्रों के आसन कम्पित हो जाते हैं, देवों के मुकुट स्वयं झुक जाते हैं, कल्पवृक्षों से पुष्पवृष्टि होने लगती है। उस समय कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों के भवनों में क्रम से अपने आप ही घंटा, सिंहनाद, भेरी और शंखों के शब्द होने लगते हैं। इन चिन्ह विशेषों से देवगण भगवान के जन्म को समझ लेते हैं। तीन लोक के नाथ का जन्म होते ही सर्वत्र सुख की लहर दौड़ जाती है।

इन्द्र की आज्ञा पाकर सभी चतुर्निकाय के देवगण और देवों की सेनाएँ स्वर्ग से निकलती हैं। सौधर्म इन्द्र अपनी शचि इन्द्राणी सहित एक लाख योजन विस्तृत ऐरावत हाथी पर चढ़कर आकर नगरी की त्रिप्रदक्षिणा देकर अयोध्या नगरी में पहुँच जाता है। इन्द्राणी द्वारा प्रसूतिगृह से लाये गये जिनबालक का दर्शन कर सौधर्म इन्द्र उसे गोद में लेकर हाथी पर बैठकर सुमेरुपर्वत की ओर प्रस्थान कर देता है। उस समय करोड़ों बाजों की ध्वनि से, नृत्यगीत महोत्सव से सर्वत्र आनंद मंगल हो जाता है। सुमेरु पर्वत पर ईशान कोण की पांडुकशिला पर सिंहासन पर भगवान को विराजमान करके इन्द्र अपनी हजारों भुजाओं के द्वारा हजारों कलशों को एक साथ लेकर जिनबालक का अभिषेक करता है। सभी इन्द्र-

देवगण अभिषेक, पूजा, स्तुति आदि से महान् सातिशय पुण्य का बंध कर लेते हैं।

इन्द्राणियाँ भी भगवान का अभिषेक कर पश्चात् भगवान को वस्त्राभरणों से अलंकृत करती हैं। इन्द्र वहीं पर तीर्थंकर का नामकरण कर देते हैं पुनः वापस लाकर माता–पिता को सौंपकर तांडव नृत्य आदि करके माता–पिता की पूजा करके भगवान की सेवा के लिए समान अवस्था और समान वेष वाले देवकुमारों को निश्चित कर अपने–अपने स्वर्ग को चले जाते हैं। भगवान माता का दूध नहीं पीते हैं किन्तु इन्द्र के द्वारा हाथ के अँगूठे में स्थापित अमृत को पीते हुए—अँगूठे को चूसते हुए वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भगवान अपनी पहली अवस्था में मन्द–मन्द हँसते हुए, देव बालकों के साथ रत्नधूलि में क्रीड़ा करते हुए माता–पिता के आनन्द को बढ़ाते रहते हैं। मति–श्रुत–अवधि तीन ज्ञान के धारी होने से समस्त वाङ्मय को प्रत्यक्ष करने वाले सरस्वती के एकमात्र स्वामी भगवान समस्त लोक के स्वयं गुरू कहलाते हैं अतः वे किसी को गुरू नहीं बनाते हैं। भगवान के जन्म से ही दश अतिशय विशेष होते हैं। भगवान के लिए स्वर्ग के रत्नपिटारों से लाई गई भोगोपभोग सामग्री का गृहस्थाश्रम में भगवान उपभोग करते हैं।

किसी निमित्त से या स्वभाव से ही तीर्थंकर को जब वैराग्य होता है—

तब लौकांतिक देव आकर भगवान के वैराग्य की स्तुति करते हुए अपनी भक्ति प्रगट करते हैं। देवों द्वारा लाई गई पालकी पर भगवान आरुढ़ होते हैं और पहले राजागण अनन्तर विद्याधर मनुष्य उस पालकी को ले जाते हैं पश्चात् देवगण पालकी को दीक्षावन तक ले जाते हैं। वहाँ शुद्ध शिला पर भगवान विराजमान होकर पंचमुष्टि केशलोंच करके सर्वपरिग्रह त्याग करके 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। भगवान के केशों को इन्द्रगण रत्नपिटारे में रखकर बड़े आदर से क्षीरसमुद्र में क्षेपण करते हैं। भगवान केवलज्ञान प्रकट होने तक छद्मस्थ अवस्था में मौन रखते हैं।

जब भगवान के ध्यान के प्रभाव से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है—

तब उन्हें तीन लोक और अलोक को स्पष्ट एक समय में प्रत्यक्ष दिखलाने वाला ऐसा केवलज्ञान—पूर्णज्ञान प्रकट हो जाता है। उस समय भगवान का आकाश में पाँच हजार धनुष ऊपर गमन हो जाता है। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवसरण की रचना करता है। इस भूमि से एक हाथ ऊँचाई से समवसरण की सीढ़ियाँ प्रारंभ हो जाती हैं जो कि एक–एक हाथ प्रमाण की बीस हजार रहती हैं। इन सीढ़ियों को सभी अंधे, लंगड़े, बालक, वृद्ध, रोगी एक अन्तर्मुहूर्त में पार कर लेते हैं।

3.6 समवसरण की रचना कैसी होती है ?—

समवसरण में सबसे पहले धूलिसाल कोट है, उसके बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जल से भरी हुई परिखा है, फिर पुष्पवाटिका—लतावन है, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे और दोनों ओर दो–दो नाट्यशालाएं हैं, उसके आगे दूसरा अशोक आदि का वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनंतर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके आगे स्तूप और स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएं हैं, तदनन्तर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयंभू भगवान अरहंत देव विराजमान रहते हैं। अरहंत देव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुखकर जिस समवसरण भूमि में विराजमान होते हैं उसके चारों ओर प्रदक्षिणारूप से क्रमपूर्वक बारह गणों के बैठने योग्य बारह सभाएँ होती हैं।

केवलज्ञान प्रकट होने पर तीर्थंकर भगवान को दश अतिशय और प्रकट हो जाते हैं तथा देवों द्वारा किये गये 14

देवगण अभिषेक, पूजा, स्तुति आदि से महान् सातिशय पुण्य का बंध कर लेते हैं।

इन्द्राणियाँ भी भगवान का अभिषेक कर पश्चात् भगवान को वस्त्राभरणों से अलंकृत करती हैं। इन्द्र वहीं पर तीर्थंकर का नामकरण कर देते हैं पुनः वापस लाकर माता–पिता को सौंपकर तांडव नृत्य आदि करके माता–पिता की पूजा करके भगवान की सेवा के लिए समान अवस्था और समान वेष वाले देवकुमारों को निश्चित कर अपने–अपने स्वर्ग को चले जाते हैं। भगवान माता का दूध नहीं पीते हैं किन्तु इन्द्र के द्वारा हाथ के अँगूठे में स्थापित अमृत को पीते हुए—अँगूठे को चूसते हुए वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भगवान अपनी पहली अवस्था में मन्द–मन्द हँसते हुए, देव बालकों के साथ रत्नधूलि में क्रीड़ा करते हुए माता–पिता के आनन्द को बढ़ाते रहते हैं। मति–श्रुत–अवधि तीन ज्ञान के धारी होने से समस्त वाङ्मय को प्रत्यक्ष करने वाले सरस्वती के एकमात्र स्वामी भगवान समस्त लोक के स्वयं गुरू कहलाते हैं अतः वे किसी को गुरू नहीं बनाते हैं। भगवान के जन्म से ही दश अतिशय विशेष होते हैं। भगवान के लिए स्वर्ग के रत्नपिटारों से लाई गई भोगोपभोग सामग्री का गृहस्थाश्रम में भगवान उपभोग करते हैं।

किसी निमित्त से या स्वभाव से ही तीर्थंकर को जब वैराग्य होता है—

तब लौकांतिक देव आकर भगवान के वैराग्य की स्तुति करते हुए अपनी भक्ति प्रगट करते हैं। देवों द्वारा लाई गई पालकी पर भगवान आरुढ़ होते हैं और पहले राजागण अनन्तर विद्याधर मनुष्य उस पालकी को ले जाते हैं पश्चात् देवगण पालकी को दीक्षावन तक ले जाते हैं। वहाँ शुद्ध शिला पर भगवान विराजमान होकर पंचमुष्टि केशलोंच करके सर्वपरिग्रह त्याग करके 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। भगवान के केशों को इन्द्रगण रत्नपिटारे में रखकर बड़े आदर से क्षीरसमुद्र में क्षेपण करते हैं। भगवान केवलज्ञान प्रकट होने तक छद्मस्थ अवस्था में मौन रखते हैं।

जब भगवान के ध्यान के प्रभाव से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है—

तब उन्हें तीन लोक और अलोक को स्पष्ट एक समय में प्रत्यक्ष दिखलाने वाला ऐसा केवलज्ञान—पूर्णज्ञान प्रकट हो जाता है। उस समय भगवान का आकाश में पाँच हजार धनुष ऊपर गमन हो जाता है। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवसरण की रचना करता है। इस भूमि से एक हाथ ऊँचाई से समवसरण की सीढ़ियाँ प्रारंभ हो जाती हैं जो कि एक–एक हाथ प्रमाण की बीस हजार रहती हैं। इन सीढ़ियों को सभी अंधे, लंगड़े, बालक, वृद्ध, रोगी एक अन्तर्मुहूर्त में पार कर लेते हैं।

3.6 समवसरण की रचना कैसी होती है ?—

समवसरण में सबसे पहले धूलिसाल कोट है, उसके बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जल से भरी हुई परिखा है, फिर पुष्पवाटिका—लतावन है, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे और दोनों ओर दो–दो नाट्यशालाएं हैं, उसके आगे दूसरा अशोक आदि का वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनंतर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके आगे स्तूप और स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएं हैं, तदनन्तर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयंभू भगवान अरहंत देव विराजमान रहते हैं। अरहंत देव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुखकर जिस समवसरण भूमि में विराजमान होते हैं उसके चारों ओर प्रदक्षिणारूप से क्रमपूर्वक बारह गणों के बैठने योग्य बारह सभाएँ होती हैं।

केवलज्ञान प्रकट होने पर तीर्थंकर भगवान को दश अतिशय और प्रकट हो जाते हैं तथा देवों द्वारा किये गये 14

अतिशय प्रकट हो जाते हैं। भगवान के आठ प्रातिहार्य होते हैं तथा चार अनन्त चतुष्टय भी प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान बहुत काल तक धर्मोपदेश देते हुए विहार करते हैं।

अनन्तर योग निरोध कर शेष अघातिया कर्मों का भी नाश कर मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ अनन्तानन्तकाल तक स्वात्मजन्य सुख का अनुभव करते रहते हैं।

3.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जो तिरा दे–पार कर दे अथवा तिराने–पार करने में सहायक हो उसे क्या कहते हैं ?

(क) तीर्थ ☐
(ख) नौका ☐
(ग) तीर्थंकर ☐

प्रश्न 2-तीर्थंकर जन्म से ही कितने ज्ञान के धारी होते हैं ?

(क) 1 ☐
(ख) 3 ☐
(ग) 5 ☐

प्रश्न 3-चौदहवें मनु–कुलकर का नाम बताइए ?

(क) चक्षुष्मान् ☐
(ख)प्रीतिंकर ☐
(ग) नाभिराय ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-तीर्थंकर भगवान कहाँ–कहाँ जन्म लेते हैं ?

प्रश्न 2-तीर्थंकर शब्द का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 3-तीर्थंकर की माता कितने और कौन–कौन से स्वप्न देखती हैं ?

प्रश्न 4-समवसरण रचना का संक्षेप में वर्णन कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-तीर्थंकर भगवान का जन्म दु:ख–सुखरूप काल में ही क्यों होता है ? वर्णन कीजिए ?

पाठ 4 – जीवनदान : एक सत्य कथानक

4.1 पूजन की सामग्री हाथ में लिये हुए बहुत से सेठ लोग आगे बढ़ते चले जा रहे हैं और बहुत से भक्त वापस आ रहे हैं। यह देखकर मृगसेन धींवर भी उधर ही बढ़ा, आगे देखता है एक महामुनिराज मध्य में विराजमान हैं। भक्त लोग उनकी भक्ति में तत्पर हैं। मध्य-मध्य में समय पाकर लोग मुनिराज से कुछ नियम-व्रत भी ग्रहण कर रहे हैं। मृगसेन दूर से खड़ा-खड़ा देख रहा है, उसके कंधे पर जाल पड़ा हुआ है। वह सोच रहा है 'ऐसे मुनियों के दर्शन करके मैं भी क्यों न अपने जन्म को सफल कर लूँ।' वहीं पर एक तरफ अपने कंधे पर से जाल को उतार कर रख देता है और गुरु के निकट आकर उन्हें नमस्कार कर एक तरफ बैठ जाता है। अवकाश देखते ही निवेदन करता है—"हे गुरुदेव! मुझे भी कोई व्रत दीजिये।"

मुनिराज मन में सोचने लगे–'बगुले की तरह मछलियों को मारने में तत्पर ऐसा यह धीवर, इसका मन आज व्रत धारण करने के लिए कैसे हो रहा है ? लोक में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि भविष्य में होने वाले शुभ या अशुभ के बिना प्राणियों का स्वभाव नहीं बदलता है।' ऐसा सोचते ही मुनिराज ने अपने दिव्य अवधिज्ञान से समझ लिया कि यह निकट संसारी है। जल्द ही संसार के दु:खों से छुटकारा पाने वाला है और इसकी आयु भी अब कुछ ही शेष बची है। वे बोले—

"भद्र! तुमने बहुत अच्छा सोचा है, तुम ऐसा नियम ग्रहण करो कि 'आज तुम्हारे जाल में सबसे प्रथम जो मछली आयेगी, उसको जीवनदान दे देना' तथा 'जब तक तुम्हें अपने हाथ में जीविकारूप मांस प्राप्त न हो तब तक के लिए मांस का त्याग कर दो।' और—

'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।'

इस पैंतीस अक्षर के महामंत्र को हमेशा जपते रहना 'सुख में हो या दु:ख में' यह मंत्र हमेशा तुम्हारी रक्षा करेगा।"

"जो आज्ञा गुरुदेव", ऐसा कहकर गुरु के कहे अनुसार नियम को ग्रहण कर मृगसेन प्रसन्नचित्त होकर गुरु को नमस्कार करता है और पुन: उठकर अपना जाल उठाकर कंधे पर रखकर अपने गन्तव्य की ओर चल देता है। क्षिप्रा नदी के किनारे पहुँचकर प्रतिदिन के समान नदी में जाल बिछाकर बैठ जाता है। कुछ ही क्षण में एक बड़ी-सी मछली जाल में फँस जाती है। वह सोचता है कि आज मुझे इस मछली को मारना नहीं है चूँकि महामुनि ने मुझे व्रत दिया है। शीघ्र ही वह अपने वस्त्र का किनारा फाड़कर उस चिन्दी को उसके गले में बाँध देता है और उसे वापस नदी में छोड़ देता है। उसके हाथ में छटपटाती हुई वह मछली कुछ ही क्षणों में अपने प्राणों के आधारभूत जल को प्राप्त कर उसी में तैरने लगती है। सच है, जीवन से बढ़कर अन्य और कोई वस्तु इस विश्व में नहीं है। जिसने किसी को जीवनदान दिया उसने उसे सब कुछ दिया और जिसने किसी का जीवन हर लिया, उसने उसका सब कुछ हर लिया।

मृगसेन उसी स्थान में उस मछली को छोड़कर पुन: उठकर अपना जाल लेकर नदी पर कुछ दूर जाकर बैठ जाता है और पुन: उस किनारे पर जाल बिछा देता है। कुछ देर बाद उसके जाल में एक मछली पुन: फँस जाती है। जाल उठाकर देखता है तो उसके गले में वही वस्त्र की चिन्दी बंधी हुई है। सोचता है यह मछली तो पहली बार जाल में आई थी। कुछ भी हो, इसका घात अपने को नहीं करना है। इसे जीवनदान देना ही है। बस! उसने उसे पुन: वहीं जल में छोड़ दिया और जाल उठाकर कुछ दूर जाकर पुन: बिछा दिया। ऐसे ही शाम होने तक वही मछली पाँच बार उसके जाल में आती है और पांचों ही बार वह उसे नदी में छोड़ देता है और अंत में खाली हाथ घर वापिस लौट आता है। घंटा नाम की उसकी स्त्री उसे खाली हाथ आया देखकर झुँझला उठती है और बकना शुरू कर देती है—

"अरे मूर्ख! तू आज खाली हाथ कैसे आ रहा है ? अब क्या पत्थर खायेगा ?"

"मैंने आज एक दिगम्बर मुनि के पास एक नियम लिया है कि जो मछली पहले जाल में फँसे उसे ....." बीच में ही बात काटकर वह बोलने लगती है।

"बस बस, उसी नंगे के पास जा, दिनभर बैठा रह, तेरा पेट भर जायेगा।"

"अरी सुन तो सही, मैं दिन भर वहीं नहीं था, नदी पर ही गया और जाल भी डाला था।"

"फिर क्या हुआ ?"

"मैंने तो यह नियम लिया था कि सबसे पहले जो मछली जाल में आये उसे नहीं मारना।"

"तो क्या दिनभर मछली नहीं फँसी ?"

"हाँ, मैं क्या करूँ ? दिन भर वही मछली आती गई।"

"यह वही है, ऐसा तूने कैसे जाना ?"

"मैंने जो उसके गले में कपड़े की चिन्दी बाँध दी थी।"

"अरे निर्बुद्धे! मुझे तो भूख लगी है, अब क्या खाऊँ ?"

ऐसा बकते-झकते वह तो झोंपड़ी में घुस गई और दरवाजा बंद करके अंदर से साँकल लगा ली। मृगसेन बेचारा जब घर में नहीं जा सका, तब वह एक तरफ जाकर पंचनमस्कार मंत्र को जपने लगा। उसे भूख भी लग रही थी, किन्तु "आज मैं पुण्यशाली हूँ जो कि गुरु के द्वारा दिया हुआ नियम पाल रहा हूँ" ऐसा सोचकर संतुष्ट था। पास में पुराने वृक्ष की जड़ फैली हुई थी उसी को तकिया बनाकर धरती में लेट गया और गहरी नींद सो गया, परन्तु बेचारा ऐसा सोया कि फिर वापस उठा ही नहीं। उस वृक्ष की जड़ बहुत दूर तक खोखली थी उस में से एक साँप निकला, उसने उसे काट लिया। नमस्कार मंत्र जपते-जपते वह सोया था, व्रत पालन के प्रति भी उसका बहुत ही आदर था तथा उस दिन उसको मछली न मिल सकने से माँस भोजन का भी त्याग हो गया था।

घंटादेवी सुबह दरवाजा खोलकर बाहर निकलती है, इधर-उधर देखती है कि पतिदेव कहाँ चले गये ? सहसा उसकी दृष्टि एक तरफ वृक्ष के नीचे पहुँचती है। ओह! अभी तक यह सो रहा है, इसे आज की कुछ चिंता नहीं, फिर वापस उसका पारा चढ़ जाता है, धीरे-धीरे उधर बढ़ती है और झुँझला कर बोलती है–

"क्या अभी तक भोर नहीं हुआ ?"

प्रातःकाल की सुषमा अपनी लालिमा बिखेरते हुए मानो उसको हँसा रही है, वह पुनः चिल्लाने लगती है–

"अरे उठ तो, अब तो भूख के मारे मैं मर रही हूँ, जा–जा, आज जल्दी से कुछ लेकर आ।" फिर भी कुछ उत्तर नहीं मिलता है और न करवटें ही बदलता है तब वह घंटादेवी आगे बढ़कर देखती है कि उसकी भुजा से खून की धारा बही हुई है और चींटियाँ उधर को रेंगती चली जा रही हैं। धीरे से उसके मुँह पर का ढका हुआ कपड़ा अलग करती है तो यह क्या ? उसमें तो श्वांस नहीं है। घबड़ाकर जोर-जोर से रोने लगती है। उसका करुण क्रन्दन सुनकर कुछ पड़ोसी इकट्ठे हो जाते हैं–

"अरे रे! आज यह कैसे सोया था ?"

"तुझे मालूम नहीं क्या ? इसकी औरत बहुत ही कर्कशा है, उसने घर से निकाल दिया होगा ?"

"कौन जाने बाबा ? वह तो बेचारा मर गया।"

"चलो, चलो उसका क्रियाकर्म तो करा दो। हाँ, देखो ना बेचारी घंटादेवी कैसी बिलख रही है।"

"यह तो इतनी मूर्ख है कि अपना पेट भी नहीं भर सकती।"

इसी बीच में कुछ लोग उससे पूछते हैं—

"बता तो सही, क्या हुआ ? कल कुछ झगड़ा हुआ था क्या ?" पुनः बीच में एक वृद्ध सज्जन आकर बोलते हैं—

"भाई! अब क्या पूछना ? वह तो मरा पड़ा है। कफन लाओ, इसकी चिता तैयार कराओ।"

लोग मिलकर शव को चिता में रखकर उसमें आग लगा देते हैं। इसी मध्य घंटा आकर बोलती है—

"जो मेरे पति का नियम था वही नियम मेरा भी होवे और अगले भव में भी यही मेरा पति होवे।" ऐसा कहकर उसमें कूदने लगती है, लोग हल्ला मचाने लगते हैं–

"अरे अरे, यह क्या ? तू क्यों मर रही है ?"

"रोको, रोको, पकड़ो, दौड़ो जल्दी।"

"बाई सुन तो, उसकी आयु पूरी हो गई, मर गया। अब तू शांति रख।"

बहुत कुछ हल्ला–गुल्ला होने पर भी वह घंटा उसी चिता में कूद पड़ती है और देखते–देखते कुछ ही क्षण में भस्मसात् हो जाती है। लोग तरह–तरह की चर्चा करते हुए अपने–अपने घर चले जाते हैं–

"बेचारी औरत बहुत ही अच्छी थी, देखो ना, पति के साथ अपना जीवन समाप्त कर दिया।"

"इसने अंत में कहा था' जो पति का नियम था वो ही मेरा भी हो' सो क्या था ?"

"कौन जाने ? उसे बताये भी कौन ? बेचारी मर गई।"

"इसे बहुत अच्छी गति मिलेगी।"

"हाँ, जैसी कुछ ईश्वर की मर्जी होगी।"

"इस मृगसेन ने कुछ न कुछ नियम जरूर निभाया है, ऐसा मालूम पड़ता है।"

"इसीलिए तो इन दोनों का परलोक सुधर गया, ऐसा मालूम पड़ता है।"

"बहुत शांतचित्त होकर आये हुए संकट का सामना करना है। आखिर आपकी समझ में क्या आता है ? क्या करना चाहिए ?"—

"आप स्वयं बुद्धिमान हैं। आप जैसी आज्ञा दें, मुझे स्वीकार है।"

"मेरी समझ में तो अब हर हालत में अपने को यह विशाला नगरी छोड़नी ही पड़ेगी।"

"जब राजा स्वयं विटपुरुषों का प्रेमभाजन बना हुआ है, विवेकशून्य है और नर्मभर्म विदूषक के पुत्र नर्मधर्म के लिए अपनी पुत्री की याचना कर रहा है, ऐसे राज्य में अपने कुल की रक्षा कैसे हो सकती है ?"

"कहाँ अपनी पुत्री सुबंधु, एकमात्र धर्म की मूर्तिस्वरूप और कहाँ वह विदूषक का लड़का दुर्व्यसनी। यदि उसको हम अपनी पुत्री दे देंगे तो निश्चित ही अपनी कुल परम्परा नष्ट हो जायेगी और चारों तरफ अपवाद भी फैल जायेगा।"

"भला, सुबन्धु इन दुष्टों की नजर में पड़ी कैसे ?"

"सुना है किसी दिन वह जिनमंदिर जा रही थी, मार्ग में इन लोगों के समूह ने उसे देख लिया। पता चलाया कि वह किसकी लड़की है। बस उसके बाप ने राजा से प्रार्थना की।"

"अब तो एक निर्णय कीजिये और आज्ञा दीजिये। मेरी चिंता आप बिल्कुल न कीजिये। इस समय अपनी पुत्री की सुरक्षा करना आपका परम कर्त्तव्य है।"

"किन्तु प्रिये! आपकी यह अवस्था, न इधर–उधर आपको ले जाया जा सकता और न मैं आपको यहाँ कहीं छोड़कर जाना ही उचित समझता हूँ क्या करूँ ? समस्या जटिल है।"

बेचारे सेठ गुणपाल राजा विश्वम्भर के आकस्मिक समाचार से अत्यधिक चिंतित हैं। दीर्घ नि:श्वास छोड़कर अंत में निर्णय देते हैं—

"आप मेरे परम मित्र श्रीदत्त सेठ के यहाँ रहिये, चूँकि गर्भवती अवस्था में मेरे साथ प्रवास कैसे बनेगा ? मैं पुत्री सुबंधु को लेकर कौशांबी देश की तरफ जा रहा हूँ। न होगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। जब मैं ही यहाँ नहीं होऊँगा तब वह किसका क्या बिगाड़ेगा अन्यथा सर्वस्व हरण व प्राणदंड भी दे सकता है। चूँकि मैं अपने जीते जी कन्या को ऐसे विदूषक

पुत्र के साथ तो नहीं विवाहूँगा।"

दीर्घ नि:श्वास छोड़ती हुई धनश्री अंत में कुछ भी उपाय न देखकर पति की आज्ञा शिरोधार्य करती है और पुत्री को लेकर पति को कौशांबी जाने की स्वीकृति प्रदान करती है। गुणपाल सेठ भी अपने परम मित्र श्रीदत्त के यहाँ धनश्री पत्नी को छोड़कर आप अपनी अतुल सम्पत्ति और कन्या सुबन्धु को साथ लेकर गुप्तरीति से कौशाम्बी की तरफ रवाना हो जाते हैं।

कुछ ही दिन के बाद धनी और निर्धन के मकान का भेद न करते हुए शिवगुप्त और मुनिगुप्त नाम के दो दिगम्बर मुनि चर्या के लिए श्रीदत्त के मकान के सामने से निकलते हैं। पड़ोस में ही एक गृहस्थ उनका पड़गाहन करके उन्हें विधिवत् आहार प्रदान करता है। आहार के अनंतर आँगन में उन्हें काष्ठासन पर विराजने की प्रार्थना करता है। मुनिराज कुछ क्षण के लिए बैठ जाते हैं। अड़ोस-पड़ोस के कई पुरुष व महिलाएँ तथा बालगोपाल लोग मुनियों के दर्शन हेतु उमड़ पड़ते हैं।

इसी बीच में तेलादि के बिना जिसका शरीर रुक्ष हो गया है व केश भी रुक्ष हो गये हैं, जिसने केवल दो वस्त्र धारण किये हुए हैं। सधवा के चिन्हस्वरूप मंगलसूत्र, चूड़ी आदि बहुत थोड़े से अलंकार धारण किये हुए हैं, पति और पुत्री के वियोग से जिसका शरीर खेदखिन्न हो रहा है, जो गर्भ के भार से पीड़ित है और दूसरे के घर में रहने से जिसके मुख की शोभा नष्ट हो गई है। घर के आँगन में बैठी हुई धनश्री को देखकर मुनिगुप्त मुनिराज ने कहा—

"ओह! इसकी कोख में कोई बड़ा पापी पुरुष आया हुआ जान पड़ता है कि जिसके गर्भ में आने मात्र से इस बेचारी की यह दुर्दशा हो रही है।"

इतना सुनते ही शिवगुप्त नामक बड़े मुनिराज कहने लगे—

"मुनिगुप्त! ऐसा मत कहो, यद्यपि यह सेठानी कुछ दिन तक इस तरह पराये घर में रहेगी, फिर भी इसका पुत्र जिनधर्म का धुरन्धर होगा। समस्त वैश्यों का स्वामी और अपार सम्पत्तिशाली राजश्रेष्ठी होगा तथा राजा विश्वंभर की पुत्री का वरण करेगा।"

आँगन के सामने अपने मकान के बाहर चबूतरे पर खड़े हुए श्रीदत्त ने यह बात सुन ली। 'दिगम्बर मुनियों का कथन झूठा नहीं होता' ऐसा सोचकर श्रीदत्त सेठ विषधर सर्प की तरह अपने मन में दुष्ट संकल्प करने लगे। 'ओह! इसका पुत्र अपने आश्रय को ही खाने वाला होगा इसीलिए इसका उपाय अभी से ही सोच लेना चाहिए। जड़ को ही समाप्त कर देना उचित होगा। पहले से ही उसने किसी वृद्धा धाय को सब समझा-बुझा दिया।'

जब धनश्री ने पुत्ररत्न को जन्म दिया उस समय वह प्रसूति की पीड़ा से मूर्च्छित हो गई, तब धाय ने उस बालक को शीघ्र ही ले जाकर सेठ श्रीदत्त को सौंप दिया और यहाँ घर में हल्ला मचा दिया कि बालक मरा हुआ ही पैदा हुआ है। धनश्री सेठानी जब सचेत होती है, 'बालक मरा हुआ ही हुआ था' ऐसा सुनती है, फिर भी पुत्र के मुख को देखने के लिए व्याकुल हो उठती है परन्तु कुछ वृद्धा स्त्रियाँ आकर समझाती हैं—

"पुत्री! तू मृतक पुत्र को देखकर उसका दु:ख झेल नहीं सकती थी इसीलिए तेरे भाई श्रीदत्त ने उसे जल्दी ही यहाँ से हटवा दिया है। तू अब धैर्य धारण कर, संकट का समय आता है, चला जाता है।"

पति और पुत्री के वियोग में भी वह बेचारी धनश्री भावी संतान की आशा से जैसे-तैसे प्राणों को धारण कर रही थी। अब उसके धैर्य का बाँध टूट गया, फूट-फूट कर रोने लगी—

"हे दुर्दैव! तूने मुझे पुत्र का मुख नहीं देखने दिया। हाय! मैं मृतक पुत्र को भी देख तो लेती। हे पतिदेव! आपने जाने के बाद आज तक मेरी खबर नहीं ली, माँ के वियोग में सुबन्धु कन्या कैसे रह सकती है ? कौन जाने अब पतिदेव का दर्शन कब होगा ?"

बेचारी धनश्री बार-बार रुदन करती है और मूर्च्छित हो जाती है, पुनः सचेत हो जाती है। कुछ दिन बाद धीरे-धीरे तत्त्वज्ञान के बल से अपने आपको शांत करती है और पूर्ववत् दिवस व्यतीत करने लगती है।

इतना सुंदर बालक! माता का स्नेह इसके ऊपर होने के पहले ही इसका गुप्त वध करा देना ही श्रेष्ठ है। ओह! यह मेरे कुल का क्षय करने वाला है, मेरे राजश्रेष्ठी पद को ग्रहण करने वाला है। इसी बीच में उस एकांत कमरे में चांडाल प्रवेश करता है—

"कहिये सेठजी! क्या आज्ञा है ?"

सोने के सिक्कों से भरी हुई थैलियों की तरफ इशारा करते हुए सेठजी बोलते हैं—

"हाँ, यह लो और इस बालक को ले जाओ। हाँ, देखो! बहुत ही सफाई व चतुराई से काम करना है कि जिससे मेरी उज्ज्वल कीर्ति पर कलंक न लग जाए। बस, इसका काम तमाम कर दो।"

"जो आज्ञा अन्नदाता की" ऐसा कहकर वह चांडाल सोने की मोहरों से भरी हुई थैलियाँ उठाकर उनकी गठरी बाँधकर कंधे पर रखता है और कपड़े से लपेट कर बालक को बगल में दबाकर चल देता है। धन–संपत्ति को अपने घर में रखकर और हाथ में छुरा लेकर गाँव के बाहर निर्जन वन में पहुँचता है। कपड़े में से बालक को निकालकर नीचे पृथ्वी पर सुलाकर उसे एकटक देख रहा है—

"यह गुलाब के फूल जैसा कोमल बालक, तत्काल का जन्मा हुआ बेचारा। इसने सेठजी का क्या बिगाड़ा है ? पता नहीं सेठजी इसे क्यों मरवा रहे हैं ? जो भी हो, अब तो इसका जीवन और मरण अपने ऊपर ही निर्भर है। "सोचते-सोचते उस चांडाल का हृदय करुणा रस से एकदम आर्द्र हो उठता है। ".....छि, छि, ऐसे कोमल और सर्वगुण सुंदर बालक को मारना महापाप है। छोड़ो, इसे यहीं घोर जंगल में छोड़कर अपन चलें, इसके भाग्य में जो होना होगा, सो होगा। अरे! जंगल में न जाने कितने क्रूर प्राणी विचरण कर रहे हैं। कोई न कोई अपने आप ही इसको अपना आहार बना लेगा। अपन अपने हाथ से इस निर्दोष बालक पर छुरा क्यों चलायें ?"

वह क्रूरकर्मा चांडाल जब उस बालक को वहीं जंगल में छोड़कर चला जाता है तब उसी क्षण श्रीदत्त का छोटा बहनोई इंद्रदत्त व्यापार हेतु जाते हुए उस जंगल के पास के गाँव में पहुँचता है। वहाँ पर अनायास ग्वालों के बालक चर्चा कर रहे थे–

"अरे, चल, चल तुझे दिखाऊँ। एक छोटा सा बहुत ही सुंदर बालक जंगल में एक पत्थर पर सोया हुआ है।"

"तुझे किसने बताया ?"

"अभी-अभी मेरा छोटा भैया देखकर आया है। जल्दी आ, नहीं तो उसे कोई उठा ले जायेगा।"

सेठ इंद्रदत्त बच्चों के पीछे-पीछे उस निर्जन वन के एकांत स्थान में पहुँचते हैं और देखते हैं कि ग्वालों के बच्चों ने वहाँ मेला बना रखा है। बहुत से गाय के बछड़े भी वहीं उछल-कूद मचा रहे हैं। उस समय वह बालक ऐसा दिख रहा है मानो अनेक चंद्रकांत मणियों के मध्य कोई एक पद्मरागमणि का खजाना ही हो। सेठजी जल्दी से बालक को अपनी गोद में उठा लेते हैं और व्यापार में एक अपूर्व लाभ हो गया, ऐसा सोचते हुए हर्षितचित्त अपने घर पहुँच जाते हैं—

"राधे! आप पुत्रहीन थीं, मानो यह आपका दुःख विधाता से नहीं देखा गया इसीलिए उसने यह कुलतिलक पुत्र अपने को दिया है। लो, इसे लेकर अपने वन्ध्यापन के कलंक को दूर करो।"

राधा सेठानी पुत्र को गोद में लेती हैं तो उनके सारे शरीर में हर्ष के मारे रोमांच हो आता है। 'आज मैं धन्य हो गई, मैं पुत्रवती हो गई।' ऐसा सोचते हुए वह खुशी से फूली नहीं समाती है।

सेठजी एक कुशल वृद्धा धाय को बुलाकर उसे राधा की सेवा में नियुक्त कर देते हैं। सेठानी के गूढ़ गर्भ था, आज पुत्र का जन्म हुआ है। यह वार्ता कर्णोपकर्णी चारों तरफ फैल जाती है। पुत्र जन्म का बहुत ही बड़ा उत्सव मनाया जा रहा

है। सेठजी के मित्रगण बधाई देने आये हैं। याचकजन आते चले जा रहे हैं और सेठजी का खजांची खुले हाथ धन-संपत्ति बाँट रहा है। श्रीदत्त सेठ के पास भी समाचार पहुँचता है कि तुम्हारी छोटी बहन के पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है, श्रीदत्तजी उसी दिन वहाँ पहुँचते हैं और भानजे के जन्म-उत्सव में भाग लेते हैं। उनके मन में कुछ आशंका घर कर जाती है।

"कहीं चांडाल ने मुझे धोखा तो नहीं दिया ?" फिर वे बहनोई से कहते हैं—

बड़े ही सौभाग्य से मेरी बहन के पुत्ररत्न का जन्म हुआ है अत: इस भानजे का लालन-पालन मेरे घर में ही होना चाहिए।"

"अच्छी बात है, मुझे कोई आपत्ति नहीं।" ऐसा कहकर अपने साले श्रीदत्त के साथ इंद्रदत्त ने अपनी पत्नी राधा को पुत्र सहित भेज दिया। घर में आते ही श्रीदत्त ने विचार किया कि इस बालक का काम भी शीघ्र ही कर देना चाहिये। विलम्ब करना ठीक नहीं अत: उसने पुन: एक बधिक को बुलाकर और पहले से भी अधिक धन उसे देकर बोला—

"देख, बहुत ही चतुराई से काम करना है, ले शीघ्र ही इस बालक को ले जा।"

बधिक धन को सुरक्षित स्थान में रखकर और कपड़े से छिपाकर बालक को लिये नदी के किनारे पहुँचता है किन्तु जैसे बालक का पुण्य ही उसे मारने से रोक रहा हो, वह कुछ एक क्षण एकटक ही देखता है। उसके हृदय में भी करुणा का स्रोत उमड़ पड़ता है। वह क्रूर चाण्डाल भी बहुत से वृक्षों के झुंड में उस बालक को रखकर उसे उसी के भाग्य भरोसे छोड़कर अपने घर चला जाता है।

निकट के गाँव से बहुत-सी गायें उधर चरने आ रही हैं। वे सब इस बालक के पुण्य प्रताप से खिंची हुई इधर बढ़ती चली आ रही हैं। गायें इस बालक को देखकर रंभाने लगीं जैसे मानो उन्हें अपना ही बछड़ा मिल गया हो। कोई एक गाय बालक को पास खड़ी हो गई तो उसके थनों से दूध झरने लगा। बालक दूध पी रहा है और आनंद से किलकारियाँ भर रहा है। इस आश्चर्यकारी दृश्य को देखकर ग्वाले दौड़े-दौड़े अपने मालिक गोविन्द के पास पहुँचकर सारा समाचार सुना देते हैं। गोविन्द कुछ ऊहापोह किये बिना वहाँ पहुँचकर उस फूल जैसे सुकोमल बालक को देखता है। पुत्र स्नेह से विभोर हो उठता है। पुत्र को गोद में उठाते ही उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठता है। वह आनंदित होता हुआ घर आकर अपनी स्त्री सुनंदा को पुत्र को देते हुए कहता है—

"सुनंदे! परमात्मा ने आज प्रसन्न होकर तेरे लिए यह कुलदीपक भेजा है।"

दोनों हाथ फैलाकर सुनंदा उस सुंदर बालक को ले लेती है और छाती से चिपका लेती है। सात दिन बाद उस बालक का 'धनकीर्ति' यह नामकरण किया जाता है। बालक पालने में झूलता हुआ माता-पिता को हर्षित करता ही रहता है किन्तु गोविन्द के घर में हमेशा पड़ोस की महिलाओं व बच्चों का मेला ही लगा रहता है। उस बालक को देख-देखकर, खिला-खिलाकर, दूध पिला-पिलाकर व हँसा-हँसाकर भी कोई तृप्त नहीं हो पाता है। सबके लिए वह कौतुक का स्थान बना हुआ है। कुछ दिनों में वह जमीन पर सरकने लगा। धीरे-धीरे वह लड़खड़ाते पगों से घर से बाहर निकल कर गौशाला में पहुँचकर गाय के बछड़ों में खेलने लगा। रूप में कामदेव के समान सुंदर, कांति में चंद्रमा की समानता करता हुआ और अपने तेज से सूर्य के सदृश होता हुआ यह बालक दिन-पर-दिन बढ़ने लगा। उसकी वृद्धि के साथ-साथ ही उसके गुण भी बढ़ते चले जा रहे हैं। किशोर अवस्था को प्राप्त हुआ बालक गोपालों के बालकों के साथ खेलता हुआ सभी के मध्य प्रधान रहता है। इससे आबाल-गोपाल भी यह कल्पना किया करते है कि यह कोई महिमाशाली प्रभावी बालक है। गोविन्दराज और सुनंदा तो उसके अद्‌भुत-प्रभाव को देख-देखकर फूले नहीं समाते हैं। हमेशा अपने भाग्य की सराहना करते रहते हैं। समय अपनी तीव्र गति से बढ़ता चला जा रहा है।

"आज क्या है ?"—

"क्यों बेटा! तू ऐसा क्यों पूछा रहा है ?"

"आज माँ ने चारों तरफ खूब सफाई कर रखी है। सब कोई अच्छे-अच्छे कपड़े पहने हुए है। माँ ने मुझे भी नये-

नये कपड़े पहनाये हैं। पिताजी! बता दो आज कौन सा त्योहार है ?"

"बेटा! आज कुछ भी त्योहार नहीं है। फिर भी अपने मालिक यहाँ आये हुए हैं। तूने देखा नहीं क्या ? वो सामने के कमरे में ठहरे हुए हैं।"

"वे क्यों आये हैं ?"

"वे घी लेने आये हैं। बेटा! वे बहुत ही बड़े व्यापारी हैं, उनके यहाँ लाखों रुपयों का घी बिकता है। वह सब हम लोगों के यहीं से तो जाता है इसीलिए आज वे अपने यहाँ सौदा करने आये हैं। ये विशाला नगरी के राजश्रेष्ठी हैं। बहुत नामी और धर्मात्मा व्यक्ति हैं।"

कुछ क्षण बाद सेठ श्रीदत्त गोविन्द से घी का भाव समझ रहे हैं। इसी बीच यह धनकीर्ति वहाँ आ जाता है। सेठजी उस बालक के रूप-लावण्य को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। आखिर मन में अनेक संकल्प-विकल्प करते हुए पूछ बैठते हैं–

"गोविन्द! यह बालक किसका है ?"

"आपका ही है सरकार!"

"सच, क्या यह तुम्हारे घर जन्मा है ?"

"परमेश्वर ने हमें यह प्रसाद में दिया है।"

"तभी तो मैं पूछ रहा हूँ। गोविन्द! तुम सही-सही इसका वृत्तान्त कहो तो।"

"हाँ, हाँ धनकीर्ति! तू जा अपनी माँ से कह दे कि आज सेठजी के लिए दही का रायता, बढ़िया चावल की खीर, मक्खन और अच्छी-अच्छी चीजें बना ले।" ऐसा कहकर गोविन्द धनकीर्ति को वहाँ से हटा देता है। पुनः अपने विश्वसनीय सेठजी से कहना शुरू करता है—

"सेठजी! आज से लगभग सोलह वर्ष पूर्व की बात है तमाम सारे ग्वाले दौड़े-दौड़े आये और बोले—'मालिक! नदी के किनारे वृक्षों के झुरमुट में एक गोरा-गोरा बालक सीधा लेटा हुआ है और अपनी सब गायें एक-एक करके उसके पास जाती हैं। उनके खड़े होते ही उनके थनों से दूध झरने लगता है। उसको बालक बड़े मजे से पी रहा है। मैंने सोचा, क्या भगवान श्रीकृष्ण ही यहाँ अवतार लेकर आ गये हैं। मैं जल्दी से वहाँ पहुँचा और उस बालक को उठा लाया। जब से वह बालक मुझको मिला है मेरी सम्पत्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती ही चली जा रही है। ईश्वर हमें छप्पर फाड़कर लक्ष्मी दे रहा है। मैं उस दिन से अपने को बहुत ही भाग्यशाली समझता हूँ।"

"सच में तेरे भाग्य देवता तुझ पर बहुत प्रसन्न हैं ?"

"हाँ अन्नदाता!"

घी का सौदा हो जाता है, पुनः सेठजी बोल पड़ते हैं—"गोविन्द! अभी मुझे यहाँ काम बहुत है और मेरा एक घर के लिए जरूरी काम दिमाग में आ गया है।"

"आज्ञा दीजिये।"

"इस धनकीर्ति के हाथ कुछ जरूरी समाचार अपने लड़के को भेजना है।"

"आपके आदेश को भला मैं कैसे टाल सकता हूँ ? बेटा धनकीर्ति!"

अंदर से आवाज आती है—

"हाँ पिताजी!"

"यहाँ आओ।"

धनकीर्ति आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है—

"देखो बेटा! ये सेठजी तुम्हें अपने घर कुछ समाचार देकर भेज रहे हैं। हाँ, तुम ठीक से जाना। देखो, इनसे सब रास्ता समझ लो।"

सेठजी एक पत्र लिखकर अपने हाथ से उसके गले में बंधी हुई सोने की कंठी में बाँध देते हैं और उसे जाने का मार्ग समझा देते हैं। अंदर से सुनंदा की आवाज आती है–

"बेटे को खाना खिलाकर ही भेजना, यह अभी भूखा है।"

"अरे, क्यों चिंता करती हो ? सेठजी का काम जल्दी का है, वहीं खाना खा लेगा, जाने दो।"

धनकीर्ति पिताजी और सेठजी को प्रणाम कर उनकी आज्ञा के अनुसार वहाँ से चल पड़ता है। घर के बाहर निकलने के बाद सुनंदा दौड़ी-दौड़ी जाकर सकोरे में दही भात लिये उसे खिला देती है। आगे बढ़ते ही सामने से ग्वालिनियाँ दही के मटके सिर पर रखे हुए मिल जाती हैं और गाँव के बाहर निकलते ही सामने मोर नाचते दिखाई देते हैं। धनकीर्ति कौतुक से मोर को देखते हुए उज्जयिनी नगरी की तरफ चल देता है। नगर के पास बगीचे में पहुँचकर बहुत ही थक जाने से वहीं आम के वृक्ष के नीचे सो जाता है।

इसी समय नगरी की एक वेश्या की अनंगसेना नाम की कन्या यहाँ पुष्पों का संग्रह करने के लिए आती है। वस्त्रालंकारों से सुसज्जित अतिशय सुंदरी वह कन्या इधर-उधर उस बगीचे की शोभा देख रही है। अकस्मात् उसकी दृष्टि उस युवक पर पड़ती है। पूर्व जन्म के संस्कारवश वह उसे एकटक देख रही है। मालूम पड़ता है कि यह मेरा कोई परमोपकारी बंधु है। देखते-देखते अनंगसेना की दृष्टि उसके गले में बँधे हुए पत्र पर पड़ी। उसने शीघ्र ही उसे खोल लिया और बड़ी आत्मीयता से पढ़ने लगी। उसमें लिखा था—

"प्रिय पुत्र महाबल! यह लड़का हमारे वंश का विनाश करने के लिए अग्नि के समान है इसीलिए या तो इसे विष दे देना या मूसल से मार डालना। यह कार्य अतिशीघ्र कर देना।"

"ओह! यह दुष्ट व्यापारी कितना धूर्त है।" ऐसा सोचकर उस अनंगसेना ने उस पत्र के लेख को मिटाया और अपनी आँख में लगे हुए कज्जल को लेकर लताओं की नयी कोपली के रस में भिगोया पुनः तृण के द्वारा उस कज्जल से उसी पत्र पर दूसरा लेख लिख दिया–

"यदि सेठानी! तुम मेरे वचनों को मानती हो और यदि पुत्र महाबल! तुम मुझे अपना पिता मानते हो तो तुम लोग मेरे आने की अपेक्षा न करके शीघ्र ही अग्नि की साक्षीपूर्वक और दान-सम्मान आदिपूर्वक अपनी बहन श्रीमती का इसके साथ विवाह कर दो। मैंने इसकी सात पीढ़ियों तक की शुद्धि समझ ली है। इसमें किसी प्रकार का संकोच मत करो और अतिशीघ्र ही यह काम पूर्ण कर दो।"

वेश्या की कन्या अनंगसेना ने ऐसा पत्र लिखकर पूर्ववत् उसके गले में बाँध दिया और आप बेला, चमेली, फूलों को चुनने में लग गई। इधर नींद पूरी करके धनकीर्ति उठता है, आलस्य को दूर कर पुनः उज्जयिनी में प्रवेश करता है। उसके रूप-सौन्दर्य को देखकर दही बेचने वाली गोपाल कन्याएँ बरबस ही मटके को सिर पर रखे हुए उसके सम्मुख आ जाती हैं। मानो उसका स्वागत ही कर रही हों। वह इन बातों की तरफ लक्ष्य न देता हुआ श्रीदत्त के संकेत के अनुसार उनके मकान को पहचान कर उसमें प्रवेश करता है। कन्या श्रीमती आगंतुक मेहमान की सूचना माँ को दे देती है। माता उसका यथोचित सत्कार करके उसे अच्छे आसन पर बिठाती है। पति के द्वारा दिये हुए पत्र को लेकर पढ़ती है, गद्गद होकर पुत्र महाबल को बुलाकर कहती है।

"बेटा! कन्यायें युवती होने पर माता-पिता के लिए चिंता का विषय बन जाती हैं किन्तु अपन लोग बहुत ही पुण्यशाली हैं। देखो ना! तुम्हारे पिता को अनायास ही कितना सुंदर वर मिल गया है और उन्होंने उसे घर पर ही भेज दिया है।" पत्र उठाकर पुत्र के हाथ में दे देती है। पुत्र महाबल भी हर्ष से रोमांचित होकर बोल उठता है—

"माता! यह युवक भी कितना सुंदर है, मालूम पड़ता है साक्षात् कामदेव की मूर्ति ही हो। अच्छा तो अब पिताजी की आज्ञानुसार अपने को विलम्ब नहीं करना है।"

महाबल शीघ्र ही खजांची को बुलाकर सम्पत्ति का कोठार खुलवा देता है और बड़े ही उत्सवपूर्वक विवाह की तैयारियाँ शुरू कर देता है। ज्योतिषी के द्वारा बताये हुए मुहूर्त में तमाम रिश्तेदारों के समक्ष, तमाम समाज के समक्ष में श्रीमती का विवाह धनकीर्ति के साथ सम्पन्न हो जाता है। सेठानी योग्य जमाई को पाकर, महाबल योग्य बहनोई को पाकर फूले नहीं समाते हैं। चारों तरफ का वातावरण मंगलमयी हो रहा है। चारों तरफ यही चर्चा हो रही है—

"भाई! श्रीदत्त सेठजी तो घी खरीदने गये थे उन्हें ऐसा नररत्न कहाँ मिल गया ?"

"अरे भाई! भाग्य दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु को सुलभ कर देता है। सेठजी बड़े भाग्यशाली हैं।"

"हाँ, हाँ, उस श्रीमती का भाग्य तो देखो! जिसे सूर्य के समान तेजस्वी पति मिला है।"

"बहन! श्रीमती ने पूर्वजन्म में बहुत ही पुण्य कमाया होगा।"

"हाँ बहन! इसमें क्या शक है, बिना पुण्य के ऐसा गुणों का खजाना पति मिलना संभव नहीं है।"

उधर श्रीदत्त सेठ से सोचा कि एक-दो दिन टालकर ही घर पहुँचना उचित होगा क्योंकि उस धनकीर्ति के आकस्मिक मरने की दुर्घटना से पता नहीं कैसा वातावरण चल रहा हो। जब सेठ उज्जयिनी के निकट आते हैं तो बाहर से उन्हें खुशखबरी सुनाने वाले अनेक इष्ट मित्र मिल जाते हैं—

"मित्र! तुम बड़े भाग्यशाली हो, अनायास ही तुम्हें ऐसा सर्वगुण सम्पन्न जमाई मिल गया।"

सेठजी हक्के-बक्के रह जाते हैं। मन में सोचते हैं यह क्या हुआ, यदि कुछ आश्चर्य व्यक्त करता हूँ तो पता नहीं क्या-क्या आशंकायें लोगों में हो जायेंगी। जल्दी-जल्दी घर आकर सारा मामला देखते हैं, अपना लिखा पत्र पढ़ते हैं। माथा धुनकर चुपचाप रह जाते हैं।

श्रीदत्त सेठ एकान्त में बैठे हुए चिन्तासागर में डूब रहे हैं। अनायास नौकर से बोले—नए मेहमान धनकीर्ति को यहाँ भेज दो। धनकीर्ति आकर यथायोग्य विनय करके बैठ जाता है। सेठजी कहते हैं—

"वत्स! मेरे कुल की ऐसी रीति है कि जिस कन्या का नया विवाह होता है उसका पति कंकण खुलने के पहले ही रात्रि के समय कुसुम्भे रंग से रंगे हुए वस्त्र पहनकर उड़द के बने हुए मोर और कौवे की बलि को रक्तवस्त्र से ढककर ले जाकर चंडी देवी के मंदिर में चढ़ाता है अतः तुम्हें भी ऐसा करना होगा।"

"जैसी आज्ञा।" कहकर धनकीर्ति कुलदेवता को अर्पित करने की सामग्री लेकर घर से चल पड़ता है। सामने से आता हुआ साला महाबल उससे पूछ बैठता है—

"धनकीर्ति ! अंधेरी रात में तुम अकेले कहाँ जा रहे हो ?"

"मामा की आज्ञा से बलि देने के लिए चंडी देवी के मंदिर में जा रहा हूँ।"

"यदि ऐसी बात है तो तुम्हारा वहाँ जाना ठीक नहीं है। चूँकि नगर के लोग रात्रि में इस मार्ग में जाना अच्छा नहीं समझते हैं अतः घर को लौट जाओ। मुझे यह सामान दे दो, देवीजी को भेंट समर्पित करने के लिए मैं चला जाऊँगा। यदि पिताजी रुष्ट होयेंगे तो मैं समझाकर उनके रोष को दूर कर दूँगा।"

"जैसी आपकी इच्छा।" ऐसा कहकर धनकीर्ति ने उसके हाथ में बलि का सामान दे दिया और आप घर को वापस लौट गया। इधर महाबल यमराज के पेट में समा गया। सेठजी प्रातःकाल धनकीर्ति को देखकर अवाक् रह गये, चूँकि उन्होंने वहाँ पर मारने वाले चंडाल को बैठा दिया था और कह दिया था कि जो रात्रि में बलि चढ़ाने आये उसे मार डालना, अतः उन्होंने घबड़ाकर पूछा—

"क्या रात्रि में चंडी देवी के मंदिर में गये थे ?"

मैं जा रहा था किन्तु मध्य में साले साहब मिल गये उन्होंने वापस कर दिया और आप मेरे हाथ से बलि का सामान लेकर चले गये। सेठजी घबड़ाये हुए जल्दी-जल्दी दुर्गा मंदिर की तरफ चल पड़े, वहाँ देखते हैं प्रिय पुत्र महाबल का मस्तक और धड़ अलग-अलग पड़ा है। शोक से व्याकुल हो गये, जैसे-तैसे घर तक आये। एक कमरे में पहुँचकर धर्मपत्नी विशाखा को बुलाया और उसको पुत्र मरण का समाचार सुनाते हुए मूर्च्छित हो गये। विशाखा स्वयं पुत्रमरण की आकस्मिक दुर्घटना से वज्र से ताड़ित वृक्ष के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी। कुछ क्षण बाद धाय के द्वारा शीतोपचार किये जाने पर वे दम्पत्ति कुछ शांत हुए और पुत्र की अंतिम क्रिया की।

श्रीदत्त ने विशाखा को एकांत में आद्योपांत सारी घटनायें सुना दीं। वे कहने लगे—

"आश्चर्य है कि इसका भाग्य कितना बलवान है। जन्मते ही मैंने इसे मरवा डालना चाहा, आज चारों बार मैं इसे जीवित देख रहा हूँ। अब यद्यपि इसके मरने में मेरी लाड़ली पुत्री श्रीमती विधवा हो जायेगी, वह जीवन भर दु:ख के आँसू गिरायेगी जो कि अपने लिए सहन करना कठिन प्रतीत होता है फिर भी इसे मारे बगैर मुझे चैन नहीं पड़ सकती। कुछ भी हो, इसे मारने का उपाय सोचना ही होगा। चूँकि यह अभागा मेरे वंश का अनिष्ट करने वाला है।"

विशाखा बहुत देर तक अनेक प्रकार की चिंताओं में डूबती-उतरती रही। अंत में पति की आज्ञा अथवा यमराज की प्रेरणा से ही मानो कुछ निर्णय करके कहा—

"अविचार के कारण आपके सारे उपाय व्यर्थ हो गये हैं अत: अब आप चुप बैठ जाइये। आपकी सब इच्छायें पूर्ण होंगी।"

दूसरे दिन सेठानी दो तरह के लड्डू बनाती है पुन: पुत्री को बुलाकर कहती है–

"बेटी! देख जो ये सफेद कमल की तरह स्वच्छ लड्डू हैं, इन्हें अपने पति को खिला देना और जो ये काले-काले उड़द के समान लड्डू हैं, इन्हें अपने पिताजी को दे देना" इतना कहकर सेठानी नदी में स्नान करने चली गई। इधर पिता और पति दोनों नाश्ते के लिए आकर बैठे। श्रीमती सोचती है जो भी वस्तु तीन जगत् में शुभ हो वह अपने पिता के लिए देना योग्य है, पति के लिए नहीं, चूँकि वह तो राग का कारण है। उसे माता की दुश्चेष्टा का कुछ पता नहीं अत: उसने उल्टा ही कर दिया। पिता के सामने सफेद लड्डू परोस दिये और पति के सामने काले लड्डू रख दिये। दोनों ही बिना किसी भेदभाव के नाश्ता कर रहे हैं किन्तु पिता के पेट में लड्डू पहुँचते ही जहर ने अपना काम शुरू कर दिया। वे व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गये। श्रीमती घबड़ायी—

"यह क्या ?"

इतने ही में विशाखा सेठानी वापस आ जाती है तो देखती है कि पतिदेव सदा-सदा के लिए मूर्च्छित हो चुके हैं। वह छाती कूट-कूट कर रोती है और अंत में पुत्री से कहती है—

"बेटी! महामुनियों का कथन झूठा कैसे हो सकता है ? तेरे पिता ने और मैंने अपने वंश की रक्षा करने की बुद्धि से ही वंश का नाश करने वाला यह गड्ढा खोदा था। अब रोने से क्या होता है ? 'कल्पवृक्ष' के समान, कल्पलता के समान तू अपने इस दैवरक्षित पति के साथ कल्पकाल तक ऐश्वर्य और इंद्रिय सुख को भोग।" ऐसा आशीर्वाद देकर वह भी जहरीला लड्डू खा लेती है और पतिदेव की अनुगामिनी हो जाती है।

श्रीमती, माता के द्वारा थोड़े में कहे गये रहस्य को कुछ समझ नहीं पाती है और आकस्मिक बड़े भाई, पिता और माता के वियोग के शोक से विह्वल हो जाती है। शनैः-शनैः पतिदेव के द्वारा दी गई सान्त्वना और पति के प्रेमपूर्ण व्यवहार से दु:ख को भूलती जाती है और सुख में निमग्न हो जाती है। सो सच ही है क्योंकि समय धीरे-धीरे अपने आप ही इन नव-दम्पत्ति को इंद्रिय सुखों में रमा देता है।

सास-श्वसुर के चल बसने पर धनकीर्ति स्वयमेव सेठजी के स्थान को प्राप्त करके उज्जयिनी नगरी में वैश्यों का स्वामी कहलाता है तथा उसके अपने पुण्य के प्रभाव से उसकी सम्पत्ति दिन-दूनी-रात-चौगुनी बढ़ती चली जा रही है।

4.2 महाराज विश्वम्भर अपनी सभा में बैठे हुए हैं, कुछ मंत्रीगण आस-पास में बैठे हैं। राजा कुछ विचार-विमर्श में निमग्न हैं—

"मंत्रियों! यह धनकीर्ति युवक समस्त वैश्यों का शिरोमणि है। क्या यह बात सच है ?"

"हाँ, महाराज! कुछ ही दिन हुए जब कि सेठ श्रीदत्त ने इसके साथ अपनी पुत्री का विवाह किया। अनंतर किसी दुर्घटनावश वे सेठ, उनकी पत्नी और उनके पुत्र महाबल तीनों ही चल बसे। तब से उनकी सम्पूर्ण चल-अचल सम्पत्ति के ये ही तो मालिक हैं।"

"इसका रूप-सौन्दर्य देखकर तो मैं आज बहुत ही आश्चर्य में पड़ गया। मानो यह साक्षात् कामदेव का ही अवतार है।"

"महाराज! रूप के साथ-साथ इसके गुणों की भी सर्वत्र कीर्ति फैल रही है। यह परम सात्त्विक है, जैनधर्म को पालने वाला है, दानशील है और दया, परोपकार आदि गुणों का भंडार है।"

"मैं तो इसे अपनी पुत्री के लिए सर्वथा योग्य वर समझ रहा हूँ। कहिये, आप लोगों की क्या राय है ?"

"इससे अच्छा वर और कौन होगा ? महाराज! आपने बहुत ही अच्छा सोचा है।"

"तो अब विलम्ब करना ठीक नहीं है। आप ही इस विषय में कुशल हैं।"

"जैसी आज्ञा!" मंत्री धनकीर्ति भी अपनी भार्या श्रीमती से स्वीकृति प्राप्त कर मंत्री को स्वीकृति प्रदान करते हैं। बहुत ही महोत्सव के साथ राजा की पुत्री का विवाह धनकीर्ति के साथ सम्पन्न हो जाता है। राजा विश्वम्भर धनकीर्ति को अनेक रत्न समूह, हाथी, घोड़े, रथ आदि वस्तुएँ देते हैं तथा महामहोत्सव के साथ-साथ उसे राजश्रेष्ठी पद पर स्थापित कर देते हैं। धीरे-धीरे सर्वत्र यह चर्चा फैल जाती है कि यह धनकीर्ति राजश्रेष्ठी सेठ गुणपाल के सुपुत्र हैं। ये किसी दुर्घटनावश गोविन्द नामक गोपाल के स्वामी के यहाँ पले हुए हैं किन्तु धनश्री की कुक्षि से जन्मे हुए हैं।

कर्णोपकर्णी यह चर्चा कौशाम्बी तक पहुँच जाती है। तब गुणपाल सेठ अपनी पत्नी से विचार-विमर्श करके वहाँ से चलने का निर्णय कर लेते हैं। जब श्रेष्ठी धनकीर्ति को पिता के आगमन का समाचार मिलता है तब वह तत्क्षण ही आगे जाकर आधे मार्ग में ही पहुँचकर "जन्म के पहले ही जिनसे वियुक्त हो चुका था" ऐसे पिता के चरणों में नमस्कार कर "जन्म देकर जिसने मुख भी नहीं देखा था" ऐसी माता के चरणों में नमस्कार करता है। माता-पिता और पुत्र का यह मिलन सभी लोगों को अतिशय रोमांचित कर देता है।

महाराज विश्वम्भर इस समाचार को सुनते ही भारी सेना और वैभव के साथ गाँव के बाहर पहुँचकर अपने समधी का स्वागत करते हैं पुनः उत्सव के साथ शहर में प्रवेश कराते हैं। सर्वत्र धनकीर्ति के यश, गुण और पुण्य की चर्चा व्याप्त हो जाती है।

किसी समय धनकीर्ति श्रेष्ठी अपने वृद्ध पिता के साथ सुखपूर्वक महल में बैठे हुए हैं। अनायास द्वारपाल आकर कहता है—

"सेठजी! कोई एक महिला बाहर खड़ी हुई है वह आपसे मिलना चाहती है।"

"अंदर आने दो।"

अनंगसेना अंदर आकर वृद्ध पिता और श्रेष्ठी धनकीर्ति को नमस्कार करके यथोचित स्थान पर बैठ जाती है। पुनः अपना परिचय देते हुए कहती है—

"महाभाग! मैं वेश्या की पुत्री अनंगसेना हूँ। एक दिन आप इस उज्जयिनी नगरी के बाहर आम के बगीचे में सोये हुए थे। उस समय मैं उद्यान में फूल चुनने के लिए पहुँची। वहाँ आपको देखकर हृदय में स्नेह उमड़ आया। ऐसा लगा कि जैसे आप मेरे पूर्व जन्म में कोई परमोपकारी बंधु हैं। मैंने आपके गले की कंठी में एक पत्र बँधा हुआ देखा जिसमें कुछ आपके मारने के समाचार लिखे हुए थे। मैंने उन अक्षरों को मिटाकर और ऐसा लिख दिया। दिन पर दिन आपके

अभ्युदय को सुनकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता होती है।"

अनंगसेना की बात को सुनकर पिता-पुत्र आश्चर्य से सहित हो एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। कुछ क्षण बाद माली आकर कहता है—

"स्वामिन्! तीन लोक में पूज्य महामहिमाशाली महामुनि नगर के बाहर उद्यान में पधारे हैं।"

"बहुत ही शुभ समाचार तुमने सुनाया है।" ऐसा कहकर और माली को यथायोग्य पुरस्कार देकर धनकीर्ति आदि सभी लोग उस उद्यान की दिशा में सात कदम आगे बढ़कर परोक्ष में ही मुनिराज की वंदना करते हैं। पश्चात् सकुटुम्ब दर्शन हेतु जाने की तैयारी करते हैं। वहाँ पहुँचकर विधिवत् गुरुदेव की तीन प्रदक्षिणा देकर सभी लोग वंदना करते हैं पुनः स्तुति और पूजा करके पास में बैठकर गुरु के मुखारविंद से धर्मोपदेश को सुनते हैं। अनंतर गुणपाल सेठ सविनय उन यशोध्वज महामुनि से पूछते हैं—

"भगवन्! मेरे इस पुत्र धनकीर्ति के ऊपर जन्मकाल से अनेक दुष्ट उपसर्ग पाये और सबको जीतकर आज यह सकुशल महा अभ्युदय को भोग रहा है। सो इसने पूर्व में कौन-सा ऐसा पुण्य संचित किया था ? आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ।"

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञान को धारण करने वाले वे मुनिराज अपने दिव्यज्ञान से उनके पूर्वभव को क्षणमात्र में जानकर कहते हैं—

सेठ गुणपाल! इसी अवन्ती देश के शिरीष नामक एक छोटे से ग्राम में एक मृगसेन धीवर रहता था। उसने एक बार मुनिराज के पास जाकर ऐसा नियम लिया कि 'हमारे जाल में पहले पहल जो मछली आयेगी, उसे नहीं मारूँगा।' उस दिन उसके जाल में एक ही मछली पाँच बार आई और उसने पाँचों बार उसे छोड़ दिया। उसी दिन अपनी पत्नी घण्टा के प्रकोप से वह बाहर सोया-सर्प डसने से मरकर यह धनश्री की कुक्षि में आया। उसकी भार्या घण्टा ने प्रातः यह कहा कि 'जो व्रत मेरे पति का था वही मेरा होवे' ऐसे भाव से मरकर यह श्रीदत्त की पुत्री श्रीमती हुई है और जिस मछली की इसने रक्षा की, वह मछली अपनी आयु पूरी कर मरकर यह अनंगसेना हुई है।

हे वैश्यशिरोमणि! अहिंसा व्रत का माहात्म्य देखो, मृगसेन धीवर ने पाँच बार जाल में आई हुई एक मछली को जीवनदान दिया था उसी के पुण्य प्रभाव से इस भव में पाँच बार महान मृत्युकारी आपत्तियों से इसे स्वयं जीवनदान मिला है। पहली बार श्रीदत्त सेठ ने जन्मते ही चांडाल को सौंपा, चांडाल ने जंगल में सुला दिया। इंद्रदत्त सेठ उठाकर ले गये, वहाँ भी श्रीदत्त सेठ पहुँचकर वहाँ से ले आये और पुनः चांडाल को सौंप दिया, फिर भी चांडाल ने नदी किनारे सुला दिया। पुनः गोविन्द गोपाल ने पालकर बड़ा किया। पुनरपि श्रीदत्त सेठ घी लेने गये थे वहाँ से इसे घर भेजा और पत्र में लिख दिया कि इसे मार डालो किन्तु अनंगसेना ने पत्र को विपरीत कर दिया अतः यह श्रीमती का पति बन गया। पुनरपि चौथी बार सेठ ने चंडी के मंदिर में आटे के मोर आदि चढ़ाने भेजे किन्तु बीच में महाबल ने उससे ले जाकर अपने प्राण गँवाये। पुनः पाँचवीं बार सेठानी ने विष के लड्डू बनाये किन्तु कन्या की नासमझी से सेठजी स्वयं काल के गाल में समा गये। यह सारा काण्ड सेठजी ने इसीलिए किया कि गर्भवती धनश्री को देखकर एक मुनि ने ऐसा कहा था कि 'इसके गर्भ में आने वाला बालक इस सेठ के स्थान का स्वामी होकर राजा का जमाई होगा।' अतः इसको अपने कुल का विध्वंसक समझकर सेठ ने इसे मारना चाहा किन्तु स्वयं वे ही अपने द्वारा अपने पुत्र आदि का नाश कर स्वयं भी काल के गाल में चले गये।

इस पूर्वभव के वृत्तान्त को सुनकर धनकीर्ति को संसार से एकदम वैराग्य हो जाता है। वे माता-पिता और दोनों भार्याओं से स्वीकृति लेकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। अन्य लोग भी धर्मप्रेम से सहित होकर यथायोग्य दीक्षा व श्रावक व्रत आदि ग्रहण कर लेते हैं। श्रीमती भी केशलोंच करके आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर लेती है। अनंगसेना अपने

योग्य व्रतों को ग्रहण कर लेती है।

वहाँ से उठकर बहुत से लोग आपस में चर्चा करने लगते हैं—"देखो ना! इसने पूर्वजन्म में एक मछली को पाँच बार जीवनदान दिया था उसके फलस्वरूप यह बचपन में ही उन कष्टों को पार कर गया कि जो देव के द्वारा ही दूर किये जा सकते थे।"

"सच ही है पूर्व पुण्य से जीवों के लिए काल-अग्नि भी जल हो जाती है, समुद्र भी स्थल बन जाता है, शत्रु भी मित्र के समान व्यवहार करने लगता है। हालाहल विष भी अमृत बन जाता है। सम्पूर्ण आपत्तियाँ भी संपत्तिरूप हो जाती हैं और तो क्या सारे विघ्न भयभीत होकर भाग जाते हैं। इसीलिए भाई! हमेशा पुण्य का संचय करना चाहिए।"

"हाँ देखा ना! पूर्व में पुण्य करने से इसे इस जन्म में कितना वैभव मिला था और इसे कैसा अच्छा सौन्दर्य मिला है।"

"सच में इसका तेज सूर्य की तरह है।"

"इसमें असाधारण गुण भरे हुए हैं।"

"गृहस्थावस्था में यह महादानी था, प्रियवादी था, सदा सत्कर्म करने वाला था, इसकी सभी के साथ मित्रता थी, यह स्वप्न में भी स्वजनों को कष्ट नहीं पहुँचाता था, समस्त शास्त्रों में प्रवीण था, जैनधर्म में धुरंधर विद्वान् गिना जाता था।"

"अब तो मुनि अवस्था में यह महाभाग विश्ववंद्य हो गया है। अब तो रत्नत्रयरूपी अक्षयनिधि का स्वामी बन गया है।"

"ऐसे कोमल शरीर से यह घोर तपश्चरण कैसे करेगा ?"

"बन्धु! जो महापुरुष होते हैं, वे घोर तपश्चरण व परीषह से घबराते नहीं हैं, प्रत्युत् इनके द्वारा ही कर्मों का विनाश करते हैं।"

अपनी शेष आयुपर्यंत उत्कृष्ट तप और ध्यान करके धनकीर्ति अंत में सल्लेखना से मरण करके सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हो जाते हैं। वहाँ की तेतीस सागर की आयु पूरी करके मनुष्यलोक में मुनि होकर मोक्ष को प्राप्त करेंगे। चूँकि सर्वार्थसिद्धि में आने वाले जीव एक भवावतारी ही होते हैं, यह नियम है। इस कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनदान देने से बढ़कर और कोई दान व पुण्य इस विश्व में नहीं है। अहिंसा की महिमा सभी स्वीकारते हैं।

4.3 प्रश्नावली-

प्रश्न 1-"आज तुम्हारे जाल में जो सबसे प्रथम मछली आएगी, उसको जीवनदान दे देना" यह वाक्य किससे किसने कहे थे ?

(क) मुनिराज ने मृगसेन धीवर से ☐

(ख) घण्टा ने अपने पति से ☐

(ग) श्रीदत्त सेठ ने एक गरीब से ☐

प्रश्न 2-मृगसेन धीवर मंत्र के प्रभाव से मरकर किस सेठ का पुत्र हुआ ?

(क) श्रीदत्त सेठ ☐ (ख) धनपाल सेठ ☐ (ग) गुणपाल सेठ ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1-शिवगुप्त मुनिराज ने गर्भवती धनश्री को देखकर मुनिगुप्त मुनिराज से क्या कहा ?

प्रश्न 2-श्रीदत्त सेठ ने जब क्रूरकर्मा चाण्डाल को उस बालक की हत्या हेतु उसे सौंपा तो उसने क्या किया ?

प्रश्न 3-जीवनदान देने वाले धीवर की अगले जन्म में कितनी बार प्राण रक्षा हुई ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1-मृगसेन धीवर के कथानक से क्या शिक्षा मिलती है ?

पाठ 5—ब्रह्मचर्य की महिमा

5.1 संसार में भारतीय संस्कृति का अस्तित्व जहाँ अहिंसा-सदाचार और शाकाहार के द्वारा पहचाना जाता है, वहीं ब्रह्मचर्यव्रत इस संस्कृति की पवित्रता को बतलाता है। इस देश में स्त्री और पुरुष दोनों में ब्रह्मचर्य की अडिगता के अनेकानेक उदाहरण जैन शास्त्रों में भरे पड़े हैं। उनमें से ही एक सत्य कथानक यहाँ प्रस्तुत है-

शील धुरंधर सेठ सुदर्शन—मुनिराज उस निर्जन वन में एक शिला पर योगमुद्रा में स्थित हैं। आगम के प्रकाश में अंत:चक्षु के द्वारा वे अपनी आत्मा को देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसी भयंकर शीत ऋतु में वे नग्न दिगम्बर मुनि धैर्यरूपी कंबल ओढ़ रहे हैं और आत्मा को अपने शरीर से भिन्न समझकर मन को एकाग्र करने के पुरुषार्थ में तन्मय हैं। इधर सुभग ग्वाला निकलता है, खुले बदन बैठे हुए महासाधु को देखकर मन में सोचने लगता है—

'अहो! ये महात्मा कैसे हैं ? इनके पास न लंगोटी है न चादर, ऐसी भयंकर ठंडी में जहाँ घर में बैठकर कंबल में मुँह छिपाकर भी दाँत कड़-कड़ बजते हैं, बाहर निकलते ही हाथ-पैर कांपते हैं। ओह! सूर्य अस्त हो चुका है, रात्रि पिशाचनी अपने अंधेरे से सबको ग्रसित करने वाली है। अभी कुछ ही क्षण बाद हाथ पसारा भी नहीं दीखेगा। ठंडी-ठंडी हवा चल रही है, अभी तुषार कण गिरने लगेंगे और देखते ही देखते बरसात के समान वृक्षों के पत्तों से पानी टपकने लगेगा। सुबह होने तक कुहरा छाया रहेगा। बिना वस्त्र के ये बेचारे महात्मा आज की रात कैसे पूरी करेंगे ? ऐसी ठंडी झेलकर कैसे जीवित रह सकेंगे ?

नाना तरह के विचारों के झूले में झूलता हुआ वह ग्वाला कुछ क्षण तक वहाँ स्तब्ध खड़ा रहता है पुनः देखता है मेरी गाय-भैंसें तो बहुत दूर निकल गई हैं। जल्दी-जल्दी पैर उठाकर शहर की ओर बढ़ जाता है। सेठजी की गौशाला में गाय-भैंसों को पहुँचाकर घर पहुँचकर कुछ लकड़ियाँ और आग लेकर वापस गाँव के बाहर उन्हीं मुनिराज के निकट आ जाता है। भक्ति से प्रणाम करता है पुनः मुनिराज के पास में ही बैठकर लकड़ियाँ जला-जलाकर आप स्वयं तापता रहता है। इस प्रकार से वह रात भर जागता हुआ मुनि के पास अग्नि जलाता हुआ, उनकी शीत बाधा को दूर करने में लगा हुआ है। उसे स्वयं को ठंड लग रही है या नहीं, इसका उसे भान नहीं है। बस! उसे एक ही धुन है कि किसी भी तरह से मुनिराज को ठंड न लग जाय। लगभग चौदह घंटे की इतनी बड़ी ठंड की रात पूरी हो जाती है, चारों तरफ कुहरा छाया होने से आकाश में बादल छाये हुए के समान दिख रहा है। पूर्व दिशा में सूर्य उदित हो चुका है किंतु उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो सूर्य देवता को भी ठंड लग रही है और इसीलिए वे कुहरा रूपी कंबल में अपना मुँह ढके हैं। धीरे-धीरे पुरुषार्थ करके सूर्य देवता अपनी हजार किरणों से कुहरे को तितर-बितर कर देते हैं और अपना प्रकाश व प्रताप एक साथ भूमंडल पर फैला देते हैं। मुनिराज अपना ध्यान समाप्त कर उस निकट भव्य ग्वाले की ओर देखते हैं, उसे उपदेश देते हैं।

'भद्र! मैं तुम्हें एक मंत्र देता हूँ तुम अपने हर एक कार्यों में प्रथम ही इस मंत्र को बोला करो—'णमो अरिहंताणं।'

ग्वाला हाथ जोड़कर गुरु का प्रसाद समझते हुए बड़ी श्रद्धा से उस मंत्र को सुनता है, पुनः उच्चारण करता है।

'णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं।'

मुनिराज कहते हैं—

'भव्य! यह मंत्र तुम्हें संसार समुद्र से पार कर देगा इसलिए तुम इसे कभी नहीं छोड़ना, हमेशा ही इसका उच्चारण करते रहना।'

वह ग्वाला भी प्रसन्न होकर बार-बार गुरु चरणों में प्रणाम करता है और मंत्र का उच्चारण करता जाता है। मुनिराज उसे आशीर्वाद देकर स्वयं भी 'णमो अरिहंताणं' मंत्र का उच्चारण करते हुए आकाशमार्ग से विहार कर जाते हैं। वह ग्वाला एकटक देखता ही रह जाता है, आश्चर्यचकित होने लगता है। 'अहो! यह मंत्र कितना चमत्कारी है, देखो तो सही, महात्माजी इसी मंत्र को बोलते हुए आकाश में अधर उड़ते हुए चले गये।'

इस प्रसंग से उसे इस मंत्र पर और भी अधिक श्रद्धा हो जाती है और वह प्रात:काल इसी मंत्र को जपता हुआ अपने घर आ जाता है। स्नान, भोजन आदि प्रत्येक काम करते हुए वह ग्वाला इस मंत्र का उच्चारण कर रहा है। सेठ वृषभदास देखते हैं कि घर का प्रत्येक कार्य करते समय यह मेरा नौकर आज 'णमो अरिहंताणं' इस मंत्र को बोल रहा है वह प्रसन्न होकर पूछते हैं—

'सुभग! तुझे यह मंत्र किसने दिया है ?'

ग्वाला कहता है—

'सेठजी! मैंने कल रात में जंगल में एक महात्मा की सेवा की थी। वे बिल्कुल नंगे बदन बैठे हुए थे। उनके पास मैंने अग्नि जला–जलाकर उनकी ठंड दूर की थी। तब वे प्रसन्न होकर हमें यह प्रसाद दे गये हैं और उन्होंने कहा है कि 'तू इसे घर के हर एक काम करते समय भी बोलते रहना, छोड़ना नहीं ' इसीलिए आज मैं सभी काम करते समय इस मंत्र को बोल रहा हूँ।'

सेठजी कहते हैं—

'बहुत अच्छा, सुभग! तू बड़ा भाग्यशाली है जो कि तुझे यह गुरुप्रसाद मिला है। सचमुच में इस मंत्र से हर एक जीव संसार समुद्र पार कर सकता है। अच्छा देख, आज तू उस सामने वाले मकान में आ जा, वहीं रहना, अपनी टूटी–फूटी झोपड़ी का मोह छोड़ दे।'

ग्वाला मन ही मन सोचने लगता है—

'अरे! आज सेठजी मेरे ऊपर इतने प्रसन्न हो रहे हैं.....मुझे अपना एक पक्का मकान रहने के लिए दे रहे हैं। अहो! इस मंत्र का फल तो मुझे आज ही मिल गया। यह मंत्र कितना बढ़िया है।'

सेठ वृषभदास सेठानी जिनमती से कहते हैं—

'देखो, यह ग्वाला प्रत्येक कार्य करते समय महामंत्र के प्रथम पद का उच्चारण कर रहा है। यह कोई होनहार जीव दिखता है।.....अब तुम इसे प्रतिदिन अच्छा–अच्छा भोजन देते रहना।'

सेठानी कहती है—

'सच में, आज मैं सुबह से देख रही हूँ यह नौकर बड़ी भक्ति से मंत्र बोल रहा है। इसका भविष्य बहुत ही उज्जवल दिख रहा है।'

सेठजी भोजन आदि से निवृत्त हो चले जाते हैं। ग्वाला भी खुशी–खुशी सेठ जी के द्वारा बताये हुए मकान में सपरिवार आकर रहने लगता है। खूब रुचि से सेठजी के गाय–भैंसों की संभाल करता हुआ अपना समय व्यतीत कर रहा है।

एक दिन जंगल में गाय–भैंसों को चरा रहा था कि अकस्मात् कुछ भैंसें नदी के उस पार निकल जाती हैं। उन्हें लाने के लिए वह नदी में कूद जाता है। कूदते समय भी 'णमो अरिहंताणं' इस मंत्र का उच्चारण करता रहता है। अकस्मात् नदी में कूदते ही उसके पेट में एक पैनी लकड़ी घुस जाती है और उसके प्राण निकल जाते हैं। मरते समय महामंत्र का उच्चारण करते–करते वह शांति से इस नश्वर काया को छोड़कर परलोक चला जाता है। इधर समय पर गाय–भैंसें सेठजी के घर वापस आ जाती हैं। ग्वाले को न देखकर सेठजी उसकी खोज कराते हैं। "वह मर गया" सुनकर उसकी पत्नी आदि रोना–धोना करने लगती हैं। सेठ वृषभदास सबको सान्त्वना देते हुए उसके गुणों का विचार करते हुए घर आ जाते हैं।

सेठानी जिनमती उसी दिन रात्रि के पिछले प्रहर में स्वप्न में सुदर्शन मेरु, कल्पवृक्ष, देवभवन, समुद्र और अग्नि इन पाँच उत्तम–उत्तम स्वप्नों को देखती हैं। प्रात:काल उठकर पति से कहती हैं। सेठ वृषभदास भी स्वप्नों को सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं। दोनों दंपती नित्य–क्रिया से निवृत्त होकर जिनमंदिर पहुँचकर जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं। अनंतर सुगुप्त मुनिराज की वंदना करके उनसे प्रार्थना करते हैं—

"भगवन्! आज रात्रि के पिछले प्रहर में सेठानी जिनमती ने कुछ स्वप्न देखे हैं, वे आपके श्रीमुख से उनका फल सुनना चाहती हैं सो कृपाकर उसका फल बताकर हमें अनुग्रहीत कीजिए।'

उसी समय सेठानी हाथ जोड़कर मुनिराज के समक्ष पाँचों स्वप्न सुना देती हैं। मुनिराज कहते हैं—

'हे जिनमती! इन स्वप्नों का फल यह है कि तुम्हारे गर्भ में कोई पुण्यशाली जीव आ गया है। सुदर्शन मेरु के देखने से वह धीर-गंभीर होगा। कल्पवृक्ष के देखने से वह संपत्तिशाली होकर दानी होगा। देवभवन के देखने से वह देवों द्वारा वंदनीय होगा। समुद्र के देखने से वह गुणरूप रत्नों की खान होगा और अग्नि के देखने से वह इसी भव से कर्मरूपी ईंधन को जलाकर मुक्तिरूपी स्त्री का वरण करेगा। ऐसा महाभाग्यशाली चरमशरीरी पुत्ररत्न तुम्हें प्राप्त होगा।'

इतना सुनते ही वृषभदास और जिनमती का मुख कमल प्रफुल्लित हो जाता है। उनके हर्ष का पारावार नहीं रहता है। पुनः-पुनः गुरु को नमस्कार कर वे दंपती घर आ जाते हैं और उसी दिन से घर में मंगलाचार शुरू हो जाते हैं। नव महीने व्यतीत होने पर पौष शुक्ला चतुर्थी के दिन शुभ नक्षत्र में जिनमती पुत्ररत्न को जन्म देती है। वृषभदास सेठ अपने वैभव के अनुसार पुत्र जन्म का महोत्सव मनाते हैं। याचकों को खुले हाथ से दान देते हैं और गरीबों को मुँहमांगा धन देकर उनकी कई पीढ़ियों तक की गरीबी समाप्त कर देते हैं। स्वप्न में सेठानी ने सुदर्शन मेरु पर्वत देखा था इसीलिए वृषभदास सेठ उस पुत्र का नाम 'सुदर्शन कुमार' रख देते हैं। राजा के पुरोहित को भी पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है। वह पुरोहित अपने पुत्र का नाम 'कपिल कुमार' रखता है। यह 'सुदर्शन' उस 'कपिल' के साथ क्रीड़ा करता हुआ अपने गुणों के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

इसी चंपापुर नगर में एक सागरदत्त श्रावक रहते हैं। उनकी पत्नी का नाम सागरसेना है। इन दंपती के मनोरमा नाम की एक पुत्री है जो नाम के अनुरूप ही सौंदर्य की खान होने से सभी का मन बरबस ही अपनी ओर खींच लेती है। सागरदत्त सेठ कन्या मनोरमा को सर्वगुणों के साथ-साथ यौवन से भी संपन्न देखकर सुदर्शन कुमार के लिए देना सोचकर उनके घर पहुँचते हैं और कहते हैं—

"मित्र! मेरी कन्या मनोरमा रूप, वय और गुणों से सुदर्शन के योग्य है। मालूम होता है कि विधाता ने बड़े प्रयत्न से ही इस जोड़े का निर्माण किया है।"

वृषभदास कुछ क्षण सोचकर कहते हैं—

"हाँ मित्र! जोड़ी तो सर्वथा उपयुक्त ही है। आपकी कन्या मेरे पुत्र के योग्य तो है इसमें संशय नहीं है, फिर भी मैं सेठानी जिनमती से राय लेकर ही कुछ निर्णय कर सकता हूँ।"

सेठजी अंदर जाकर सेठानी से परामर्श करके वापस आते हैं और प्रसन्न मुद्रा में कहते हैं—

"आपने बात अनुकूल ही रखी है अतः हमें स्वीकार करना ही होगा।"

सेठ सागरदत्त भी प्रसन्न होकर कहते हैं—

"बंधुवर! पुनः "शुभस्य शीघ्रं" के अनुसार विवाह का मुहूर्त निकलवाइये।"

वृषभदास उसी समय नौकर को भेजकर श्रीधर ज्योतिषी को बुलवा लेते हैं। ज्योतिषी जी आकर बैठते हैं। सेठजी कहते हैं—

"पंडितजी! सुदर्शन कुमार के विवाह का मुहूर्त निकालना है।"

पंडितजी प्रसन्न होकर पंचांग खोलकर कुछ क्षण सोचकर कहते हैं—

"सेठजी! आपके सुपुत्र के विवाह का मुहूर्त वैशाख शुक्ला पंचमी सर्वश्रेष्ठ है।"

सेठ सागरदत्त हर्ष से रोमांचित होकर वृषभदास का अभिवादन करते हैं पुनः अपने घर आकर सागरसेना भार्या को शुभ समाचार सुना देते हैं। उचित मुहूर्त में दोनों का विवाह हो जाता है। नवदंपती गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर देवपूजा, गुरु भक्ति आदि धर्माराधना करते हुए सुख से अपना काल यापन कर रहे हैं। गृहस्थाश्रम के फलस्वरूप मनोरमा एक पुत्ररत्न को जन्म देती है जिसका नाम सुकांत रखते हैं। यह पुण्यवान् बालक घर के आँगन में खेलता हुआ सेठ वृषभदास और

सेठानी जिनमती के प्रमोद को द्विगुणित करता रहता है।

एक दिन समाधिगुप्त नामक महर्षि अपने विशाल संघ के साथ आकर चंपापुर के बाहर उद्यान में ठहर जाते हैं। माली से समाचार ज्ञात कर राजा धात्रीवाहन, सेठ वृषभदास आदि सपरिवार मुनियों के दर्शन हेतु उद्यान में पहुँचते हैं। गुरुओं की वंदना, पूजा, स्तुति करके उपदेश सुनते हैं। तत्पश्चात् वृषभदास गृहवास से विरक्त होकर अपने पुत्र सुदर्शन कुमार को राजा के लिए समर्पित कर आप जैनेश्वरी दीक्षा ले लेते हैं। उसी समय माता जिनमती भी आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं के पास में रहने लगती हैं। इधर सुदर्शन अपने सद्व्यवहार से चंपापुर में अपनी कीर्तिपताका फहराते हुए सुखपूर्वक धर्माराधना कर रहे हैं।

सुदर्शन के मित्र कपिल ब्राह्मण की पत्नी कपिला सुदर्शन के अनुपम सौंदर्य को देखकर काम से विह्वल हो जाती है। सुदर्शन से मिलने का उपाय सोचने लगती है। जिसके मन में जो भावना होती है उसी के अनुसार उसे समय मिल ही जाता है। एक दिन कपिल कार्यवश कहीं बाहर चला जाता है तब कपिला अपनी सखी को समझा–बुझाकर सुदर्शन को बुलाने हेतु भेज देती है। वह कुशल बुद्धि सखी सुदर्शन के पास पहुँचकर कहती है—

'बंधु! आपके मित्र कपिल अत्यधिक अस्वस्थ हो रहे हैं। आप शीघ्र ही चलकर उनके दुःख प्रसंग में उनका उपचार कीजिए।'

सुदर्शन अपने घर से चलकर मित्र के घर पहुँचते हैं। अंदर कमरे में प्रवेश करते हैं। सखी बाहर ही रह जाती है। कुमार सुदर्शन मित्र के पलंग के पास पहुँचते हैं। एक क्षण कुछ सोचते हैं, पुनः मित्र को अधिक अस्वस्थ समझकर पलंग पर बैठ जाते हैं और मित्र के मुख की चादर हटाकर कुशल पूछना चाहते हैं। उसी समय षड्यंत्र को करने वाली कपिला सुदर्शन का हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रख लेती है और कहती है—

'हे सुभग! अपने वियोग से संतप्त हुए मेरे हृदय को अब संतुष्ट करो।' सुदर्शन एकदम चौंक पड़ते हैं और सहसा अपना हाथ छुड़ा लेते हैं। पुनः एक क्षण मन में कुछ सोचते हैं कि इस समय युक्ति से कार्य करना अच्छा होगा। ऐसा सोचकर कहते हैं–

'भद्रे! मैं केवल बाहर से ही सुंदर दिखता हूँ मैं पुरुषत्व से शून्य हूँ, नपुंसक हूँ अतएव तुम्हारे साथ रमण करने के योग्य ही नहीं हूँ।

यह सुनकर कपिला लज्जित हो जाती है और मन ही मन पश्चात्ताप करते हुए सोचती है—

'अहो! व्यर्थ ही मैंने इससे अपनी दुर्वासना की भावना व्यक्त कर दी। यदि यह कदाचित् अपने मित्र कपिल से कह देगा तो क्या होगा'' मुझे पहले इसके नपुंसक होने का पता लगा लेना चाहिए था.....

सुदर्शन कुमार पुनः वहाँ अधिक देर ठहरना उचित न समझकर अपने घर वापस आ जाते हैं। कुलटा स्त्रियों की दुर्भावना और षड्यंत्र का विचार करते हुए संसार की स्थिति के विचार में निमग्न हो जाते हैं और मन में संवेग भाव को वृद्धिंगत करते हुए पुनः अपने सुख–वैभव में निमग्न हो जाते हैं।

ऋतुओं का राजा बसंत अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करता हुआ चंपापुर के उद्यान में अपनी मुधरिमा बिखेर रहा है। राजा धात्रीवाहन अपने इष्ट–मित्र और परिवार के साथ वनक्रीड़ा के लिए आ रहे हैं। रानी अभयमती भी अपने अंतःपुर के साथ चली आ रही हैं। उनके रथ में उनके पास ही उनकी प्यारी सखी कपिला बैठी हुई उनका मनोरंजन करा रही है। चारों तरफ की नगर की शोभा देखते हुए रानी का मन मयूर नाच रहा है। धीरे–धीरे शहर के बाहर का दृश्य दिखने लगता है। तब प्राकृतिक छटा को देखते हुए रानी पुलकित हो उठती है। इसी बीच रथ में बैठी हुई मनोरमा अपने सुकांत पुत्र को गोद में खिलाते हुए उसे दिखती है। रानी की दृष्टि उस मनोरमा के मनोरम चेहरे पर टिक जाती है। उसके पुत्र का कांतिमान शरीर उसके नेत्रों को लुभावना हो जाता है। सखी से पूछने लगती है—

प्रिय सखी! यह पुत्र वाली सुंदरी किसकी वल्लभा है ?

कपिला पहचानती है और आश्चर्यचकित हो जाती है। एक क्षण मौन का अवलम्बन ले लेती है तब पुनः रानी उसकी ओर देखकर पूछती है—

बता तो सही कपिला! यह किसकी कुलवधू है ?

तब कपिला कहती है—

'महारानी! आपके नगर सेठ वृषभदास के सुपुत्र सुदर्शन कुमार की यह पत्नी है.....अहो! इसकी गोद में किलकारियाँ भरता हुआ बालक कितना सुंदर है ?'

अभयमती रानी कहती है—

'यह धन्य है जो ऐसे उत्तम पुत्र की माँ बनने का सौभाग्य इसे मिला है।'

कपिला संदेह भरे वचनों में कहती है—

'परन्तु जब सुदर्शन नपुंसक है तब भला उसकी पत्नी के यह पुत्र कैसे उत्पन्न हुआ ?'

रानी आश्चर्यचकित हो पूछती है—

'ऐं! क्या कहा ? क्या सुदर्शन नपुंसक है ?'

कपिला कहती है—

'हाँ महारानी! वह नपुंसक है। उसमें पुरुषत्व नहीं है।'

'यह तूने कैसे जाना ? रानी पूछती है 'अरे! भला इतना सुंदर और भाग्यशाली पुरुष कभी नपुंसक हो सकता है ? तुझे किसने ऐसा कहा है ? बता तो सही!'

कपिला एक क्षण चुप रहती है पुनः अपना पूर्व का रहस्य बता देती है—

'रानी! एक बार मैं इस सुदर्शन पर आसक्त हो गई। जैसे-तैसे उपायों से इसे अपने घर बुलाया और उसका हाथ पकड़ लिया। इससे प्रणय की भीख माँगी तब इसने दुखी हो स्वयं यह बताया था कि मैं नपुंसक हूँ, मैं स्त्री के साथ भोग करने के योग्य नहीं हूँ।'

सुनते ही रानी अवाक् रह जाती है, पुनः सोचकर कहती है—

'कपिले! उसने तुझे धोखा दिया है ऐसा होना कथापि संभव नहीं है। भला जो पुरुष स्वयं नपुंसक हो और उसकी पत्नी की गोद में बालक खेले वह सहन कर सकता है ? और कुलीन घरानों में ऐसी दुर्घटना खप सकती है क्या ? सर्वथा असंभव है। कपिला खेदखिन्न होते हुए रानी के चेहरे की तरफ एकटक देखती है। रानी के मनोभावों का अनुमान लगाते हुए तीखे स्वर में व्यंग्य करती है।

'मैं मूर्ख ब्राह्मणी तो ठगाई गई, अब आप तो सर्वश्रेष्ठ हैं और सर्वगुणसंपन्न हैं। आपके सौभाग्य को मैं तभी सफल समझूँगी कि जब आप उसके साथ भोग भोग लें अन्यथा..... आपका यह सौंदर्य और आपकी यह बुद्धि सब विफल ही समझी जायेगी।'

इतना सुनकर रानी अभयमती सुदर्शन के रूप में आसक्त हो जाती है और मद से विह्वल होती हुई कहती है—

'अच्छा देख, मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि सुदर्शन के साथ कामसुख का अनुभव करके रहूँगी और यदि.....यह सौभाग्य मुझे नहीं मिल सका तो मैं अपने प्राणों को समाप्त कर दूँगी।'

कपिला के मन में एक क्षण के लिए विवेक उत्पन्न होता है और वह सोचने लगती है—

'ओह! यह महारानी अभयमती राजा धात्रीवाहन को कितनी प्यारी है। राजा का सौंदर्य क्या सुदर्शन से कुछ कम है ? राजा का वैभव, राजा के गुण, राजा का ऐश्वर्य क्या सुदर्शन जैसे सेठ पुत्र के पास है ? फिर भी यह रानी ऐसा

क्यों सोच रही है ? इसके मन में यह दुर्वासना कैसे आ गई ?..... सचमुच में यह अब अपने पिता और पति दोनों के कुलों को कलंकित करने के लिए सन्नद्ध दिख रही है।'

पुनः कपिला सोचती है—

'जो भी हो हमें क्या करना ?.....इस दुष्ट सुदर्शन ने मुझे तो धोखा दिया ही है। अब देखती हूँ यह रानी के प्रेमपाश से बचकर कहाँ जाता है। जब मैं इसे रानी के मोहजाल में फँसा हुआ देखूँगी तब पूछूँगी कि तू तो नपुंसक था अब पुरुष कैसे बन गया ?'

इधर रानी मन में अनेक कल्पनाओं का जाल बुनते हुए उद्यान में पहुँचती हैं। जलक्रीड़ा का आनंद लेती हैं पुनः महल में आकर सुदर्शन की स्मृति में खो जाती हैं। उन्मनस्क हुई अपने शयनागार में जाकर पलंग पर पड़ जाती हैं। धाय आकर रानी की दुरवस्था देखकर पूछती है—

'हे पुत्री! आज तुझे क्या हो गया है ? तू अकस्मात् इतनी उदास क्यों हो रही है ? मुझे इसका कारण तो बता ?'

रानी जैसे-तैसे उठकर बैठती है और कहना शुरू करती है—

'माँ! मुझे इस समय ऐसी चिंता ने आ घेरा है कि मैं किसी से कुछ कह नहीं सकती हूँ।'

'बेटी! तू मुझसे संकोच क्यों करती है ? देख तेरे मन की बात मेरे सिवाय क्या किसी अन्य से कही जा सकती है ? तू निःसंकोच हो मुझे अपने मन की व्यथा कह, मैं उसका शीघ्र ही प्रतिकार करूंगी।'

धाय के आश्वासन से आश्वस्त हो रानी कहती है—

'मातः! आज मैं बसंत महोत्सव के अवसर पर जब उद्यान की तरफ जा ही रही थी तब .....एक महासौंदर्य की खान ऐसा पुरुष मेरी दृष्टि में पड़ा। उसका नाम है सुदर्शन, वह अपनी राजसभा का एक भूषण है। तू उसे जानती है क्या?'

पंडिता धाय एकदम अवाक् रह जाती है पश्चात् साहस बटोरकर कहती है—

'हाँ बेटी! मैं उसे अच्छी तरह से जानती हूँ। परन्तु...बेटी अपने राजा धात्रीवाहन का तो वह आज्ञाकारी किंकर है। अरी पगली! क्या अपने राजा उस तुच्छ पुरुष के गुण व रूप में किसी भी प्रकार से कम हैं ? अरे! तेरे मन में यह पापवासना कैसे आ गई ?'

रानी खिन्न हो उठती है और बोलती है—

'पंडिते! यह समय मेरे प्राणों की रक्षा का उपाय सोचने का है न कि शिक्षा देने का। मुझे तेरा उपदेश नहीं चाहिए और न ही अपने राजा के गुणों से किसी की तुलना ही चाहिए। बस, मैं तो अब या तो सुदर्शन के साथ कामसुख का अनुभव करूंगी या तो चिता में शरीर का शोषण करूंगी।'

पंडिता कहती है—

'महारानी! यदि राजा को इस पाप का पता चल जायेगा तो क्या होगा ?'

रानी उत्तर देती है—

'पता कैसे चल जायेगा ? तुझे सर्वथा यह कार्य गुप्तरीति से करना होगा।'

'बेटी! तुझे मालूम नहीं है क्या ? तेल की बिंदु जल में डालने पर वह ऊपर ही आती है वैसे ही कितना ही छिपाकर पाप क्यों न किया जाए वह ऊपर चढ़कर पुकारता है।'

'पंडिते! जो भी होना होगा सो तो होकर ही रहेगा अतः अब तू ज्यादा सोच विचार न कर, बस! मेरे जीवित रहने का उपाय उस सुदर्शन को लाना ही है ऐसा समझकर शीघ्र ही उसे यहाँ लाने का प्रयास कर।

धाय कुछ सोचती है पुनः कहती है—

'रानी! मैंने सुना हुआ है कि उसके एकपत्नी व्रत है अतः वह यहाँ इस पाप कार्य के लिये कैसे लाया जा

सकता है? दूसरी बात यह है कि तेरे राजभवन को वेष्टित कर सात परकोटे स्थित हैं अतः उसका यहाँ लाना दुःसाध्य ही है।'

रानी दीर्घ निःश्वास खींचकर कहती है—

'यदि तू मुझे जीवित देखना चाहती है और तू पंडिता है। तेरे लिए सब कुछ उपाय साध्य हो जावेगा अतः तुझे कुछ न कुछ उपाय करना ही पड़ेगा।'

पंडिता कुछ देर तक सोच-विचार करती है पुनः रानी से कहती है—

'अच्छा बेटी! तू उठ और भोजन पान कर, मैं तेरी मनोकामना सिद्ध करने के लिए सब कुछ करने को तैयार हूँ।'

इतना कहकर धाय वहाँ से चली जाती है।

पंडिता धाय कुंभकार के घर पहुँचती है और कुंभकार को पुरुष के प्रमाण बराबर सुंदर सात मूर्तियां बनाने का आदेश देती है और सुदर्शन की सारी दैनिकचर्या का पता लगा लेती है। (उसे पता चलता है कि सुदर्शन प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करके रात्रि में निर्जन वन में जाकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर ध्यान करता है। धाय अपना कार्य सिद्ध हुआ ही समझकर मन ही मन प्रसन्न हो जाती है।) पुनः प्रतिपदा की रात्रि को मिट्टी की पुरुषाकार एक मूर्ति लेकर अपने कंधे पर रखकर अभयमती के भवन की तरफ चल देती है। पहले परकोटे का द्वारपाल ही उसे अंदर जाने से रोक देता है तब पंडिता पूछती है—

'क्या रात्रि में मेरे लिए भी रानी के पास जाना मना है ?'

द्वारपाल कहता है—

'हाँ, इतनी रात में तुम भी वहाँ नहीं जा सकती हो।'

इतना कहने पर भी धाय नहीं मानती है और हठपूर्वक अंदर प्रवेश करने लगती है। तब द्वारपाल बलपूर्वक उसे रोकने का प्रयत्न करता है कि वह स्वयं ही झुँझला कर कंधे का पुतला जमीन पर गिरा देती है और स्वयं धरती पर पड़कर बकने लगती है।

'अरे मूर्ख! तूने यह क्या कर डाला ? हाय-हाय बड़ा अनर्थ हो गया। अब देख प्रातः तेरी क्या दशा होती है ?'

द्वारपाल घबड़ाकर गिड़गिड़ाने लगता है।

"अहो! क्या हुआ ? यह मूर्ति फूट गई अब क्या होगा ? अम्माजी! अब तुम मेरी रक्षा करो.....।"

धाय कहती है—

"अरे मूर्ख! आज रानी का व्रत है वह इस कामदेव की मूर्ति की पूजा करके रात्रि में जागरण करने वाली थी। तूने इसे फोड़ डाला, अब प्रातःकाल तेरे कुटुम्ब सहित ही तेरा नाश समझ।'

यह सुनकर द्वारपाल भयभीत होता हुआ धाय के पैरों में गिर पड़ता है और कहता है—

'अम्माजी! मुझे क्षमा कर दो। आज से मैं ऐसी गलती नहीं करूंगा! अब तुम्हें कभी भी महल में जाने से नहीं रोकूँगा।'

इतना सब कुछ षड्यंत्र करके वह धाय अपने घर चली जाती है। दूसरे दिन पुनः दूसरी मूर्ति कंधे पर रखकर आती है तब पहला द्वारपाल कुछ नहीं बोलता हैं किन्तु दूसरे परकोटे पर पहुँचते ही दूसरा द्वारपाल अड़ जाता है। वहाँ भी वह पहले के समान ही पुतला फोड़कर द्वारपाल को डरा देती है तब वह क्षमा माँगकर आगे के लिए ऐसी गलती न करने का वचन देता है। इसी तरह यह धाय आगे पाँच दिन तक पाँच और पुतले फोड़-फोड़ कर उन पाँचों द्वारपालों को भी अपने अनुकूल कर लेती है।

सात दिन के बाद आठवें दिन रात्रि में वह उसी श्मशान में पहुँच जाती है जहाँ पर सेठ सुदर्शन वस्त्राभूषण त्याग कर

प्रतिमायोग में खड़े होकर ध्यान कर रहे हैं। वह मधुर शब्दों में कहती है—

'सुदर्शन कुमार! तुम धन्य हो कि आज अभयमती महारानी तुम्हारे ऊपर अनुरक्त हो रही हैं। अब तुम मेरे साथ राजमहल में चलो और रानी के साथ दिव्य कामसुखों का अनुभव करो।'

कुछ क्षण उत्तर की प्रतीक्षा करती है किन्तु जब सुदर्शन को पाषाण की मूर्ति के समान अचल ही खड़ा पाती है तब वह उन्हें उठाकर अपने कंधे पर रख लेती है और राजमहल की ओर चल पड़ती है। एक-एक परकोटे को पार कर रही है। उस समय बेचारे द्वारपाल हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं और एक शब्द भी नहीं कहते हैं। वह पंडिता बिना बाधा के सातों परकोटे पारकर रानी के महल के अंदर पहुँच जाती है। रानी तो प्रतीक्षा कर ही रही थी। धाय के कंधे पर सुदर्शन को देखकर स्वागत के लिए उठ खड़ी हो जाती है। तब रानी सुदर्शन से अनेक प्रकार का अनुनय-विनय करना प्रारंभ कर देती हैं—

'हे सुदर्शन! आँखें खोलो और मेरी ओर देखो, यह राजमहल का वैभव और मेरा यौवन तुम्हारे ऊपर न्योछावर है। ध्यान को विसर्जित करो और मेरे साथ काम भोगों का अनुभव करो। अरे! यह तुम्हारी योगसाधना की उम्र नहीं है। वृद्धावस्था में योग साधना करना। अभी जवानी का आनंद लूटो।'

इतना सब कुछ कहने पर भी सुदर्शन मृतक के समान निश्चेष्ट हैं। तब वह पुनः कहती है—

'प्रियवल्लभ! तुम्हारे संयोग के बिना अब मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ। तुम अहिंसा धर्म के पालक हो। क्या मेरा मरण तुम्हें इष्ट है ? बोलो, एक बार बोलो और नेत्र खोलो.....।"

सब कुछ बेकार है ऐसा समझकर भी रानी कामवासना से अंधी हो रही है अतः पुनरपि वह अनेक प्रकार की कुचेष्टायें करने लगती है, पूर्ण प्रयत्न से सुदर्शन के साथ भोग करना चाहती है। सब प्रयत्न करते-करते जब वह हार जाती है तब निराश हो धाय को पुकारती है—

'अरी पंडिते! अंदर आओ।'

पंडिता आ जाती है। तब रानी कहती है—

'आप इसे जहाँ से लाई हो, शीघ्र ही वहीं पहुँचा दो।'

धाय बाहर की तरफ दृष्टि डालती है तो देखती है कि प्रभात हो चुका है। तब वह कहती है—

'रानी! अब तो सबेरा हो चुका है, अब इसे बाहर लेकर जाना असम्भव है।'

रानी घबड़ा उठती है।

'अब क्या किया जाए ?'

अंत में वह कुछ उपाय न देखकर आप स्वयं शयनागार में ही धरती पर बैठ जाती है। अपने वस्त्रों को फाड़ डालती है, बाल बिखेर लेती है, शरीर को नखों से नोंच-खसोंट लेती है और जोर-जोर से चिल्लाने लगती है—

'अरे, दौड़ो-दौड़ो! मेरी रक्षा करो, यह कौन पापी दुष्ट मेरे महल में घुस आया है। हाय, हाय, यह पापी मेरे शील को भंग करना चाहता है।'

सेवक लोग अंदर आ जाते हैं और सारा दृश्य देखकर महाराजा धात्रीवाहन के पास सूचना पहुँचा देते हैं।

'राजन्! आज घोर अनर्थ हो गया है। पता नहीं पापी सुदर्शन सेठ आपके राजमहल में कब और कैसे चला गया था, उसने रानी को कष्ट पहुँचाया है।'

महाराज स्वयं महल में आते हैं, सारा दृश्य देखकर अवाक् रह जाते हैं। रानी कहती है—

'महाराज! पता नहीं किस जन्म का पुण्य आज मेरे काम आया है कि जिससे आज मेरे शील की रक्षा हुई है। यह पापी सेठ मेरा शील भंग करना चाहता था। देखो, इसने मेरी कैसी दुर्दशा की। ओह!.....बड़े पुरुषार्थ से मैंने इस दुष्ट से अपने को बचाया है।'

राजा क्रोध में आकर कड़ककर बोलते हैं—

'अरे कर्मचारियों! तुम इस पापी, नराधम को शीघ्र ही यहाँ से उठाओ और श्मशान भूमि में ले जाकर इसका शिर धड़ से अलग कर दो।.....ओह! देखा तो सही, अब यह अधम आँख मींचकर कैसा ढोंग दिखा रहा है। इसने शहर भर में अपने धर्मात्मापने का नाम उजागर कर रखा है। लोग कहते हैं कि सुदर्शन सेठ हर अष्टमी, चतुर्दशी को श्मशान में जाकर ध्यान करता है। अरे रे! तू इतना धूर्त निकला ?'

कर्मचारी लोग राजा की आज्ञा पाते ही सुदर्शन को घसीटकर कमरे के बाहर निकाल लाते हैं और श्मशान की तरफ ले जाते हैं।

कर्मचारी लोग सुदर्शन को ले जाकर श्मशान में बिठा देते हैं। जल्लाद लोग नंगी तलवार लिए आ जाते हैं और सुदर्शन की ध्यानमुद्रा देखकर अट्टहास करके हँसते हैं। पुनः एक कहता है—

'अरे! धर्म का बाना पहनकर पाप करना बहुत आसान दिख रहा था तुझे, लेकिन एक दिन भंडाफोड़ होगा ही होगा यह तूने शायद नहीं समझा था।

दूसरा कहता है—

'मारो, मारो, जल्दी से इसे मौत के घाट उतारो, भाई ! देर क्यों कर रहे हो।'

तीसरा कहता है—

'भाई! जरा ठहरो, कुछ देर इसके दम्भ को देख लो..... देखो, कैसी ध्यान मुद्रा है। अ ह ह ह ह!!.....मानो साक्षात् कोई योगिराज ही ध्यान कर रहे हैं।'

पुनः पहला जल्लाद कहता है—

'अरे भाई! इसकी निश्चलता देखकर तो ऐसा लगता है कि मानो कोई पत्थर की गढ़ी गढ़ाई मूर्ति ही यहाँ थाप दी गई है।'

दूसरा कहता है—

'बड़े-बड़े नामी धर्मात्मा जब पाप करेंगे तब वे यदि ऐसा ढोंग न रचें तो फिर उनकी शान कैसे बढ़ेगी।'

पुनः तीसरा कहता है—

'अरे! अपने खानदान की शान तो इसने मिट्टी में मिला ही दी है, अब खाक ध्यान कर रहा है।'

कर्मचारी कहते हैं—

'जल्लादों! तुम लोग आपस में ही क्या बकवास कर रहे हो ? इस पापी अधम को ज्यादा देर तक जिंदा क्यों रख रहे हो ? जल्दी इसका काम तमाम करो।'

इतना सुनते ही जल्लाद लोग एक साथ तलवार उठाते हैं और 'हुंकार' शब्द करते हुए सुदर्शन की गरदन पर वार करते हैं। परंतु यह क्या ? तलवार के प्रहार से तो सुदर्शन के गले में फूलों के हार बनते जा रहे हैं। जल्लादों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता है।

'अरे! यह क्या चमत्कार है ?

इसी बीच सुदर्शन के शील के प्रभाव से वन के रक्षक यक्षदेव का आसन कंपायमान हो जाता है। वह अवधिज्ञान से सुदर्शन महापुरुष पर उपसर्ग होता हुआ जान करके शीघ्र ही वहाँ आ जाता है और उन सभी राजपुरुषों को कीलित कर देता है। दूर खड़ा होकर यह दृश्य देखने वाला एक नागरिक दौड़ा हुआ राजदरबार में पहुँचता है और राजा को सारी बातें सुना देता है।

यह सब समाचार सुनकर राजा ऐसा समझता है कि यह सुदर्शन कुछ मंत्रसिद्धि जानता है अतः मालूम होता है कि उसने अपने पाप को छिपाने के लिए मंत्र के बल से ही उन राजपुरुषों को कील दिया है। राजा के क्रोध का पारा अधिक चढ़ जाता है और वह तत्काल मंत्रियों को आदेश देता है—

'मंत्रियों! बड़े-बड़े मल्ल योद्धाओं को वहाँ श्मशान भूमि में भेज दो। देखो, उस दुष्ट सुदर्शन सेठ ने कुछ कर्मचारियों को और जल्लादों को कील दिया है।'

राजा की आज्ञा पाते ही मंत्रीगण योद्धाओं को उस श्मशान भूमि में भेज देते हैं किन्तु पुनः समाचार मिलता है। वे सभी योद्धा भी वहाँ कील दिये गये हैं। तब राजा स्वयं ही बहुत बड़ी सेना लेकर युद्ध के लिए निकल पड़ता है। युद्ध का तुमुल बज उठता है। उधर यक्षदेव भी अपनी विक्रिया से चतुरंग सेना निर्मित करके रणभूमि में उपस्थित हो जाता है। कुछ ही क्षणों में देखते-देखते दोनों ही सेनाओं में घोर युद्ध होने लगता है।

बहुत देर तक घनघोर युद्ध होता रहता है। तब स्वयं राजा और यक्ष दोनों हाथी पर सवार होकर आमने-सामने उपस्थित हो जाते हैं। तब यक्षदेव कहता है–

'राजन्! मैं देव हूँ, तू मेरे हाथ से व्यर्थ ही क्यों प्राण गँवाता है। तू सुदर्शन सेठ की चिंता छोड़ दे और सुखपूर्वक राज्य कर। उसे दण्ड देने का विचार ही छोड़ दे वह सर्वथा निर्दोष है।'

राजा कहता है—

'अरे देव! तू व्यर्थ ही इस पापी का पक्ष लेने वाला कौन है ? क्या तू मेरी शक्ति और मेरे धर्मप्रिय न्याय को नहीं जानता है जो कि यहाँ मेरे बीच में आकर अपना अपमान करा रहा है ? तू जहाँ से आया है वहीं भाग जा।'

देव कहता है—

'राजन्! तुझे मेरे बल का ज्ञान नहीं है इसीलिए तू मेरा सामना करना चाहता है।'

राजा उत्तर देता है—

'देवता भी राजाओं के दास होते हैं यह बात क्या तुझे मालूम नहीं है ? अरे यक्ष! तू मेरे नगर का ही तो रक्षक देव है फिर भी मेरे अनुशासन के बाहर क्यों ?'

उस समय क्रुद्ध होकर यक्ष कहता है—

'अरे अन्यायी राजन्! अब मैं देखता हूँ तेरे में कितनी शक्ति है ? आ, मेरे साथ युद्ध कर।'

राजा भी क्रोध में भड़क कर गर्जता हुआ बोलता है—

'अरे यक्ष! अब मैं तुझे अपना बाहुबल दिखाता हूँ।'

दोनों ही एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा शुरू कर देते हैं। कुछ देर तक दोनों में से एक भी नहीं हारते हैं। पुनः यक्षदेव राजा के ऊपर लगे हुए छत्र और ध्वजा को गिरा देता है पुनः एक प्रहार में हाथी को भी गिरा देता है। राजा रथ पर सवार होकर युद्ध करने में तत्पर है। यक्ष पुनः उसके रथ को तोड़ डालता है। राजा पृथ्वी पर खड़े-खड़े भी बाणवर्षा जारी रखता है तब यक्ष राजा को बुरी तरह से पराजित कर देता है। राजा के हाथ से धनुष गिर जाता है तब वह भागने को उद्यत होता है। यक्ष भी राजा के पीछे दौड़ता है और कहता है—

अरे मूर्ख! देख, अगर तू सेठ सुदर्शन की शरण में जाता है तो तेरे प्राणों की रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं हो सकती है।'

तब राजा भागता हुआ सेठ के निकट पहुँचकर उनके चरणों में गिर पड़ता है और बोलता है—

'बचाओ-बचाओ! मुझे बचाओ.....।'

सेठ सुदर्शन आँख खोलते हैं और यक्ष की तरफ देखकर पूछते हैं—

'हे भद्र! आप कौन हैं ?'

यक्ष सुदर्शन को नमस्कार करके अपना परिचय देते हुए कहता है।

'हे धर्मधुरंधर! मैं आप जैसे धर्मात्माओं का सेवक यक्ष जाति का देव हूँ। आपके शील के प्रभाव से मेरा आसन कंपित हो उठा तब मैंने अपने दिव्यज्ञान से यह जाना कि आपके ऊपर उपसर्ग आया हुआ है। भला धर्म पर आये हुए

संकट का निवारण हम जैसे देव नहीं करेंगे तो फिर कौन करेगा ?'

पुनः वह यक्ष राजा से कहता है—

'राजन्! तुम्हें अब मैं अपने अवधिज्ञान से जानी हुई सारी स्थिति स्पष्ट कर रहा हूँ। तेरी रानी अभयमती इन सुदर्शन के रूप को देखकर कामांध हो गई और पुनः उसने पंडिता धाय के द्वारा इस पुण्य पुरुष को श्मशान से ध्यान करती हुई अवस्था में ही मंगवा लिया। रात्रि में उसके साथ भोग भोगने का प्रयत्न किया किन्तु जब वह सफल नहीं हो सकी तब उसने अपना त्रिया चरित्र फैलाया। आश्चर्य इस बात का है कि आप जैसे न्यायप्रिय, धर्मनिष्ठ राजा भी उसके वाग्जाल में आ गये, कुछ आगापीछा नहीं सोचा और इन महापुरुष को कष्ट पहुँचाने का आदेश दे दिया। खैर! अब तुम इनकी शरण में आ चुके हो, अब ये महानुभाव जो कुछ हमें आदेश देंगे मैं वही करूंगा।

राजा इतना सब कुछ सुनकर आश्चर्य से भर जाते हैं। रानी के प्रति क्रोध, द्वेष और ग्लानि से उनका हृदय भर जाता है और सुदर्शन के प्रति आदर से उनका मस्तक झुक जाता है। राजा विनम्र होकर हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं—

'हे शीलशिरोमणे सुदर्शन! मेरे अपराध क्षमा करो। मैंने बिना विचारे जो भी कार्य किया है उसका मुझे घोर पश्चात्ताप है। हे पुण्य पुरुष! आप जैसे पुण्यशाली नररत्नों से ही यह धरा पवित्र मानी जाती है। यह चंपापुर नगर का अहोभाग्य है जो कि आप जैसे शीलधुरंधर नररत्न यहाँ पैदा हुए हैं।

इत्यादि प्रकार से राजा सुदर्शन सेठ की प्रशंसा करते हैं। उधर यक्षदेव भी सुदर्शन के चरणों में पुष्पांजलि समर्पण करके उनकी पूजा करता है, उनके ऊपर रत्नों की और पुष्पों की वर्षा करता है। पुनः राजा के मरे हुए सैनिकों को जीवित करके अपने स्थान को वापस चला जाता है।

राजा सुदर्शन सेठ से कहते हैं—

'हे सुदर्शन! मैंने जो भी अज्ञानतावश दुर्व्यवहार किया है उसे भुला दो और अब आप मेरे आधे राज्य को स्वीकार करो।'

सुदर्शन सेठ कहते हैं—

'राजन्! जिस समय मुझे श्मशान से धाय उठा कर ले चली थी मैंने उसी समय यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि 'यदि मैं इस उपसर्ग से जीवित रहूँगा तो पाणिपात्र में ही भोजन करूंगा अर्थात् मुनि हो जाऊँगा' इसलिए अब मैं जैनेश्वरी दीक्षा लेऊँगा।'

उसी समय सेठ की भार्या मनोरमा भी अपने पुत्र सुकांत को लिए हुए वहाँ आ जाती है। नगर के अन्य और भी गणमान्य स्त्री-पुरुष वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। इस पवित्र दृश्य को देखकर सभी सेठ सुदर्शन की जय बोलते हैं और उनके शील की प्रशंसा करते हैं। एक वृद्ध सज्जन कहते हैं।

'अहो सुदर्शन! तुमने आज धर्म की ध्वजा फहराई है, तुम धन्य हो और धन्य है तुम्हारा शील।'

दूसरा पुरुष कहता है—

'हे शीलशिरोमणि! तुम युग-युग तक इस धरा पर जीवित रहो और पामर मनुष्यों को धर्म का मार्ग दिखलाते रहो।'

तीसरा कहता है—

'सुदर्शन! तुम्हारी कीर्ति युग-युग तक अमर रहे।'

मनोरमा सामने आकर हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती है और प्रसन्नचित्त हो कहती है—

'प्राणनाथ! अब आप घर चलिये। धर्म के प्रसाद से आपका बहुत बड़ा संकट टल चुका है।'

सुदर्शन कहते हैं—

'हे प्रिये! अब आप अपने पुत्र की सुरक्षा करते हुए उसे धर्ममार्ग में तत्पर करो। मैं तो अब जैनेश्वरी दीक्षा लेने के लिए जा रहा हूँ।'

इतना सुनते ही मनोरमा घबराती हुई बोलती है—

'स्वामिन्! आप यह क्या कह रहे हैं ?.....क्या आपके बिना मैं घर में रह सकूँगी ?.....क्या अभी आपकी दीक्षा लेने की उम्र है ?'

'मनोरमे! दीक्षा के लिए भी कोई उम्र होती है क्या ? देखो, इस संकट के आते समय ही मैंने नियम कर लिया था कि 'यदि मैं इस संकट से जीवित रहूँगा तो मुनिव्रत ले लूँगा अत: अब मेरा दीक्षा लेने का दृढ़ संकल्प है।'

इतना सुनते ही मनोरमा मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर जाती हैं, उसके माता-पिता आदि उसे सँभालते हैं। सेठ सुदर्शन वहाँ से चलकर जिनमंदिर में आ जाते हैं।

सेठ सुदर्शन जिनमंदिर में आकर जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं। विमलवाहन नामक मुनिराज की वंदना-पूजा करके उनसे अपने पूर्वभवों को पूछते हैं। 'महामंत्र के प्रभाव से मैं ग्वाले की पर्याय से यहाँ जैनकुल में सेठ का पुत्र हुआ हूँ' यह सुनकर 'महामंत्र' को हृदय में धारण करते हैं। अनंतर सुदर्शन राजा धात्रीवाहन आदि से क्षमा कराकर महामुनि के समीप मुनि दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

राजा धात्रीवाहन भी सुदर्शन के धर्मपूर्ण अतिशय को देखकर तथा रानी के निंद्य चरित्र से विरक्त होकर अपने पुत्र को राज्य देकर सुदर्शन के पुत्र सुकांत को राज्यश्रेष्ठी पद पर नियुक्त कर आप भी महामुनि के समीप मुनि बन जाते हैं। राजा की अन्य अनेक रानियाँ तथा और भी नगर के कतिपय श्रावक-श्राविकाएँ दीक्षित हो मोक्षमार्ग की साधना में तत्पर होते हुए संघ में स्थित हो जाते हैं।

इधर रानी अभयमती को जब यह समाचार विदित होता है तब वह सोचती है 'अब मैं अपने मुख को किसी के सामने कैसे दिखलाऊँगी' ऐसा सोचकर वृक्ष में फाँसी लगाकर अपना अपघात कर डालती है और अकामनिर्जरा से मरकर पटना शहर में व्यंतरी की योनि में जन्म ले लेती है। वह पंडिता धाय भी भय से भागकर पटना शहर में पहुँच जाती है। वहाँ देवदत्ता वेश्या के यहाँ ठहरकर उससे कपिला, रानी अभयमती और सुदर्शन की सारी घटना सुना देती है। वेश्या कपिला और अभयमती की हँसी उड़ाते हुए कहती है—

"पंडिता! अब तू मेरी कला देख, यदि मैं उस सुदर्शन मुनि को देख लूँगी तो अवश्य ही उसके तप को समाप्त कर दूँगी, यह विश्वास रख।

उधर विमलवाहन आचार्य अपने चतुर्विध संघ के साथ चंपापुर से विहार कर देते हैं। सुदर्शन मुनि कुछ ही दिनों में समस्त आगम के ज्ञाता होकर गुरु की आज्ञा से एकाकी विहार करने लगते हैं। वे अनेक तीर्थस्थानों की वंदना करते हुए पटना शहर में पहुँचते हैं। वहाँ आहार के लिए निकलते हैं। अकस्मात् पंडिता धाय की दृष्टि उन पर पड़ती है वह दौड़ी हुई जाकर देवदत्ता वेश्या को कहती है—

"अरे चतुरे! देख यही वह सुदर्शन सेठ है जिसने अपने मंत्र के प्रभाव से चंपापुर में धर्म का चमत्कार दिखलाया है।"

देवदत्ता अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार एक दासी को भेजकर सुदर्शन का पड़गाहन कराती है। सुदर्शन मुनि उस दासी को श्राविका समझ कर वहाँ पर खड़े हो जाते हैं, फिर उन्हें वह भीतर ले जाकर कमरे में बैठने के लिए निवेदन करती है। उसी समय देवदत्ता वहाँ आ जाती है और कहती है—

'हे भद्र! तुम अभी तरुण हो, तुम्हें शरीर को कष्ट देकर इस तप से क्या प्रयोजन है ? मेरे पास बहुत सा धन है। तुम उसके स्वामी बनकर मेरे साथ काम सुखों का अनुभव करो।'

मुनिराज मौन भंग कर उसे उपदेश देते हैं—

'हे मूर्ख! यह शरीर अपवित्र है, दु:खों का घर है, मल, मूत्र, वात, पित्त, कफ आदि से भरा हुआ है और नश्वर है। इसे सुख नहीं किन्तु सुख की कल्पना मात्र ऐसे भोगों का साधन बनाना उचित नहीं है।'

वेश्या कहती है—

'महानुभाव! इस तरुणाई को विषय सुखों से सफल करके पुनः वृद्धावस्था में तप करते हुए नीरस जीवन बिताना ही सनातन परंपरा है अतः अभी आपको भोग सुखों का आस्वादन करना ही चाहिए।'

मुनि कहते हैं—

'हे भद्रे! कौन ऐसा बुद्धिमान है जो कि सरसों के बराबर किंचित् भोगसुख के लिए मेरुपर्वत के समान इतने विशाल दुःखों को आमंत्रित करेगा ? पहली बात तो भोग स्वयं हालाहल विष के समान हैं पुनः व्यभिचार तो एक सबसे बड़ा महापाप है। अगर हमें भोगों में ही सुख दिखता तो अपनी पत्नी को छोड़कर मुनि क्यों बनते ?'

वेश्या कहती है—

'वर्तमान के सुखों को छोड़कर शरीर को सुखाने से भविष्य में क्या सुख मिलेगा ? भला जिन कारणों से तत्काल में ही दुःख मिल रहा हो उनसे आगे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?'

मुनिराज उत्तर देते हैं—

'अरी मुग्धे! किंपाक का फल देखने में बड़ा सुंदर और खाने में मधुर होता है किन्तु उसका फल प्राणघातक ही होता है। वैसे ही यह विषय सुख प्रारंभ में ही सुंदर और मधुर दिखते हैं किन्तु फल देने के काल में नरक निगोदों में डाल देते हैं और फिर व्यभिचार के पाप से बढ़कर तीन लोक और तीन काल में न कोई पाप हुआ है और न होगा ही। यदि तुझे भोगों की ही इच्छा थी तो किसी कुलीन पुरुष से विवाह करके गृहस्थाश्रम के भोग सुखों का अनुभव करती।.....किन्तु हाय ? इस पापवासना से अपने आपको स्वयं तू अनंत-अनंत दुःखों का स्थान ऐसा नरक और जहाँ से अनंत कालों तक निकलना कठिन है ऐसे निगोद स्थान का पात्र बना रही है अतः तू पापवासना को छोड़ और पवित्र ब्रह्मचर्य का पालन कर। जिससे परलोक में देवी पर्याय को प्राप्त कर चिरकाल तक देव के साथ इंद्रिय सुख को भी भोग सकेगी, पुनः परंपरा से आत्मा के सुख का यदि तुझे आस्वाद मिल जायेगा तो तुझे संसार के इंद्रिय सुख दुःख रूप ही प्रतिभासित होने लगेंगे।'

वेश्या कहती है—

'हे साधु! इस उपदेश को बस कर, अब तो तुम सरलता से मेरे साथ भोग करो तो ठीक, अन्यथा मैं बलात् ही तुमसे कामसेवन करूंगी।'

इतना कहकर वह अपने घर के दरवाजे बंदकर मुनि को उठाकर शय्या पर बिठा देती है। मुनिराज उपसर्ग आया समझकर मन में नियम कर लेते हैं कि—

'इस उपसर्ग के दूर होने पर ही मैं आहार-विहार करूंगा अन्यथा मेरे चतुराहार का त्याग है।

साथ ही वे यह भी नियम ले लेते हैं कि—

'यदि इस उपसर्ग का निवारण हो जावेगा तो भी अब मैं नगर में विचरण नहीं करूंगा। वन में रहकर ही आत्मध्यान करूंगा।'

वह दुष्टा वेश्या नाना प्रकार की कुचेष्टाओं द्वारा सुदर्शन को चलायमान करने का प्रयास करती है। बलात् उपभोग करने की चेष्टा करती है किन्तु वे मुनिराज कछुए के समान अपनी इंद्रियों को संकुचित करके अपनी आत्मा से शरीर को भिन्न समझते हुए बारह भावनाओं का चिंतवन कर रहे हैं। वह वेश्या इस तरह तीन दिन-दो रात्रि पर्यंत नाना प्रकार की पीड़ा देती है, डर दिखाती है और काम को उद्दीपिन करने वाले अनेक कारण को उपस्थित करती हैं।

जब वह सर्वथा ही असफल हो जाती है तब तीसरे दिन की रात्रि में उन्हें उठाकर ले जाकर पटना शहर के बाहर श्मशान में खड़ा कर देती है। सुदर्शन मुनि श्मशान में प्रतिमायोग से स्थित हुए शुद्धात्मा का अवलोकन कर रहे हैं।

इसी रात्रि में आकाशमार्ग से जाती हुई एक व्यंतरी का विमान उनके ऊपर रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ता है। वह व्यंतरी (अभयमती रानी का जीव) नीचे उतरकर देखती है और सुदर्शन को देखते ही क्रोध व अहंकार से चूर हो कहती है—

"अरे दुर्मूर्ख! तूने अहंकार में आकर मेरी बात नहीं मानी थी और मुझे अपयश का पात्र बनाया था। देख, तेरे लिए आर्तध्यान से मरकर मैं व्यतंरी हूई हूँ। अब मैं तुझे मजा चखाऊँगी। उस समय तो किसी देव ने तेरी रक्षा की थी अब मैं देखती हूँ यहाँ तेरी रक्षा करने वाला कौन है ?"

सुदर्शन मुनि समझ लेते हैं कि पुनः मुझ पर उपसर्ग आ चुका है अतः वे पुनरपि उपसर्ग दूर होने तक चतुराहार का त्यागकर आत्मचिंतवन में लीन हो जाते हैं। वह व्यंतरनी विकराल डाकिनी का रूप बनाकर अपनी विक्रया से आंधी, तूफान, पत्थर बरसाना आदि अनेक प्रकार के घोर उपद्रव शुरू कर देती है।

कभी-कभी वह स्त्रियों के हाव, भाव, विलास, विभ्रम, नृत्य, गान आदि करते हुए उन्हें ब्रह्मचर्य से च्युत करने का प्रयत्न करती है, पुनः असफल होकर मारना, पीटना, बांधना आदि कष्टों से द्वारा उन्हें बाधा पहुँचाती है। वह व्यंतरी सात दिनों तक घोर उपसर्ग करती रहती है। अकस्मात् चंपापुर में सुदर्शन की रक्षा करने वाला वही यक्ष उधर आ जाता है और 'सुदर्शन मुनि पर पुनरपि वह रानी का जीव व्यंतरी होकर उपसर्ग कर रहा है' समझकर वहीं ठहर जाता है। वह उस व्यंतरी के सामने आकर ललकारता है।

'अरे अभयमती! देख, तूने ऐसा दुष्कृत्य किया है कि जिससे राजकुल को ही कलंकित नहीं किया है बल्कि युग-युग के लिए कुलटा नारियों में अपना नाम अमर कर दिया है। कुछ अकामनिर्जरा के पुण्य से तुझे यह व्यंतरी योनि मिल गई है अब पुनः तू इन महामुनि पर दारुण उपसर्ग कर ऐसे निकाचित कर्मों को बाँध रही है कि शायद जिसका फल तुझे एकेंद्रिय पर्याय में ले जावे और वहाँ से पुनः तुझे निगोदवास में डाल दे।.....अरे मूर्खे! अपने आप तू अपने परलोक को क्यों बिगाड़ रही है ?

वह व्यंतरनी कहती है—

"अरे यक्ष! तूने उस समय अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था और अब तुझे मालूम होना चाहिए कि मैं भी देवयोनि में आ चुकी हूँ अतः मैं तुझे भी परास्त करने में समर्थ हूँ अतः अब तू बकवास मत कर, यहाँ से भाग जा, मुझे इस मेरे शत्रु से निपट लेने दे।"

यक्ष कहता है—

"हे भद्रे! मैं तेरे हित की बात कहता हूँ सो मान ले अन्यथा मेरे आगे तेरी कितनी शक्ति है सो अभी पता चल जायेगा।"

व्यंतरी कहती है—

"मैं जब तक इसके अहंकार को चूर्ण नहीं कर दूँगी तब तक इसका पीछा नहीं छोड़ूँगी। इसने जैसे मुझे अपकीर्ति का भाजन बनाया है ऐसे ही मैं भी दुर्गति का भाजन बनाऊँगी। यह उपसर्ग से घबड़ाकर जब दुर्ध्यान से मरकर दुर्गति में चला जायेगा तभी मैं शांति ग्रहण करूंगी।"

पुनः वह विक्रिया से गर्जती हुई मुँह से अग्नि उगलते हुए सुदर्शन की तरफ दौड़ती है कि यक्ष अपनी गर्जना से उसे पराजित कर देता है। तब वह हारकर अंत में वहाँ से भाग जाती है।

इधर उपसर्ग से रंचमात्र भी विचलित न होने वाले महामुनि सुदर्शन आत्मध्यान से विशुद्धि बढ़ाते हुए शुक्लध्यान में आरुढ़ हो जाते हैं। देखते ही देखते मोहनीय कर्म का नाश कर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों को भी निर्मूल कर देते हैं। उसी समय उनके अंदर केवलज्ञानरूपी सूर्य उदित हो जाता है। स्वर्ग में देवों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं, वे अवधिज्ञान से सारा समाचार विदित कर वहाँ आ जाते हैं। अर्धनिमिष मात्र में

वहाँ गंधकुटी की रचना कर देते हैं। महामुनि सुदर्शन केवलज्ञान प्रगट होते ही इस पृथ्वीतल से 5000 धनुष (20000 हाथ) ऊपर आकाश में अधर पहुँच जाते हैं और वहाँ पर देवों द्वारा रची गई गंधकुटी के मध्य कमलासन पर अधर विराजमान हो जाते हैं।

यह यक्षदेव भक्ति से गद्‌गद हो केवली भगवान की पूजा कर अपने जीवन को धन्य समझता है। पटना शहर के राजा अपने अंत:पुर परिवार और प्रजा के साथ आकर भगवान् केवली का दर्शन करके उनकी पूजा करते हैं। इस अतिशय को देखकर वह व्यंतरी भी वहाँ आती है और गंधकुटी के मध्य विराजमान सुदर्शन केवली के सन्मुख शांतचित होकर अपने अपराधों की क्षमायाचना करते हुए सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेती है। पंडिता धाय और देवदत्ता भी वहाँ आकर अपने दुष्ट कृत्यों का प्रायश्चित करते हुए सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेती हैं तथा अपने योग्य व्रतों को भी धारण कर लेती हैं।

सुदर्शन मुनि के केवलज्ञान का समाचार सुनकर चम्पापुर से मनोरमा भी अपने पुत्र सुकांत के साथ वहाँ आती है। केवली भगवान् का दर्शन करके सुकांत को गृहस्थोचित शिक्षा देकर आप आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लेती हैं। अन्य कितने ही भव्य जीव मुनि, आर्यिका हो जाते हैं, कितने ही श्रावक-श्राविकाओं के व्रत ग्रहण कर लेते हैं।

सुदर्शन केवली अंत में अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर पौष शुक्ला पंचमी के दिन निर्वाण धाम को प्राप्त कर लेते हैं। असंख्य देव-देवियों के साथ इंद्र आकर सुदर्शन मुनि का निर्वाण महोत्सव मनाते हैं। तभी से वह पुण्यस्थल तीर्थ बन जाता है।

5.2 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1-सेठ सुदर्शन का शीलभंग करने का सर्वप्रथम प्रयास किसने किया ?

(क) कपिला ने ☐
(ख) रानी अभयमती ने ☐
(ग) वेश्या ने ☐

प्रश्न 2-सुदर्शन सेठ पूर्व भव में किस पर्याय में थे ?

(क) सुभग ग्वाला ☐
(ख) एक मछुआरा ☐
(ग) एक सेठ ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1-पण्डिता धाय ने सेठ सुदर्शन को रानी के महल में ले जाने का क्या उपाय किया ?

प्रश्न 2-सुदर्शन सेठ को रानी के कहने पर राजा ने क्या दण्ड दिया ?

प्रश्न 3-सुदर्शन सेठ को निर्वाण पद किस तिथि में कहाँ से प्राप्त हुआ ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1-राजा द्वारा मृत्युदण्ड दिये जाने पर सेठ सुदर्शन की जीवन रक्षा किस प्रकार हुई, सविस्तार बताइए ?

इकाई–3 पंचपरिवर्तन का प्रतिपादक–करणानुयोग

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) करणानुयोग की उपयोगिता एवं जीव के पंच परिवर्तन

(2) त्रिलोक परिचय एवं कालचक्र

(3) कर्म एवं कर्मों की विविध अवस्थाएँ

(4) जैनाचार्यों द्वारा कर्म सिद्धान्त के गणित का विकास

पाठ-1–करणानुयोग की उपयोगिता एवं जीव के पंच परिवर्तन

1.1 करणानुयोग की उपयोगिता—

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च।।4।।

जो श्रुतज्ञान लोक-अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को और चतुर्गतियों के परिवर्तन को दर्पण के समान जानता है उसे करणानुयोग कहते हैं।

जिसमें जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। यह तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण है। इससे परे चारों तरफ अनंतानंत अलोकाकाश है। इस लोक के मध्य में एक राजू की चौड़ाई में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सबसे प्रथम बीचोंबीच में जम्बूद्वीप है। इत्यादि रूप से जो लोक का वर्णन तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में वर्णित है, नरक, स्वर्ग, सिद्धशिला आदि का जो भी वर्णन है उसको पढ़कर पूर्ण आस्तिक्य भावना रखना ही सम्यग्दर्शन है। इस मध्यलोक के अंतर्गत ढाईद्वीप में पंद्रह कर्मभूमियाँ हैं। वहीं पर जन्म लेने वाले मनुष्य मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकते हैं अन्य नहीं।

सुषमासुषमा आदि छह कालरूप युग परिवर्तन को समझकर, चतुर्गतियों के परिभ्रमण को तथा पंच परावर्तन को पढ़कर संसार से भय उत्पन्न होता है। जीवों के कुल, योनि, जीवसमास, मार्गणा आदि को भी समझना चाहिए। तभी तो जीवों की दया का पूर्णतया पालन किया जा सकता है। अध्यात्म ग्रंथ नियमसार में श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होदि पढमवदं।।

कुल, योनि, जीव समास और मार्गणा आदि स्थानों में जीवों को जान करके उनके आरंभ में निवृत्तिरूप परिणाम का होना प्रथम अहिंसा महाव्रत है।

यह सब वर्णन इस करणानुयोग के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। खेद है कि आजकल कुछ लोग गुणस्थानों के लक्षण को भी नहीं समझते हैं और समयसार जैसे महान् ग्रंथों को बगल में दबाए रहते हैं। सचमुच में वे लोग अध्यात्म के मर्म को न समझकर अपनी आत्मा की ही वंचना कर लेते हैं। गुणस्थानों को समझने से ही सराग चारित्र कहाँ तक है और वीतराग चारित्र कहाँ से शुरू होता है इसकी जानकारी मिलती है।

श्री कुंदकुंद स्वामी ने जीवों की विभाव पर्यायों का वर्णन करते हुये कहा है कि मनुष्य के दो भेद हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। नारकी सात पृथिवियों के भेद से सात प्रकार के हैं, तिर्यंच चौदह जीवसमास की अपेक्षा चौदह प्रकार के हैं तथा चतुर्णिकाय की अपेक्षा देव चार प्रकार के हैं। इन सबका विस्तार से वर्णन करणानुयोग ग्रंथों से जान लेना चाहिये।

संस्थानविचय धर्मध्यान भी करणानुयोग के अध्ययन से ही किया जाता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए जो करण लब्धि होती है तथा चारित्र के लिये जो लब्धि होती है, इनका सविस्तार वर्णन भी करणानुयोग ही बतलाता है। किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ बंधती हैं, कितनी उदय में रहती हैं और कितने की सत्ता रहती है इत्यादि विवरण भी इसी अनुयोग से जाना जाता है। करणसूत्रों के द्वारा गणित का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन परिणामों की एकाग्रता के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन है।

आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की पीठ में एक बार अदीठ नाम का भयंकर फोड़ा हुआ था। उसकी शल्य चिकित्सा के समय सभी चिन्तित थे कि महाराज इतनी वेदना को कैसे झेलेंगे। आचार्यश्री ने अपना उपयोग कर्म प्रकृतियों के बंध-उदय आदि के गणित में लगा लिया जिससे उन्हें उस विषय में तन्मयता हो जाने से डाक्टर ने सफलतापूर्वक आपरेशन कर दिया। इन प्रकृतियों के उदय आदि के चिंतन के समय विपाकविचय धर्मध्यान होता है।

यह जीव सम्यक्त्व व संयम को प्राप्त कर भावलिंगी श्रमण शुद्धोपयोगी आत्मध्यानी बनकर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी चला जाता है। पुनः वहाँ से गिरकर कदाचित् मिथ्यात्व में आकर यदि एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में चला जाता है तो वह पुनः संसार में कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक परिभ्रमण करता रहता है। इन सब प्रकरणों को पढ़कर बोधि को प्राप्त कर उसकी सुरक्षा के लिये पुरुषार्थ जाग्रत होता है और मिथ्यात्व से भय उत्पन्न होता है।

इस प्रकार से यह करणानुयोग भी सम्यक्त्व व संयम का कारण है। इसके प्रसाद से रत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा होती रहती है। इस विषय में भी प्रमाद न करके इस अनुयोग का सतत अध्ययन करना चाहिये।

जीव के दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। "चतुर्गतौ संसरणं संसारः' चतुर्गति में संसरण करना—परिभ्रमण करना इसका नाम संसार है।

'संसारो येषां सन्ति ते संसारिणः' यह संसार जिन जीवों के पाया जाता है, वे संसारी कहलाते हैं।

1.2 संसार के 5 भेद हैं—

द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव संसार और भाव संसार। इन्हें परिवर्तन भी कहते हैं।

1.2.1 द्रव्य संसार के 2 भेद हैं—कर्म द्रव्य परिवर्तन और नोकर्म द्रव्य परिवर्तन।

कर्म द्रव्य परिवर्तन—

कर्मबंध के पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान हैं क्योंकि ये मोहनीय कर्म के दो भेद हैं और कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान एवं बलवान् है। मोहनीय के अभाव में संसार परिभ्रमण का चक्र ही रुक जाता है। इन मिथ्यात्व और कषाय के आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कंधों को प्रति समय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कार्मण वर्गणाएँ भरी हुई हैं, उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है। आयुकर्म सदा नहीं बँधता अतः सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कंधों को ही प्रतिसमय ग्रहण करता है और आबाधा काल पूरा हो जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ देता है। किसी जीव ने विवक्षित समय में ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कंधों को ग्रहण किया और आबाधा काल बीत जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ दिया। उसके बाद अनन्त बार अगृहीत को ग्रहण किया और आबाधा काल बीत जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ दिया। उसके बाद अनन्त बार अगृहीत को ग्रहण करके अनन्त बार मिश्र को ग्रहण करके और अनन्त बार गृहीत को ग्रहण करके छोड़ दिया। उसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि भावों को लेकर, उसी के वैसे ही परिणामों से पुनः कर्मरूप परिणत होते हैं, उसे कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

नोकर्म द्रव्य परिवर्तन—

इस तरह किसी विवक्षित समय में एक जीव ने औदारिक, वैक्रियिक और आहारक, इन तीनों शरीरों और छह

पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गल स्कंध ग्रहण किया और भोग कर छोड़ दिया। पूर्वोक्त क्रम के अनुसार जब वे ही नोकर्म पुद्गल उसी रूप, रस आदि को लेकर जीव के द्वारा पुनः नोकर्म रूप से ग्रहण किये जाते हैं, उसे नोकर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

''सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्ट संसारे।।''

'पुद्गल परिवर्तनरूप संसार में इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रमशः अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा।'

1.2.2 क्षेत्र परिवर्तन—

लोकाकाश के 343 राजुओं में सभी जीव अनेक बार जन्म ले चुके और मर चुके हैं। क्षेत्र परिवर्तन के दो भेद हैं— स्वक्षेत्र परिवर्तन, परक्षेत्र परिवर्तन।

स्वक्षेत्र परिवर्तन— कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव, अपनी जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते महामत्स्य की अवगाहनापर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है। इस प्रकार छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है, उसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

परक्षेत्र परिवर्तन—

कोई जघन्य अवगाहना का एक धारक सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ। पीछे वही जीव उसी रूप से उसी स्थान में दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं, उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोगकर मरण को प्राप्त हुआ। पीछे एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सम्पूर्ण लोक को अपना जन्म क्षेत्र बना ले, यह परक्षेत्र परिवर्तन है। कहा है-

''सव्वह्मि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।
ओगाहणाए बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे।।''

'समस्त लोक में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ क्षेत्ररूप संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक अवगाहनाओं को लेकर यह जीव क्रमशः उत्पन्न न हुआ हो।'

1.2.3 काल परिवर्तन—

कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया, फिर भ्रमण करके दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। फिर भ्रमण करके तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। यही क्रम अवसर्पिणी काल के संबंध में भी समझना चाहिए। इस क्रम से उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के बीस कोड़ाकोड़ी सागर के जितने समय हैं, उनमें उत्पन्न हुआ तथा इसी क्रम से मरण को प्राप्त हुआ अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरा, फिर दूसरी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरा, इसे काल परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

''उस्सप्पिणि अवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे।।''

'अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा।'

1.2.4 भव परिवर्तन—

नरक गति में जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है, इस आयु को लेकर कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया पुनः उसी आयु को लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं, उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। पीछे एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ, फिर दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते नरक गति की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर पूर्ण करता है।

फिर तिर्यंच गति में अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु लेकर उत्पन्न हुआ और पहले की तरह अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ। फिर एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यंच गति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य समाप्त करता है। फिर तिर्यंच गति की ही तरह मनुष्य गति में भी अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु से लेकर तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु समाप्त करता है। पीछे नरक गति की तरह देवगति की आयु को भी समाप्त करता है किन्तु देवगति में इतनी विशेषता है कि वहाँ इकतीस सागर की ही उत्कृष्ट आयु को पूर्ण करता है क्योंकि ग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर की ही होती है और मिथ्यादृष्टियों की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है। इस प्रकार चारों गतियों की आयु पूर्ण करने को भव परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

''णिरयादि जहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदीभमिदा।।''

'नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊपर के ग्रैवेयकपर्यंत के सब भवों में यह जीव मिथ्यात्व के आधीन होकर अनेक बार भ्रमण करता है।'

1.2.5 भाव परिवर्तन—

योगस्थान, अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान, कषायाध्यवसाय स्थान और स्थिति स्थान, इन चार के निमित्त से भाव परिवर्तन होता है। प्रकृति बंध और प्रदेश बंध के कारण आत्मा के प्रदेश परिस्पन्दरूप योग के तारतम्यरूप स्थानों को योग स्थान कहते हैं। अनुभाग बंध के कारण कषाय के तारतम्य स्थानों को अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान कहते हैं। स्थिति बंध के कारण कषाय के तारतम्य स्थानों को कषाय स्थान या स्थिति बंधाध्यवसाय स्थान कहते हैं। बंधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थिति स्थान कहते हैं। योग स्थान श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं। कषाय बंधाध्यवसाय स्थान भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

कोई मिथ्यादृष्टि, सैनी, पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरण कर्म की अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बाँधता है, उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषाय स्थान, जघन्य अनुभाग स्थान और जघन्य ही योग स्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और अनुभाग स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा योग स्थान होता है। जब सब योग स्थानों को समाप्त कर देता है, तब उसी स्थिति और उसी कषाय. स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग स्थान होता है। उसके योगस्थान भी पूर्वोक्त जानने चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग स्थान के समय सब योग स्थानों को समाप्त करता है। अनुभाग स्थानों के समाप्त होने पर, उसी स्थिति को प्राप्त जीव के दूसरा कषाय स्थान होता है। इस कषाय स्थान के अनुभाग स्थान तथा योग स्थान पूर्ववत् जानने ाचहिए। इस प्रकार सब कषाय स्थानों की समाप्ति तक अनुभाग स्थान और योग स्थानों की समाप्ति का क्रम जानना चाहिए।

कषाय स्थानों के भी समाप्त होने पर वही जीव उसी कर्म की एक समय अधिक अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति बाँधता है। उसके भी कषाय स्थान, अनुभाग स्थान तथा योग स्थान पूर्ववत् जानने चाहिए। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के कषाय स्थान, अनुभाग स्थान और

योगस्थानों का क्रम जानना चाहिए। इसी प्रकार सभी मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों में समझना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक मूल-प्रकृति और प्रत्येक उत्तर प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यंत प्रत्येक स्थिति के साथ पूर्वोक्त सब कषाय स्थानों, अनुभाग स्थानों और योग स्थानों को पहले की ही तरह लगा लेना चाहिए। इस प्रकार सब कर्मों की स्थितियों के भोगने को भाव परिवर्तन कहते हैं इन परिवर्तनों को पूर्ण करने में जितना काल लगता है, उतना काल भी उस-उस परिवर्तन के नाम से कहाता है। कहा भी है—

''सव्वा पयडिट्ठिदीओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे।।''

'इस जीव ने मिथ्यात्व के संसर्ग से सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध के स्थानों को प्राप्त कर भाव संसार में परिभ्रमण किया।'

इस प्रकार अनेक दु:खों की उत्पत्ति के कारण इन पाँच प्रकार के संसार में यह जीव मिथ्यारूपी दोष के कारण अनादिकाल तक भ्रमण करता रहता है। जब इस जीव को सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है, तब पंच परावर्तन समाप्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि सम्यक्त्व से च्युत होकर अधिक से अधिक संसार में भ्रमण करे, तो वह अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र काल तक भ्रमण करता है जो कि द्रव्य परिवर्तन के अन्तर्गत नोकर्म पुद्गल परावर्तन काल के समान है किन्तु यह भी अनन्तकाल सदृश होने से अनन्त कहलाता है।

1.3 गतियों से आने-जाने के द्वार—

'भवांतरावाप्तिः गतिः' एक भव को छोड़कर दूसरे भव के ग्रहण करने का नाम गति है। गति के चार भेद हैं— नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। एक-एक गति से आने के और उसमें जाने के कितने द्वार हैं सो ही देखिए—

1.3.1 नरकगति से आने-जाने के द्वार

(1) नरकगति से आने के दो द्वार हैं और नरकगति में जाने के भी दो ही द्वार हैं—एक मनुष्य और द्वितीय तिर्यंच। अर्थात् मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही मरकर नरकगति में जा सकते हैं तथा नरकगति से निकलकर जीव मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही हो सकते हैं, अन्य गति में नहीं जा सकते हैं।

असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पहले नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नरकों में नहीं चूँकि वे मन के बिना इतना अधिक पाप नहीं कर सकते हैं। सरीसृप तिर्यंच दूसरे नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं। पक्षीगण कदाचित् नरक जावें तो तीसरे नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं जा सकते हैं। सर्प चौथे नरक तक जा सकते हैं इससे नीचे नरकों में नहीं। सिंह कितना भी अधिक पाप क्यों न करे किन्तु वह पाँचवें नरक तक ही जन्म ले सकता है छठे या सातवें में नहीं। स्त्रियाँ अधिक से अधिक पाप करके भी छठे नरक तक ही जा सकती हैं, सातवें में नहीं चूँकि उनके उत्तम संहननों का अभाव है। पुरुष और मत्स्य सातवें नरक तक गमन करने की शक्ति रखते हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाले महामत्स्य और उसके कान में रहने वाले तन्दुल मत्स्य यदि हिंसा करते हैं या तंदुल मत्स्य जो कि सभी जीवों के खाने का भाव ही किया करता है, ये मत्स्य हिंसा के अभिप्राय से सातवें नरक में भी चले जाते हैं। यह तो हुई नरक गति में जाने वालों की बात। अथवा नरक गति में जाने के ये दो ही गतिरूप द्वार बताये हैं। अब वहाँ से आने वालों की गतियों को देखिए—

सातवें नरक से निकला हुआ जीव क्रूर पंचेन्द्रिय पशु ही होता है, वह मनुष्य नहीं हो सकता है। छठे नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य भी हो सकता है अर्थात् तिर्यंच या मनुष्य इन दो ही गतियों में जन्म ले सकता है और यह मनुष्य या तिर्यंच मोहकर्म के मंद हो जाने से कदाचित् गुरुओं का उपदेश या देवों का सम्बोधन प्राप्त करके अथवा जिनेन्द्रदेव के जन्म आदि कल्याणकों को या रथयात्रा आदि महामहोत्सवों को देखकर अथवा जातिस्मरण हो जाने के

निमित्त आदि कारणों से सम्यक्त्व को भी ग्रहण कर सकता है किन्तु इस छठे नरक से आये हुए जीव के भाव अणुव्रत या महाव्रत ग्रहण के नहीं हो सकते हैं चूँकि उसमें अभी इतने पापकर्म मंद नहीं हो पाते हैं। पाँचवें नरक से निकला हुआ जीव यदि मनुष्य हुआ है तो महाव्रत ग्रहण कर मुनि होने की भी क्षमता रखता है तथा यदि तिर्यंच है तो वह देशव्रत ग्रहण कर सकता है। चतुर्थ नरक से निकले हुए जीव में से यदि कोई मनुष्य हुआ है तो वह कदाचित् मुनिपद ग्रहण कर केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है और यदि तिर्यंच है तो वह देशव्रती तक हो सकता है। तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर भी हो सकता है अर्थात् यदि किसी जीव ने यहाँ पर पहले नरकायु का बंध कर लिया अनन्तर उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ पुनः केवली भगवान के या श्रुतकेवली के पादमूल में सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया तो वह जीव मरने के कुछ क्षण ही पूर्व सम्यक्त्व से च्युत होकर तीसरे नरक में चला जाता है और वहाँ पर पर्याप्त अवस्था को प्राप्त होते हुए पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तो फिर वहाँ अपनी आयुपर्यंत सम्यग्दृष्टि रहता है और उसके वहाँ से निकलने के छह महीने पहले ही देवगण वहाँ पर जाकर उस नारकी जीव (भावी तीर्थंकर) की सुरक्षा की व्यवस्था बना देते हैं-उसके चारों ओर परकोटा सुरक्षित कर देते हैं तथा वे देवगण यहाँ मध्यलोक में जन्म नगरी में अतिशय शोभा करके माता के आंगन में रत्नों की वर्षा प्रारंभ कर देते हैं। श्री, ह्री आदि देवियाँ इन्द्र महाराज की आज्ञा से आकर माता की सेवा करती हैं, गर्भशोधन आदि क्रियाएँ करती हैं।

अनन्तर तीर्थंकर होने वाला वह जीव नरक से निकलकर माता के गर्भ में प्रवेश करता है तब इन्द्र शची सहित असंख्य देव परिवारों के साथ आकर तीर्थंकर के माता-पिता की पूजा करके महान उत्सव के साथ गर्भकल्याणक मनाते हैं। तात्पर्य यह रहा कि तीसरे नरक से निकलकर जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे और पहले नरक से निकले हुए जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं, केवली भी हो सकते हैं और मोक्षपद को भी प्राप्त कर सकते हैं किन्तु नरकों से निकले हुए जीव चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण या प्रतिनारायण नहीं हो सकते हैं यह बात विशेष है। इस तरह नरकगति से आने के द्वार अर्थात् गतियाँ बताई गई हैं। इसमें यह बात खासतौर से समझने की है कि जो नरक से निकलकर तीर्थंकर या केवली आदि होते हैं वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है। सातवें नरक से जीव सम्यक्त्व लेकर नहीं निकल सकते हैं किन्तु अन्य नरकों से सम्यक्त्व लेकर भी निकल सकते हैं। सातों ही नरकों में जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं। नरकों में सम्यक्त्व के बहिरंग कारणों में वेदना अनुभव, जातिस्मरण और देवों द्वारा सम्बोधन, ये 3 कारण माने गये हैं। देवों द्वारा सम्बोधन तृतीय नरक तक ही है इससे नीचे कोई भी देव नहीं जाते हैं अतः चतुर्थ आदि नरकों में दो ही कारण हैं। यदि किसी मनुष्य ने पहले नरकायु बांध ली है और बाद में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो वह पहले नरक में ही जा सकता है, इससे नीचे नहीं।

नरकगति में नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष एवं उत्कृष्ट आयु में तेंतीस सागर प्रमाण है। इनकी आयु का विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों से जानना चाहिए।

तात्पर्य यही समझना चाहिए कि बिना सम्यक्त्व के बिना यह जीव अनन्तों बार नरकगति में जा चुका है और वहाँ से आकर मनुष्य भव को भी प्राप्त कर संसार में ही घूमता रहता है। यदि संसार भ्रमण को समाप्त करना है तो सम्यक्त्व को ग्रहण करना चाहिए।

1.3.2 तिर्यग्गति से आने-जाने के द्वार

पंचेन्द्रिय पशु यदि मरण करते हैं तो वे चौबीसों दण्डक में (चारों गतियों में) जा सकते हैं। तो पहले आप चौबीस दण्डक को समझ लीजिए—

नरक गति का दण्डक—1, भवनवासी के दण्डक—10, ज्योतिषी देव का—1, व्यंतरों का—1, वैमानिक देवों का—1, स्थावर के—5, विकलत्रय के—3, पंचेन्द्रिय तिर्यंच का—1 और मनुष्य का—1, ऐसे 1+10

+1+1+1+5+3+1+1=24 ये चौबीस दण्डक माने गये हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच इन चौबीसों दण्डकों में जा सकते हैं और चौबीस दण्डक से आये हुए जीव पशु हो सकते हैं।

विकलत्रय अर्थात् दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय और चार इंद्रिय जीवों के जाने की तथा आने की दश ही गति हैं। ये विकलत्रय मरकर पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य इन दश स्थानों में जन्म ले सकते हैं तथा इन दश स्थानों से निकलकर ही विकलत्रय होते हैं अर्थात् विकलत्रय जीव तिर्यंच गति और मनुष्य गति में ही तो जन्म ले सकते हैं और तिर्यंच या मनुष्य ही मरकर विकलत्रय हो सकते हैं। ये विकलत्रय जीव मरकर देवगति या नरकगति में नहीं जा सकते हैं और न देवगति या नरकगति से निकलकर जीव विकलत्रय ही हो सकते हैं। इनका अस्तित्व भी कर्मभूमि में ही है। ये जीव न नरक भूमि में हैं, न स्वर्ग भूमि में हैं, न भोगभूमि में हैं और न असंख्यात द्वीप समुद्रों में ही जन्मते हैं। ये मात्र कर्मभूमियों में, लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र में, स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तर भाग की कर्मभूमि में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में ही जन्मते हैं, अन्यत्र ये नहीं पाये जाते हैं।

नारकियों के बिना बाकी शेष तेईस दंडक के जीव मरकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक में जन्म ले सकते हैं अर्थात् भवनत्रिक देव और वैमानिक में ईशान स्वर्ग तक के देव मरकर इन तीनों स्थावर में जन्म ले सकते हैं तथा ये तीनों स्थावर मरकर देवगति और नरकगति के सिवाय सर्वत्र दश दण्डकों में अर्थात् पाँचों स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य में जन्म ले सकते हैं।

तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरकर पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पशु इन नव स्थानों में ही जन्म ले सकते हैं। वे मरकर मनुष्य, नारकी या देव नहीं हो सकते हैं। तथैव देव या नारकी भी इन दो स्थावरों में जन्म नहीं ले सकते हैं, किन्तु मनुष्य मरकर अग्निकायिक व वायुकायिक हो सकते हैं अर्थात् एक मनुष्य गति ही ऐसी गति है कि जिससे जाने के लिए सभी मार्ग खुले हुए हैं।

तिर्यंचों की आयु

शुद्ध पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु 12 हजार वर्ष, खर पृथ्वीकायिक जीव की 22 हजार वर्ष, जलकायिक जीव की 7 हजार वर्ष, अग्निकायिक जीव की 3 दिन, वायुकायिक जीव की 3 हजार वर्ष और वनस्पतिकायिक जीव की 10 हजार वर्ष प्रमाण है।

विकलेन्द्रियों में दो इन्द्रिय की 12 वर्ष, तीन इन्द्रियों की 49 दिन और चार इन्द्रियों की 6 मास प्रमाण है।

पंचेन्द्रियों में सरीसृप की उत्कृष्ट आयु 9 पूर्वांग, पक्षियों की 72 हजार वर्ष और सर्पों की 42 हजार वर्ष है। शेष तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण है।

यह उपर्युक्त आयु पूर्व-पश्चिम विदेहों में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के तथा स्वयंप्रभपर्वत के बाह्य कर्मभूमि भाग में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के तो सर्वकाल पायी जाती है तथा भरत और ऐरावत क्षेत्र के भीतर चतुर्थकाल के प्रथम भाग में किन्हीं तिर्यंचों के पाई जाती है।

एकेन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है तथा विकलेन्द्रिय एवं सकलेन्द्रियों की क्रमशः इससे उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है।

उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि के तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु क्रम से तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्य है। शाश्वत भोगभूमियों में जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट ये तीन प्रकार ही हैं।

अशाश्वत भोगभूमि में से जघन्य भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट एक पल्य प्रमाण है और मध्यम आयु के भेद अनेक प्रकार हैं। मध्यम भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट आयु दो पल्य है तथा मध्यम में अनेक भेद हैं। उत्तम भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और

उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है, मध्यम के अनेक भेद हैं।

हैमवत, हरि, विदेह के देवकुरु-उत्तरकुरु, रम्यक् और हैरण्यवत् ये छह, ऐसे ही पाँच मेरु संबंधी 30 भोगभूमि शाश्वत अनादिनिधन हैं उनमें परिवर्तन का कोई सवाल ही नहीं है तथा पाँच भरत और पाँच ऐरावतों के आर्य खण्डों में जो षट्काल परिवर्तन से तीन कालों में उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि होती हैं, वे अशाश्वत हैं उनमें अवसर्पिणी युग में क्रम से हानि और उत्सर्पिणी में क्रम से वृद्धि चलती रहती है। वहीं पर जघन्य, मध्यम आयु होती हैं।

भोगभूमिज तिर्यंचों के आने-जाने के द्वार—कर्मभूमियाँ मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही भोगभूमि में जाते हैं तथा भोगभूमि से मरकर तिर्यंच जीव नियम से देवगति में ही जाते हैं। भवनत्रिक से ईशान स्वर्ग तक इनका जाने का मार्ग खुला है। कर्मभूमि के असंयत सम्यग्दृष्टी या देशव्रती तिर्यंच अधिक से अधिक सोलहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं, ऐसा भी विधान है।

तिर्यंचों में गुणस्थान—पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों के अतिरिक्त पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है अर्थात् ये बेचारे मिथ्यादृष्टी ही बने रहते हैं।

भरत, ऐरावत के आर्यखण्ड के तिर्यंचों में पाँच गुणस्थान तक हो सकते हैं। पाँच विदेहों में, विद्याधर श्रेणियों में व स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में तिर्यंचों के पाँच गुणस्थान तक देखे जाते हैं।

म्लेच्छों के तिर्यंचों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

भोगभूमिज तिर्यंचों के पहला, दूसरा, तीसरा और चौथा ये चार गुणस्थान तक हो सकते हैं। वहाँ पर पाँचवाँ देशविरत गुणस्थान नहीं होता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण-कितने ही तिर्यंच गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोध से तथा कितने ही जीव स्वभाव से प्रथमोपशम अथवा वेदक सम्यक्त्व ग्रहण कर लेते हैं तथा कितने ही सुख-दुःख को देखकर, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्र महिमा के दर्शन से और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार से कर्मभूमिज जीव गुरुओं के उपदेश या देवों के प्रतिबोध आदि कारणों से पाँच अणुव्रतों को ग्रहणकर देश-संयत भी हो जाते हैं। तिर्यंचगति में सम्यक्त्व प्राप्ति के मुख्य तीन कारण हैं—जाति स्मरण, धर्मोपदेश और जिनबिम्बदर्शन।

सम्यग्दृष्टी तिर्यंच मरकर नियम से देवगति में वैमानिक देव होते हैं अर्थात् भवनत्रिक में नहीं जाते हैं और न अन्यत्र तीन गतियों में ही जाते हैं। यदि इन्होंने पहले तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांध ली, पीछे सम्यक्त्व ग्रहण किया है तो सम्यक्त्व सहित ये जीव भोगभूमि के तिर्यंच या मनुष्य हो जाते हैं पुनः वहाँ से नियम से सौधर्म या ईशान स्वर्ग में देव हो जाते हैं।

इन तिर्यंचों में से भोगभूमिज तिर्यंचों में संकल्पवश से केवल एक सुख ही होता है और कर्मभूमिज तिर्यंचों में सुख-दुःख दोनों ही पाये जाते हैं।

1.3.3 मनुष्यगति से आने-जाने के द्वार

मनुष्यगति में प्राप्त करने योग्य सबसे श्रेष्ठ जो स्थान 'मुक्तिधाम' है यदि आप इस मनुष्य पर्याय से उस मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए धर्म पुरुषार्थ का अवलंबन कर लेते हैं तो ठीक है अन्यथा इस चिंतामणि सदृश मनुष्य गति से आप निगोद में भी जा सकते हैं-जहाँ से पुनः निकलना बहुत ही दुर्लभ हो जाता है अतः सभी पर्यायों में सार मनुष्य पर्याय है, मनुष्य पर्याय का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण सुख है, ऐसा समझकर संयम को ग्रहण कर लेना चाहिए।

मनुष्य चौबीसों दण्डक में जा सकता है इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है। यह मनुष्य मुक्ति को भी प्राप्त करके तीन लोक का स्वामी हो सकता है। चूँकि मुनि बने बिना कोई भी जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है और मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी मुनि हो नहीं सकता। जो सम्यग्दृष्टी मुनि होते हैं वे ही इस संसार समुद्र को पार कर शिवधाम में पहुँचते

हैं वहाँ पर जाकर अविनश्वर हो जाते हैं फिर पुनः उन्हें यहाँ आने का कोई मार्ग ही नहीं रहता है। वहाँ पर वे शाश्वत चिच्चैतन्य–स्वरूप अपनी आत्मा में ही निवास करते हैं और परमानंदमय सुख का अनुभव करते रहते हैं।

इस प्रकार से मनुष्यगति से जाने के गति द्वार पच्चीस हो जाते हैं तथा मनुष्यगति में आने के द्वार बाईस ही हैं। चूँकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीव मरकर मनुष्य नहीं हो सकते हैं तथा पच्चीसवाँ दण्डक जो सिद्धगतिरूप है वहाँ से आने का तो सवाल ही नहीं उठता है। यह तो सामान्य मनुष्यों की बात हुई है। अब विशेष अर्थात् पदवीधारी मनुष्यों की गति–आगति को देखिए—

तीर्थंकर के आने के दो द्वार हैं—या वे स्वर्ग से आते हैं या नरक से और पुनः वे गति अर्थात् जन्म को धारण नहीं करते हैं बल्कि उसी भव से लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो जाते हैं अतः तीर्थंकर के आने के द्वार दो हैं और जाने का द्वार एक पच्चीसवें दण्डकरूप मोक्ष ही है।

चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र ये स्वर्ग- लोक से ही आते हैं अतः इनके आने का द्वार एक ही है तथा इनमें से चक्रवर्ती स्वर्ग, नरक या मोक्ष इन तीन स्थानों में जा सकते हैं। यदि चक्रवर्ती तपश्चरण करते हैं अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं तो स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और यदि राज्य में मरण करते हैं तो नरक में चले जाते हैं किन्तु अंत में ये मोक्ष को नियम से प्राप्त करते हैं चूँकि पदवीधारी हैं। बलभद्रों के लिए जाने के दो ही द्वार हैं—स्वर्ग या मोक्ष। क्योंकि ये नियम से तपश्चरण धारण करते हैं। अर्धचक्री अर्थात् नारायण और प्रतिनारायण ये नियम से नरक ही जाते हैं चूँकि ये राज्य में ही मरते हैं अतः ये उस ही भव से मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकते हैं किन्तु अंत में ये नियम से निर्वाण प्राप्त करते ही करते हैं अर्थात् ये चक्रवर्ती या अर्धचक्री उस भव से यदि नरक भी चले जाते हैं तो भी कतिपय भवों को धारण कर पुनः ये मोक्ष अवश्य प्राप्त करते हैं। चूँकि पदवीधारक पुरुषों के आखिर में मोक्ष का नियम ही है। यह शलाका पुरुषों की बात हुई। इनके अतिरिक्त भी जो पदवीधर हैं उनके विषय में पढ़िये—

जो कुलकर हो जाते हैं, या नारद हो जाते हैं या रुद्र हो जाते हैं और कामदेव हो जाते हैं या तीर्थंकर के माता–पिता हो जाते हैं, वे भी इन पदों को धारण करने के बाद कुछ भव के बाद मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त करते हैं चूँकि इन पदों को धारण करने वाले जीव बहुत काल तक संसार में भ्रमण नहीं कर सकते हैं। कुलकर चौदह होते हैं, नारद नव होते हैं, रुद्र ग्यारह होते हैं और कामदेव चौबीस होते हैं।

कुलकर स्वर्ग में ही जाते हैं अतः इनके जाने का एक ही द्वार है तथा आने में ये इस अवसर्पिणी में तो विदेह क्षेत्र में पहले मनुष्यायु बांध कर पीछे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हुए हैं अतः वे यहाँ भरतक्षेत्र के तृतीय काल के अंत में भोगभूमि में कुलकर हुए हैं। जन्मांतर में ये भी निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

कामदेव पदवी धारक पुरुष नियम से कामदेव का नाशकर मोक्षधाम को प्राप्त करते हैं। नारद और रुद्र अधोगति में ही अर्थात् नरक में ही जाते हैं क्योंकि नारद तो कलहप्रिय होते हैं और रुद्र अपने जीवन को पाप से कलंकित कर लेते हैं। फिर भी ये नारद और रुद्र भी जन्मांतर में नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

तीर्थंकर के पिता या तो स्वर्ग जाते हैं या सिद्धपद प्राप्त करते हैं अतः इनके भी जाने के दो ही द्वार हैं। माता स्वर्ग ही जाती हैं पुनः अल्पकाल में ही निर्वाण को प्राप्त कर लेती हैं।

शाश्वत भोगभूमि और अशाश्वत भोगभूमि दोनों भोगभूमि से मनुष्यों के जाने का एक ही द्वार है—देवगति अर्थात् भवनत्रिक या सौधर्म–ईशान स्वर्ग तक ये जीव मरकर जा सकते हैं। भोगभूमि में आने के दो द्वार हैं–कर्मभूमि के पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य। अर्थात् ये ही जीव मरकर भोगभूमि में जा सकते हैं।

मनुष्यों की आयु—मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की है और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। यह आयु कर्मभूमियाँ जीवों की है। पूर्व–पश्चिम विदेह में तथा चतुर्थकाल के पूर्वकाल में यह उत्कृष्ट आयु होती है। मध्यम आयु

के अनेक भेद हैं। भोगभूमि में उत्तम में तीन पल्य, मध्यम में दो पल्य और जघन्य में एक पल्य आयु है। परिवर्तनशील भोगभूमियों में उत्कृष्ट तो यही आयु है। जघन्य आयु उत्तम भोगभूमि में एक समय अधिक दो पल्य, मध्यम भोगभूमि में एक समय अधिक एक पल्य और जघन्य भोगभूमि में एक समय अधिक एक पूर्वकोटिप्रमाण है तथा मध्यम आयु के अनेक भेद हैं।

लवण समुद्र आदि में कुभोगभूमियों में कुमानुष रहते हैं, ये भी मरकर देवगति को ही प्राप्त करते हैं।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण-उत्तर श्रेणियों में जो मनुष्य रहते हैं वे विद्याधर कहलाते हैं। इनमें कुछ विद्याएँ जाति और कुल की परम्परा से प्राप्त रहती है, कुछ विद्याएँ सिद्ध करके ये लोग नाना प्रकार से विद्याओं के निमित्त से सुखों का अनुभव करते हैं।

मनुष्यों में गुणस्थान व्यवस्था—विदेह क्षेत्रों में हमेशा चौदहों गुणस्थान पाये जाते हैं अर्थात् वहाँ से हमेशा मोक्ष का द्वार खुला रहता है। भोगभूमि में चार गुणस्थान तक ही हो सकते हैं। सभी म्लेच्छों के मनुष्यों को वहाँ पर एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

विद्याधरों के चौदह गुणस्थान तक हो जाते हैं, जबकि ये विद्याओं को छोड़कर दीक्षा ले लेते हैं तब, अन्यथा विद्यासहित अवस्था में पाँच गुणस्थान तक हो सकते हैं अर्थात् विद्या सहित जीव कदाचित् क्षुल्लक बन सकते हैं किन्तु मुनि नहीं बन सकते।

भरत-ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के चतुर्थकाल में चौदह गुणस्थान होते हैं। चतुर्थकाल के जन्मे हुए मनुष्य कदाचित् पंचमकाल में मोक्ष जा सकते हैं किन्तु पंचमकाल के जन्मे हुए नहीं जा सकते। पंचमकाल में उत्तम तीन संहनन के न होने से अधिक से अधिक सोलह स्वर्ग तक का मार्ग खुला है। कदाचित् कोई महामुनि लौकांतिक देव भी हो सकते हैं अर्थात् पंचमकाल में छठा, सातवाँ गुणस्थान होता है अतः मुनियों का अस्तित्व अंत तक है।

सम्यक्त्वग्रहण के कारण—कितने ही मनुष्य गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोधन से अथवा स्वभाव से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। कितने ही मनुष्य जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्रदेव के कल्याणकों को देखकर, कितने ही जीव जिनबिम्ब के दर्शन से औपशमिक आदि सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेते हैं क्षायिक सम्यक्त्व तो केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही प्रगट होता है अतः आज पंचमकाल में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता है। मनुष्यगति में सम्यक्त्व उत्पत्ति के मुख्य तीन कारण हैं—जातिस्मरण, धर्मोपदेश एवं जिनबिम्बदर्शन।

सम्यक्त्वग्रहण के पहले यदि इसने तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांध ली है पुनः क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो यह जीव भोगभूमि का तिर्यंच या मनुष्य होगा, अन्यथा स्वर्ग ही जाएगा। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असैनी आदि नहीं होता है, स्त्री या नपुंसक नहीं होता है और न वह दरिद्री, विकलांग, अल्पायु ही होता है किन्तु महापुरुष होकर कालांतर में या उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

भव्यात्माओं! आपको शायद देवगति सबसे अधिक प्रिय लगती हो, किन्तु देखिये! देवगति के सुख भोगकर यह जीव वहाँ की आयु पूर्णकर नियम से मरेगा और मरकर तिर्यंच होगा या मनुष्य। यदि मिथ्यादृष्टि है और वहाँ के भोगों को छोड़ते हुए अधिक संक्लेश हो रहा है तो प्रायः वही जीव एकेन्द्रिय स्थावर योनि में पृथ्वी, जल या वनस्पति हो जाता है, फिर वहाँ से निकलने का क्या उपाय है! इन्हीं तुच्छ कुयोनियों में यह जीव भटकता रहता है क्योंकि एकेन्द्रिय में कान के बिना गुरू का उपदेश आदि है ही नहीं, अतः देवगति की इच्छा नहीं करना चाहिये।

1.3.4 देवगति से आने-जाने के द्वार

देवों के तेरह दंडक माने हैं—भवनवासी देवों के 10, व्यंतरवासी देवों का 1, ज्योतिषी देवों का 1 और वैमानिक देवों का 1, ऐसे 10 + 1 + 1 + 1 = 13 दंडक देवसंबंधी हैं।

मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच इनके बिना कोई भी देवपद को प्राप्त नहीं कर सकते हैं अर्थात् स्थावर व विकलत्रय तिर्यंच देवगति प्राप्त नहीं कर सकते हैं तथा देव और नारकी भी देवगति प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

देवों के लिये जाने के पाँच द्वार हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य। अर्थात् देव मरकर इन पाँच पर्यायों में जन्म धारण कर सकते हैं। भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिषी देव तथा वैमानिक देवों में से सौधर्म, ईशान इन दो स्वर्गों तक के देव ही मरकर कदाचित् स्थावर योनि में जन्म ले सकते हैं, इनसे आगे के देव नहीं तथा बारहवें स्वर्ग तक के देव मरकर कदाचित् पंचेन्द्रिय तिर्यंच हो सकते हैं आगे के नहीं। अर्थात् दूसरे स्वर्ग तक देवों के लिये तीन स्थावर काय, पशु और मनुष्य इन पाँचों में आने का द्वार खुला हुआ है, तीसरे स्वर्ग से लेकर बारहवें स्वर्ग तक के देवों के लिए स्थावर का द्वार बंद हो गया है, मात्र पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य इनका द्वार खुला हुआ है, तथा उससे ऊपर के देवों के लिए एक मनुष्य का ही द्वार शेष है बाकी सभी द्वार बंद हैं। ये तो देवों के आने के द्वार आपने सुने, अब जाने के द्वार भी देखिये—

पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य ही देवगति को प्राप्त कर सकते हैं अन्य नहीं। इसमें भी भोगभूमि के मनुष्य या पशु मरकर भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में अथवा सौधर्म, ईशान स्वर्ग में जन्म ले सकते हैं अर्थात् इनके लिये दूसरे स्वर्ग तक ही मार्ग खुला हुआ है, आगे नहीं। किन्तु देव, मरकर भोगभूमि में जन्म नहीं ले सकते हैं, यह नियम है। कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यंच ही भोगभूमि में जाते हैं अन्य कोई नहीं जा सकते हैं।

कर्मभूमि के तिर्यंच यदि सम्यक्त्व और अणुव्रत धारण कर लेते हैं तो वे बारहवें स्वर्ग तक चले जाते हैं।

असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य बारहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं।

अन्यमती साधु पंचाग्नि तप करके भवनत्रिक देवों तक जा सकते हैं। पारिव्राजक और दंडी साधु अधिक से अधिक पाँचवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। परमहंस नामक साधु बारहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं इसके ऊपर नहीं जा सकते। परमत से मोक्ष की सिद्धि नहीं है चूँकि कर्मों का नाश जैनमत के बिना सर्वथा असम्भव ही है।

श्रावक और श्राविकाएँ भले ही वे क्षुल्लक, ऐलक या क्षुल्लिका ही क्यों न हों किन्तु ये सोलहवें स्वर्ग तक ही जा सकते हैं, इसके आगे नहीं। क्योंकि बिना मुनिपद धारण किये आगे जाना असंभव है। द्रव्यलिंगी मुनि नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं, आगे नहीं। भावलिंगी महामुनि ही नवअनुदिश और पाँच अनुत्तरों में जन्म लेते हैं।

यह जीव कितनी ही बार देवपद को प्राप्त कर चुका है किन्तु उनमें भी कुछ ऐसे पद हैं जिन्हें नहीं पाया, नहीं तो अब तक मोक्ष को प्राप्त कर लेता।

इंद्र पद को इसने नहीं पाया अर्थात् सौधर्म आदि छह दक्षिणेंद्र नियम से एक भवावतारी होते हैं। उन्हीं के लोकपाल पद को भी इसने नहीं पाया चूँकि वे भी मोक्षगामी हैं। शचीदेवी भी नियम से वहाँ से नरलोक में आकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं चूँकि तीर्थंकरों के जन्म महोत्सव में जब इंद्राणी बालक को प्रसूतिगृह में लेने जाती हैं उस समय उन्हें तीर्थंकर शिशु को स्पर्श कर इतना आनन्द होता है कि वे उसी समय अपनी स्त्रीपर्याय का छेद कर देती हैं। दूसरी बात यह है कि शचिदेवी को नियम से उस पर्याय में सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद पुनः स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है।

लौकांतिक देव तथा अनुत्तरवासी देवों के लिये भी निर्वाण का नियम है। लौकांतिक देव तो एक भवावतारी ही होते हैं और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित इन विमानों के देव द्विचरम माने गये हैं अर्थात् अधिक से अधिक दो भव लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा सर्वार्थसिद्धि के देव नियम से वहाँ से आकर एक भव से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इस सर्वार्थसिद्धि के ऊपर सिद्धलोक में जाने वाले जीव अर्थात् मुक्त होने वाले जीवों के आने का द्वार तो बंद ही है और मुक्तगति में जाने के लिए एक मनुष्यगति का ही द्वार है।

भवनवासी, व्यंतरवासी और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं लेते हैं किन्तु वहाँ पर

सम्यक्त्व ग्रहण कर सकते हैं।

सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण—कोई देव जिनमहिमा के दर्शन से, कोई जातिस्मरण से, कोई देवों की ऋद्धि देखने से, कोई पाँच कल्याणकों का उत्सव देखने से और कोई देव उपदेश के श्रवण से सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं अतः भवनत्रिकों में भी चार गुणस्थान होते हैं। देवगति में सम्यक्त्वोत्पत्ति के मुख्य चार कारण माने हैं—जातिस्मरण, जिनमहिमादर्शन, धर्मोपदेश एवं देवर्द्धिदर्शन।

कल्पवासी देवों में भी नवग्रैवेयक तक भाव मिथ्यादृष्टी जीव जा सकते हैं, द्रव्य से मिथ्यावेषधारी पाखंडी अर्थात् जिनमत के बाह्य साधु तो बारहवें स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं। आगे के विमानों में अर्थात् नवअनुदिश और अनुत्तरों में सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं अतः नवग्रैवेयक तक जीव यदि मिथ्यादृष्टी हैं तो वे सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकते हैं इसलिये वहाँ तक चारों गुणस्थान होते हैं।

1.4 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1-नरक गति में जाने के कितने मार्ग हैं ?

(क) दो ☐
(ख) तीन ☐
(ग) चार ☐

प्रश्न 2-वायुकायिक जीवों की आयु कितनी होती है ?

(क) 10 हजार वर्ष ☐
(ख) 3 हजार वर्ष ☐
(ग) 12 हजार वर्ष ☐

प्रश्न 3-मोक्ष किस गति से प्राप्त होता है ?

(क) तिर्यंचगति से ☐
(ख) मनुष्यगति से ☐
(ग) देवगति से ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1-चारों गतियों में सम्यक्त्व प्राप्ति के कितने कारण हैं ? नाम लिखिए।

प्रश्न 2-तिर्यंचगति में कितने दण्डक माने गये हैं ? नाम लिखिए ?

प्रश्न 3-मनुष्यों में गुणस्थान व्यवस्था कैसे पाई जाती हैं ? खुलासा कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1-जीव में पंच परिवर्तन कैसे होता है ? परिभाषा सहित संक्षेप में लिखिए।

पाठ 2–त्रिलोक परिचय एवं कालचक्र

2.1 इस लोक में ऐसा एक भी प्राणी नहीं है जो दु:ख निवृत्ति और सुख प्राप्ति का इच्छुक न हो। यही कारण है कि धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर अनादिकाल से सुख प्राप्ति के प्रधान साधनभूत मोक्षमार्ग का उपदेश देते आ रहे हैं। जिस प्रकार आत्मस्वरूप परिज्ञान और परमात्म स्वरूप परिज्ञान का होना मोक्षमार्ग के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार यथार्थ त्रिलोक–परिज्ञान का होना भी आवश्यक है।

सर्वज्ञ भगवान ने लोकालोक को प्रत्यक्ष देखकर उसके स्वरूप को अपनी दिव्यध्वनि में बताया है—अत: ये त्रिलोक–स्वरूप कल्पित या अनुमानित नहीं है।

'लोक' शब्द 'लुक्' धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। अत: जितने क्षेत्र में अनंतानंत जीव द्रव्य, जीवों से भी अनंतानंत गुणे पुद्गल द्रव्य, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असंख्यात कालाणु द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। (**धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक:**'')। ये सभी द्रव्य अनादि अनंत स्वत: सिद्ध और अखंड होने के साथ–साथ अपनी सहायता से ही प्रति समय परिणमन करते हैं। अत: यह लोक किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, अनादि अनंत है। (त्रिलोकसार में भी लिखा है—''**लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइ णिहणो सहावणिव्वत्तो । जीवा जीवेहिं फुढो सव्वागासवयवो णिच्चो। अर्थ**—लोक अकृत्रिम है, अनादि अनंत है, स्वभाव से निष्पन्न है, जीव–अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है, समस्त आकाश का अंग है और नित्य है।)

आकाश अनंत प्रदेशी एक अखंड सर्वव्यापी द्रव्य है उसके बहु मध्यभाग में, कमरे में लटकते हुये बल्ब की भांति शेष पाँच प्रकार के द्रव्यों से पूरित असंख्यात प्रदेशों वाला लोक है और चारों तरफ फैले हुये शेष अनंत प्रदेशी आकाश की अलोक संज्ञा है।

आज की इन्द्रियसाध्य प्रणाली में 24–25 हजार मील के विस्तार वाली दुनियाँ मानी जा रही है। मानें, परंतु ये अन्वेषक भी मानी हुई दुनियाँ से अधिक–अधिक स्थल पाये जाने पर और–और मानते चले आये हैं इससे यह नहीं माना जा सकता है कि जहाँ तक हम लोग आ जा सकते हैं उतनी ही दुनियाँ है। जैसे—जब अमेरिका देश की स्थिति का पता नहीं था, तब हम 'अमेरिका कोई देश होगा' ऐसा स्वीकार नहीं करते थे, परन्तु आज प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता? तद्वत् यद्यपि आज स्वर्ग–नरक आदि लोक हमको दृष्टिगत नहीं, तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि वे हैं ही नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान को कोई स्वार्थ नहीं था जिससे वे असत्य भाषण करते। हमको उन लोकों का पता नहीं, तो यह हमारे ज्ञान की कमी है। हमें अपने ज्ञान को विशुद्ध बनाना चाहिये तथा भगवान के वचनों पर विश्वास करके उनको प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जैन सिद्धांत के अनुसार पैर फैलाये, कमर पर हाथ रखे, खड़े हुये मनुष्य का जैसा आकार होता है, वैसा लोक एक पुरुषाकार है। लोक की ऊँचाई चौदह राजू, मोटाई (उत्तर और दक्षिण दिशा में) सर्वत्र सात राजू है। पूर्व और पश्चिम दिशा में चौड़ाई मूल में सात राजू, सात राजू की ऊँचाई पर एक राजू, साढ़े दश राजू की ऊँचाई पर पाँच राजू और अंत में एक राजू है। गणित करने पर लोक का क्षेत्रफल 343 घन राजू होता है। राजू एक पैमाना है जो कि असंख्यात मीलों का होता है। यह लोक सब तरफ से तीन वात (पवन) वलयों से वेष्टित है अर्थात् लोक, घनोदधि वातवलय से, घनोदधि, घनवातवलय से और घनवातवलय तनुवातवलय से वेष्टित है। तनुवातवलय आकाश के आश्रय है और आकाश अपने ही आश्रय है। उसको दूसरे आश्रय की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है। इस लोक के बिलकुल बीच में 1 राजू चौड़ी 1 राजू लम्बी 14 राजू ऊँची त्रस नाली है, जिसमें त्रस और स्थावर जीव रहते हैं और उस त्रसनाली के बाहर शेष 329 राजू के स्थान में स्थावर जीव रहते। तथा उपपाद मारणान्तिक समुद्घात और लोक पूर्ण समुद्घात की अपेक्षा त्रस भी पाये जाते हैं।

इस लोक के तीन भाग हैं—1. अधोलोक, 2. मध्यलोक, 3. ऊर्ध्वलोक, मूल से सात राजू की ऊँचाई तक अधोलोक है, **सुमेरु पर्वत की ऊँचाई (1 लाख 40 योजन) के समान मध्यलोक** है, और सुमेरु पर्वत के ऊपर अर्थात् 1 लाख 40 योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है।

2.2 अधो लोक—

नीचे से लगाकर मेरु की जड़पर्यन्त सात राजू ऊँचा अधोलोक है। जिस पृथ्वी पर हम निवास करते हैं उस पृथ्वी का नाम चित्रा पृथ्वी है इसकी मोटाई एक हजार योजन है और यह पृथ्वी मध्य लोक में गिनी जाती है सुमेरु पर्वत की जड़ एक हजार योजन चित्रा पृथ्वी के भीतर है, तथा 99 वें हजार योजन चित्रा पृथ्वी के ऊपर है और 40 योजन की चूलिका है। सब मिलकर 1 लाख 40 योजन ऊँचा मध्य लोक है। मेरु की जड़ के नीचे से अधो लोक का प्रारंभ है सबसे प्रथम मेरु पर्वत की आधारभूत रत्नप्रभा नाम की पृथ्वी है इस पृथ्वी का व शेष 6 पृथ्वियों का पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण दिशा में लोक के अंत पर्यन्त विस्तार है। मोटाई का प्रमाण सबका भिन्न-भिन्न है। रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई 1 लाख 80 हजार योजन है, इसमें 16 हजार योजन मोटा खरभाग, 84 हजार योजन मोटा पंकभाग और 80 हजार योजन मोटा अब्बहुल भाग, ये तीन भाग हैं जिनमें खरभाग में असुरकुमार देवों के निवास, नौ प्रकार के भवनवासी देवों के और राक्षसों के सिवाय सात प्रकार के व्यंतर देवों के निवास स्थान हैं। पंकभाग में असुरकुमार तथा राक्षसों का निवास है। भवनवासी देवों के भवनों में 7 करोड़ 32 लाख अकृत्रिम जिन मंदिर हैं। नीचे के अब्बहुल भाग तथा शेष की छः पृथ्वियों में नारकियों का निवास है। इससे नीचे कुछ कम एक राजू आकाश जाकर शर्करा प्रभा नाम की दूसरी पृथ्वी 32 योजन मोटी है। इससे नीचे कम एक राजू आकाश जाकर बालुका प्रभा की तीसरी 28 हजार योजन मोटी है। इससे नीचे कुछ कम एक राजू आकाश जाकर 24 हजार योजन मोटी पंक प्रभा नाम की चौथी पृथ्वी है। इसके नीचे कुछ 1 राजू आकाश जाकर 20 हजार योजन मोटी धूमप्रभा नाम की पाँचवीं पृथ्वी है। इसके नीचे कुछ कम 1 राजू आकाश जाकर 16 हजार योजन मोटी तमप्रभा नाम की छठवीं पृथ्वी है। इसके नीचे कुछ कम एक राजू आकाश जाकर 8 हजार योजन मोटी महातमः नाम की सातवीं पृथ्वी है। इसके नीचे भूमि रहित 1 राजू प्रमाण जो क्षेत्र है वह निगोदादि पञ्च स्थावरों से भरा हुआ है। घनोदधि, घनवात, और तनुवात नाम के जो तीन वालवलय हैं वे रत्नप्रभादि प्रत्येक पृथ्वी के आधार भूत हैं। इन सातों पृथ्वियों के क्रम से धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये सात रूढ़िगत नाम हैं।

नारकियों के निवासरूप सातों पृथ्वियों में अपनी-अपनी मोटाई में नीचे और ऊपर एक-एक हजार योजन छोड़कर भूमि में तलघरों की तरह 49 पटल हैं। पहली पृथ्वी के अब्बहुल भाग में 13, दूसरी में 11, तीसरी में 9, चौथी में 7, पाँचवीं में 5, छठवीं में 3 और सातवीं पृथ्वी में 1 पटल है। अब्बहुल भाग के 13 पटलों में से पहले पटल का नाम सीमन्तक पटल है। इस सीमन्तक पटल में सबके मध्य में मनुष्य लोक के समान 45 लाख योजन प्रमाण चौड़ा गोल (कूपवत्) इन्द्रक बिल (नरक) है। चारों दिशाओं में असंख्यात योजन चौड़े 49-49 श्रेणीबद्ध बिल हैं और चारों विदिशाओं में 48-48 असंख्यात योजन चौड़े श्रेणीबद्ध बिल हैं तथा दिशा-विदिशाओं के बीच में प्रकीर्णक (फुटकर) बिल हैं जिनमें कोई असंख्या योजन चौड़े और कोई संख्यात योजन चौड़े हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातों पृथ्वियों में 49 पटल हैं उनमें भी बिलों का ऐसा ही क्रम है, किन्तु प्रत्येक पटल में आठों दिशाओं के श्रेणीबद्ध बिलों में से एक-एक बिल घटता गया है, अतः सातवीं पृथ्वी के चारों दिशाओं में एक-एक बिल ही रह जाता है। प्रथम पृथ्वी के अब्बहुल भाग में 30 लाख बिल, दूसरी में 25 लाख, तीसरी में 15 लाख, चौथी में 10 लाख, पाँचवीं में 3 लाख, छठवीं पृथ्वी में 5 कम 1 लाख और सातवीं पृथ्वी में 5 ही नरक बिल हैं। सातों पृथ्वियों के इंद्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक नरकों का जोड़ 84 लाख है। इन्हीं नरकों में नारकी जीवों का निवास है।

पहली पृथ्वी के पहले पटल में नारकियों के शरीर की ऊँचाई तीन हाथ है और यहाँ से क्रम से ऊँचाई बढ़ती हुई तेरहवें पटल में 7 धनुष 3 हाथ की ऊँचाई है। तदनन्तर दूसरी आदि पृथ्वियों के अंत में इंद्रक बिलों में दूनी–दूनी वृद्धि करने से सातवीं पृथ्वी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई 500 धनुष है। ऊपर के नरक में जो उत्कृष्ट ऊँचाई है उससे कुछ अधिक नीचे के नरक में जघन्य ऊँचाई है। पहली पृथ्वी में नारकियों की जघन्य आयु 10 हजार वर्ष की है उत्कृष्ट आयु 1 सागर है। प्रथमादि पृथ्वियों में जो उत्कृष्ट आयु है वही एक समय अधिक द्वितीयादि पृथ्वियों में जघन्य आयु है। द्वितीयादिक पृथ्वियों में क्रम से तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है।

नारकी मरण करके नरक और देवगति में नहीं उपजते किन्तु मनुष्य और तिर्यञ्च गति में ही उपजते हैं। इसी प्रकार मनुष्य और तिर्यञ्च ही मरकर नरकगति में उपजते हैं। देवगति में मरण करके कोई जीव नरक में उत्पन्न नहीं होते। असंज्ञी पंञ्चेन्द्री जीव (मन रहित) मरकर पहले नरक तक ही जाते हैं आगे नहीं जाते। सरीसृप जाति के जीव दूसरी पृथ्वी तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सर्प चौथे नरक तक, सिंह पाँचवें नरक तक, स्त्री छठवें नरक तक और कर्मभूमि के मनुष्य और मत्स्य सातवें नरक तक ही जाते हैं। भोगभूमि के जीव नरक को नहीं जाते, किन्तु देव ही होते हैं। यदि कोई जीव निरंतर नरक जावे तो पहले नरक में 8 बार, दूसरे में 7 बार, तीसरे में 6 बार, चौथे में 5 बार, पाँचवें में 4 बार, छठे में 3 बार और सातवें नरक में 2 बार तक निरंतर जा सकता है, अधिक बार नहीं जा सकता। यहाँ नरक से निकलकर प्राप्त होने वाले मनुष्य और तिर्यञ्च पर्याय की विवक्षा को गौण किया गया है क्योंकि नरक से निकलकर कोई नारकी नहीं होता है किन्तु जो जीव सातवें नरक से आया है उसे किसी नरक में अवश्य जाना पड़ता है ऐसा नियम है। सातवें नरक से निकलकर मनुष्यगति में नहीं जाता, किन्तु तिर्यञ्च गति में अव्रती ही होता है। छठवें नरक से निकले हुए जीव संयम (मुनिपद) धारण नहीं कर सकते। पाँचवें नरक से निकले हुए जीव मोक्ष नहीं जा सकते। चौथी पृथ्वी से निकले हुए तीर्थंकर नहीं होते, किन्तु पहले, दूसरे और तीसरे नरक से निकले हुये तीर्थंकर हो सकते हैं। नरक से निकले हुये जीव बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नहीं होते।

जो जीव हिंसक, चुगल, दगाबाज, चोर, डाकू, व्यभिचारी और अधिक–तृष्णा वाले होते हैं वे मरकर पापोदय से नरकगति में जन्म लेते हैं जहाँ कि नाना प्रकार के भयानक तीव्र दु:खों को भोगते हैं। पहली 4 पृथ्वियों में तथा पाँचवीं पृथ्वी के 2 लाख बिलों में उष्णता की तीव्र वेदना है तथा नीचे के नरकों में शीत की तीव्र वेदना है। तीसरी पृथ्वी पर्यन्त असुरकुमार जाति के देव आकर नारकियों को परस्पर में लड़ाते हैं, नारकियों का शरीर सदा अनेक रोगों से ग्रसित रहता है और परिणामों में नित्य क्रूरता बनी रहती है। नरकों की पृथ्वी महा दुर्गन्ध और अनेक उपद्रवों सहित होती है। नारकी जीवों में परस्पर जाति–विरोध होता है। परस्पर एक दूसरे को नाना प्रकार का घोर दु:ख देते हैं। छेदन, भेदन, ताड़न, मारण आदि नाना प्रकार की घोर वेदनाओं को भोगते हुए निरंतर दुस्सह घोर दु:ख का अनुभव करते रहते हैं। कोई किसी को कोल्हू में पेलता है, कोई गरम लोहे की पुतली से आलिंगन कराता है तथा वज्राग्नि में पकाता है तथा पीव के कुण्ड में पटकता है। बहुत कहने से क्या, नरक में एक समय के दु:ख को सहस्र जिह्वा वाला भी वर्णन नहीं कर सकता। जिसकी जितनी आयु है उसको उतने काल–पर्यन्त ये दु:ख भोगने ही पड़ते हैं। क्योंकि नरक में अकाल मृत्यु नहीं है। इस नरक की वेदनाओं से बचने वालों को जुआ, चोरी, मांस, वेश्या, पर स्त्री तथा शिकार आदिक महापापों की दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

2.3 मध्य लोक–

मध्य लोक एक राजू तिर्यग् विस्तार वाला है इसके ठीक बीच में सुदर्शन नामक मेरु पर्वत है। यह जम्बूद्वीप के ठीक बीच में है जिस द्वीप में हम और आप रहते हैं यह वही जम्बूद्वीप है इसका विस्तार एक लाख योजन का है। जम्बूद्वीप को खाई की तरह बेढ़े हुये गोलाकार लवणसमुद्र है। इस लवणसमुद्र की चौड़ाई सर्वत्र दो लाख योजन है। पुन:

लवणसमुद्र को चारों तरफ से बेढ़े हुए गोलाकार धातकीखण्ड द्वीप है जिसकी चौड़ाई सर्वत्र 4 लाख योजन है। धातकीखण्ड को चारों तरफ से घेरे हुए 8 लाख योजन चौड़ा कालोदधि समुद्र है तथा कालोदधि समुद्र को घेरे हुए 16 लाख योजन चौड़ा पुष्करवर द्वीप है। इसी प्रकार से दूने-दूने विस्तार को लिये असंख्यात द्वीप समुद्र हैं अन्त में स्यम्भूरमण समुद्र है चारों कोनों में पृथ्वी है। पुष्कवरद्वीप के बीचों-बीच मानुषोत्तर पर्वत है जिससे पुष्कर द्वीप के दो भाग हो गये हैं। जम्बूद्वीप, धातकीखंड और पुष्करार्द्ध इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में मनुष्य रहते हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं हैं तथा तिर्यञ्च समस्त मध्य लोक में निवास करते है। स्थावर जीव समस्त लोक में भरे हुये हैं। जलचर जीव लवणोदधि, कालोदधि और स्वंभूरमण इन तीन समुद्रों में ही होते हैं, अन्य समुद्रों में नहीं ।

जम्बूद्वीप में पूर्व, पश्चिम लम्बे दोनों तरफ पूर्व और पश्चिम समुद्रों को स्पर्श करते हुए दक्षिण दिशा की ओर से हिमवत, महाहिमवत, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी नाम के 6 पर्वत हैं। इन पर्वतों के कारण जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं। दक्षिण दिशा में किनारे पर प्रथम भरतक्षेत्र है। इसी भरतक्षेत्र के आर्य खंड में हम और आप रहते हैं। इस आर्य खंड के उत्तर में विजयार्द्ध पर्वत है, दक्षिण में लवणसमुद्र, पूर्व में महागङ्गा और पश्चिम में महासिन्धु नदी है। भरतक्षेत्र की चौड़ाई 526-6/19 योजन है जिसके बिलकुल बीच में विजयार्द्ध पर्वत पड़ा हुआ है जिससे भरतक्षेत्र के दो खण्ड हो गये हैं तथा महागङ्गा और महासिन्धु हिमवत् पर्वत से निकलकर विजयार्द्ध की गुफाओं में होती हुई पूर्व और पश्चिम समुद्र में जाकर मिलती है जिससे भरतक्षेत्र के 6 खंड हो गये है, जिनमें एक आर्य खण्ड और पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। ये सब अकृत्रिम रचना दो हजार कोश के बराबर 1 योजन वाले नाप के प्रमाण से हैं, अतः आर्य खण्ड बहुत लम्बा चौड़ा है केवल हिन्दुस्तान को ही आर्य खण्ड नहीं समझना चाहिये परन्तु वर्तमान में एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया ये पांच महाद्वीप इस आर्य खंड में हैं। वर्तमान गंगा, सिन्धु नदियों को अकृत्रिम महागङ्गा और महासिन्धु नहीं समझना चाहिए। जम्बूद्वीप के 1/190 भाग बराबर इस प्रथम भरतक्षेत्र के बाद दूसरा हैमवतक्षेत्र, और तीसरा हरिक्षेत्र है। इसी प्रकार उत्तर दिशा के किनारे पर ऐरावत क्षेत्र, दूसरा हैरण्यवत क्षेत्र और तीसरा रम्यक्क्षेत्र है। मध्यभाग का नाम विदेह क्षेत्र है।

उक्त हिमवतादि पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगञ्छ, केशरिन्, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये अकृत्रिम 6 सरोवर हैं, इन पद्मादिक सब सरोवरों में एक-एक पार्थिव कमल है। उक्त भरतादि सात क्षेत्रों में एक-एक में दो-दो के क्रम से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, सुवर्णाकूला, रुप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा ये 14 नदी हैं। इन सात युगलों में से गंगादिक पहली-पहली नदियाँ पूर्व समुद्र में और सिन्धुवादिक पिछली-पिछली नदियाँ पश्चिम समुद्र में जाती हैं। गंगा, सिन्धु, रोहितास्या ये तीन नदी पद्म सरोवर में से निकली हैं, रक्ता, रक्तोदा और सुवर्णकूला पुण्डरीक सरोवर में से निकली हैं शेष चार सरोवर में से आठ नदियाँ निकली हैं। अर्थात् 1-1 सरोवर में से 1-1 पूर्वगामिनी और 1-1 पश्चिमगामिनी इस प्रकार दो-दो नदियाँ निकली हैं। गंगा-सिन्धु इन दो महानदियाँ का परिवार 14-14 हजार लघु नदियों का है। रोहित, रोहितास्या का प्रत्येक का परिवार 28-28 हजार नदियों का है इसी प्रकार सीता, सीतोदा पर्यन्त दूना-दूना और आगे आधा-आधा परिवार नदियों का प्रमाण है।

विदेहक्षेत्र में बीचों-बीच जो सुमेरु पर्वत है वह गोलाकार भूमि पर 10 हजार योजन चौड़ा तथा ऊपर 1 हजार योजन चौड़ा है। सुमेरु पर्वत के चारों तरफ भूमि पर भद्रशाल वन है। 500 योजन ऊँचा चलकर चारों तरफ नंदन वन है फिर नंदन वन से 62500 योजन ऊँचा चलकर सुमेरु के चारों तरफ सौमनस वन है सौमनस से 36 हजार योजन ऊँचा चलकर चारों तरफ पाण्डुक वन है। पाण्डुक वन में चारों दिशाओं में 4 स्वर्णमय शिलायें हैं जिन पर उस-उस दिशा के क्षेत्रों में उत्पन्न हुये तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।

मेरु की चारों विदिशाओं में 4 गजदंत पर्वत हैं। दक्षिण और उत्तर भद्रसाल तथा निषध और नील पर्वत के बीच में

देवगुरु और उत्तरकुरु हैं। मेरु की पूर्व दिशा में पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा में पश्चिम विदेह है। पूर्व विदेह के बीच से निकलकर सीता नदी और पश्चिम विदेह से निकलकर सीतोदा नदी पूर्व और पश्चिम समुद्र में जाती है। इस प्रकार दोनों नदियों के दक्षिण और उत्तर तट की अपेक्षा से विदेह के 4 भाग हो जाते हैं। इन चारों भागों में से प्रत्येक भाग में आठ-आठ देश हैं। इन आठ देशों का विभाग करने वाले वक्षार पर्वत तथा विभंगा नदी हैं। इस प्रकार विदेह क्षेत्र में 32 देश हैं।

जम्बूद्वीप से दूनी रचना धातकीखण्ड की है और धातकीखंड के समान रचना पुष्करार्द्ध में है। धातकीखंड और पुष्कारार्द्ध इन दोनों द्वीपों की दक्षिण और उत्तर दिशा में दो-दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिससे इन दोनों द्वीपों के दो-दो खण्ड हो गये हैं इन दोनों द्वीपों के पूर्व और पश्चिम दिशा में दो-दो मेरु हैं। अर्थात् दो मेरु धातकीखंड में और दो पुष्करार्द्ध में हैं। जिस प्रकार क्षेत्र, पर्वत, सरोवर, कमल और नदी आदि का कथन जम्बूद्वीप में है उतना ही उतना प्रत्येक मेरु का है।

मनुष्य लोक के भीतर 15 कर्मभूमि और 30 भोगभूमि हैं। एक-एक मेरु संबंधी भरत, ऐरावत तथा देवकुरु और उत्तर कुरु को छोड़कर विदेह इस प्रकार तीन-तीन तो कर्मभूमि और हैमवत, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत् ये 6-6 भोगभूमि हैं। पाँचों मेरु को मिलाकर 15 कर्मभूमि और 30 भोगभूमि हैं। जहाँ असि, मसि, कृष्यादि षट्कर्म की प्रवृत्ति हो उसको कर्म भूमि कहते हैं और जहाँ कल्पवृक्षों द्वारा भोगों की प्राप्ति हो उसको भोगभूमि कहते हैं। भोगभूमि के तीन भेद हैं—उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों में जघन्य भोगभूमि है, हरि और रम्यक क्षेत्रों में मध्यम भोगभूमि हैं और देवकुरु तथा उत्तरकुरु में उत्कृष्ट भोगभूमि है। मनुष्य लोक से बाहर सर्वत्र जघन्य भोगभूमि की सी रचना है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव भोगभूमि में नहीं होते। अर्थात् 15 कर्मभूमि और उत्तरार्द्ध अंतिम द्वीप और अंतिम समुद्र में ही विकलत्रय जीव हैं। तथा समस्त द्वीप समुद्रों में भी भवनवासी और व्यंतर देव निवास करते हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी, संबंधी सुषमा-सुषमा आदि छहों कालचक्र संबंधी परिवर्तन होता है जिसका स्वरूप तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोक्यसार आदि ग्रंथों से जानना। इतना विशेष हे कि भरत, ऐरावत के म्लेच्छ खंडों में और विजयार्द्ध पर्वत में चतुर्थ काल की आदि तथा अंत के समान काल वर्तता है, अन्य काल नहीं वर्तता। भोगभूमियों में काल परिवर्तन नहीं होता। तथा विदेहक्षेत्र में सदा चौथा काल वर्तता है। समस्त विदेहक्षेत्र से सदा मुक्ति का मार्ग चलता रहता है, अनेक भव्य जीव मुक्त होते रहते हैं। तीर्थंकर भी सदा पाये जाते हैं।

मनुष्य लोक में 398, नंदीश्वर द्वीप में 52, कुण्डलगिरि पर 4, और रुचिक द्वीप में 4, अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इस प्रकार मध्य लोक में अकृत्रिम चैत्यालय 458 हैं। ज्योतिषी देवों के विमानों में असंख्यात चैत्यालय हैं।

इस ही मध्य लोक में ज्योतिषी देवों का निवास है। चित्रा पृथ्वी से 790 योजन ऊपर अंतरिक्ष में जाने पर ज्योतिष लोक है इसमें सूर्य, चंद्र, सितारे, ग्रह, उपग्रह आदि हैं। पृथ्वी से 790 योजन ऊपर तारे हैं इनसे 10 योजन ऊपर सूर्य, उससे 80 योजन ऊपर चंद्रमा, 4 योजन ऊपर नक्षत्र, 4 योजन ऊपर बुध, 3 योजन ऊपर शुक्र, 3 योजन ऊपर वृहस्पति, 3 योजन ऊपर मंगल, 3 योजन ऊपर शनि और 83 ग्रह इन सबके बीच में हैं।

राहू और केतु का विमान क्रमशः सूर्य, चंद्रमा के नीचे गमन करता है। सूर्य मण्डल पहले है और चंद्र मण्डल उसके पश्चात्। चंद्र इन्द्र है, और सूर्य प्रतीन्द्र। एक सूर्य 28 नक्षत्र, 88 ग्रह और 33975 कोड़ाकोड़ी तारे मिलकर एक चंद्रमा का परिवार कहलाता है। जम्बूद्वीप में सूर्य चंद्रमा दो-दो, लवणसमुद्र में चार-चार, धातकीद्वीप में बारह-बारह, कालोदधि में ब्यालीस-ब्यालीस और पुष्करार्द्ध में बहत्तर-बहत्तर हैं। ढाई द्वीप व दो समुद्रों में चंद्र, सूर्य घूमते हैं इसीसे यहाँ रात्रि–दिन का विभाग होता है। इससे आगे के सूर्य, चंद्र अचल हैं। इस कारण वहाँ रात्रि-दिन का विभाग भी नहीं है। ये सब मण्डल पृथ्वियाँ हैं, इनमें ज्योतिष देव रहते हैं।

2.4 ऊर्ध्व लोक—

मेरु की चूलिका से ऊपर लोक के अंत तक ऊर्ध्व लोक कहलाता है सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण और अच्युत नामक 16 स्वर्ग हैं। ये कल्प कहलाते हैं। इसके ऊपर नौ ग्रेवेयक विमान हैं, उसके ऊपर नौ अनुदिश नामक विमानों का एक पटल है उसके ऊपर पाँच विमानों की संख्या वाला पंचानुत्तर नामक एक पटल हैं इस प्रकार ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवों का निवास है, ये कल्पातीत कहलाते हैं, क्योंकि यहाँ सब अहमिन्द्र हैं।

मेरु की चूलिका से एक बाल के अंतर पर ऋजु विमान है। यहीं से सौधर्म स्वर्ग का आरंभ है। मेरुतल से 1 राजू की ऊँचाई पर सौधर्म-ऐशान युगल का अंत है इसके ऊपर 1 राजू में सानत्कुमार-माहेन्द्र युगल है उससे ऊपर आधे-आधे राजू में 6 युगल हैं इस प्रकार 6 राजू में आठ युगल हैं। सौधर्म स्वर्ग में 32 लाख विमान हैं, एशान स्वर्ग में 2 लाख, सानत्कुमार में 12 लाख, माहेन्द्र स्वर्ग में 8 लाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में 4 लाख, लान्तव, कापिष्ट में 50 हजार, शुक्र-महाशुक्र युगल में 40 हजार, शतार-सहस्रार युगल में 6 हजार, आनत, प्रणत और आरण, अच्युत इन चारों स्वर्गों में सब मिलकर 700 विमान है। तीन अधो ग्रैवेयक में 111, तीन मध्य ग्रैवेयक में 106 और तीन ऊर्ध्व ग्रैवेयक में 91 विमान हैं। अनुदिश में 9 और अनुत्तर में 5 विमान हैं। ये सब विमान 63 पटलों में विभाजित है। प्रथम युगल में 31 पटल दूसरे युगल में 7, तीसरे में 4, चौथे में 2, पाँचवें में 1, छठे में 1, आनतादि चार-कल्पों में 6, नो ग्रैवेयक में 9, नो अनुदिश में 1, और पंचानुत्तर में 1 पटल है। इन पटलों में असंख्यात 2 योजनों का अंतर है। पटल के मध्य विमान को इंद्रक विमान कहते हैं। अतः 63 पटलों में 63 इंद्रक विमान हैं। चारों दिशाओं में जो श्रेणीबद्ध विमान हैं उनको श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। प्रथम पटल में प्रत्येक श्रेणीबद्ध विमानों की संख्या 62-62 है। द्वितीयादिक पटलों के श्रेणीबद्ध विमानों की संख्या में क्रम से 1-1 घटकर बासठवें अनुदिश पटल में 1-1 श्रेणीबद्ध विमान है। और इसी प्रकार अंतिम अनुत्तर पटल में भी श्रेणीबद्धों की संख्या 1-1 है। श्रेणियों के बीच में जो फुटकर विमान हैं उनको प्रकीर्णक कहते हैं। सौधर्म स्वर्गादि संबंधी ये सब विमान 8496023 अकृत्रिम सुवर्णमय जिन चैत्यालयों से मण्डित हैं। 16 स्वर्गों में से दो-दो स्वर्गों में संयुक्त राज्य है। इस कारण दो-दो स्वर्गों का एक-एक युगल है। आदि के दो तथा अंत के दो इस प्रकार चार युगलों में 8 इंद्र हैं और मध्य के 4 युगलों के 4 ही इंद्र हैं अतः इंद्रों की अपेक्षा से स्वर्गों के 12 भेद हैं।

प्रथम युगल के प्रत्येक पटल में उत्तर दिशा के श्रेणीबद्ध तथा वायव्य और ईशान विदिशा के प्रकीर्णक विमानों में उत्तरेन्द्र ईशान की आज्ञा प्रवर्तती है शेष समस्त विमानों में दक्षिणेन्द्र सौधर्म की आज्ञा प्रवर्तती है। इसी प्रकार दूसरे तथा अंत के दो युगलों में जानना। मध्य के 4 युगलों में 1-1 की ही आज्ञा प्रवर्तती है। पटलों के ऊर्ध्व अंतराल में तथा विमानों के तिर्यक् अंतराल में आकाश है। नरक की तरह बीच में पृथ्वी नहीं है। समस्त इंद्रक विमान संख्यात योजन चौड़े हैं तथा सब श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन चौड़े हैं और प्रकीर्णक संख्यात असंख्यात योजनों के हैं। इन समस्त विमानों के ऊपर अनेक नगर बसते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि विमान की चोटी से 12 योजन ऊपर सिद्ध शिला है यह मनुष्य लोक के सीध में ऊपर है और 45 लाख योजन की विस्तार वाली है। इसकी मोटाई 8 योजन है, इसका आकार छत्र की तरह है। इस पर सिद्ध भगवान तो विराजमान नहीं है, किन्तु इसके कुछ ऊपर इस सिद्ध शिला के विस्तार प्रमाण क्षेत्र में सिद्ध भगवान तनुवातवलय में विराजमान है जो साधु मनुष्य लोक में जिस स्थान से कर्म मुक्त हुये हैं उसकी सीध में ऊपर एक समय में ही आकर लोक के अंत भाग में स्थित हैं, और अनंतकाल तक रहेंगे। बस यहीं लोक का अंत हो जाता है ।

उक्त त्रिलोक का स्वरूप संक्षेप में कहा गया। सविस्तार कथन तिलोयपण्णत्ति व त्रैलोक्यसार ग्रंथों से ज्ञात करना चाहिए।

लोक के आकार, रचनाओं के बोध रूप विशेष परिज्ञान से उत्कृष्ट वैराग्य होता है कि देखो तो अपने अंतर्लोक से भ्रष्ट होकर यह जीव मोह भाव वश अनंतबार उत्पन्न हुआ। अपने कर्म संस्कारों के कारण त्रिलोक में द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भाव रूप पंचपरावर्तन करता रहता है। परन्तु स्वभावतः अजन्मा एवं अनादिसिद्ध, चैतन्यस्वरूप निज निश्चय लोक को इसने नहीं जाना। इस त्रिलोक से पृथक मेरा ज्ञानालोक मात्र स्वरूपास्तित्व है इस प्रकार का अपने आत्मा के स्वतंत्र रूप का विश्वास होते ही पर पदार्थों से स्वयमेव विरक्ति प्राप्त हो जाती है और जीव उत्कृष्ट धर्म एवं शुक्ल ध्यान का पात्र होकर मोक्षमार्ग पा लेता है।

2.5 कालचक्र-

जैन मान्यता के अनुसार बीस कोड़ा–कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। इसके दो भेद हैं—एक उत्सर्पिणी और दूसरा अवसर्पिणी। जिसमें मनुष्यों के बल, आयु, शरीर का प्रमाण क्रम-क्रस से बढ़ता जावे उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम-क्रम से घटते जावें उसे अवसर्पिणी कहते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों का प्रमाण दश-दश कोड़ाकोड़ी सागर है और प्रत्येक के छह-छह भेद हैं। अवसर्पिणी के छह भेद इस प्रकार हैं—1. सुषमा-सुषमा, 2. सुषमा, 3. सुषमा–दुःषमा, 4. दुःषमा–सुषमा, 5. दुःषमा और 6. दुःषमा–दुःषमा। उत्सर्पिणी काल के भी 6 भेद होते हैं जो कि उपर्युक्त क्रम से विपरीत रूप हैं जैसे—1. दुःषमा–दुःषमा, 2. दुःषमा, 3. दुःषमा–सुषमा, 4. सुषमा–दुःषमा, 5. सुषमा और 6. सुषमा–सुषमा। "समा" काल के विभाग को कहते हैं और सु तथा दुर उपसर्ग क्रम से अच्छे और बुरे अर्थ के वाचक हैं। व्याकरण के नियमानुसार "स" को "ष" हो जाने से सुषमा और दुःषमा शब्दों की सिद्धि होती है जिनका अर्थ होता है अच्छा समय और बुरा समय।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र परिवर्तित होता है, जिस प्रकार एक माह में कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष होते हैं उसी प्रकार एक कल्पकाल में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इस प्रकार दो काल होते हैं। इस समय भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी का युग चल रहा है। इसके सुषमा-सुषमा आदि छह भेद हैं। सुषमा–सुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागर का, सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागर का, सुषमा–दुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागर का, दुःषमा सुषमा ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का और दुःषमा तथा दुःषमा–दुषमा प्रत्येक इक्कीस हजार वर्ष के होते हैं। जब यहाँ सुषमा–सुषमा नामक पहला काल चल रहा था तब मनुष्यों की आयु तीन पल्य की और शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष की थी। तीन दिन के अंतर से बदरी फल बराबर उनका आहार होता था। दश प्रकार के कल्पवृक्षों से सबको मनोवाच्छित भोगोपभोग की प्राप्ति होती थी। स्त्री-पुरुष अनुरक्त रहते थे। जीवन के अंतिम नौ माहों में उनके संतान उत्पन्न होती थी। एक पुत्र और एक पुत्री का युगल जन्म होता था। जन्म होते ही पुरुष की जमुहाई से और स्त्री की छींक से मृत्यु हो जाती थी। युगल संतान हाथ का अंगूठा चूसते–चूसते सात सप्ताह में पूर्ण वयस्क हो जाते थे। वयस्क होने पर दोनों ही स्त्री–पुरुष के रूप में परिणत हो जाते थे। इस काल में उत्तम भोगभूमि की रचना होती थी। भोगभूमिया जीव संयम ग्रहण न करने के कारण मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

क्रम-क्रम से चार कोड़ाकोड़ी सागर का विशाल काल व्यतीत होने पर दूसरा सुषमा नामका काल प्रकट होता है। इसके प्रारंभ में मनुष्य के शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष की तथा आयु दो पल्य की होती थी। सभी को भोगोपभोगों की प्राप्ति कल्पवृक्षों से ही होती थी। यह काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इस काल में यहाँ मध्यम भोगभूमि की रचना होती थी। इसके व्यतीत होने पर सुषमा–दुःषमा नाम का तीसरा काल प्रकट होता है। यह दो कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की ऊँचाई दो हजार धनुष की और आयु एक पल्य की रहती थी। इस समय यहाँ जघन्य भोगभूमि की रचना होती थी। इस तृतीय काल में जब पल्य का आठवां भाग बाकी रह जाता है तब क्रम-क्रम से प्रतिश्रुति, सन्मति, श्रेमंकर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वान्, अभिचंद्र, चंद्राभ, मरुद्वे, प्रसेनजिन और नाभिराज ये चौदह कुलकर उत्पन्न हुये थे। धीरे-धीरे कल्पवृक्ष नष्ट होते गये और नाभिराज के समय पूर्णरूप से कल्पवृक्ष नष्ट

हो गये। तथा कर्मभूमि का प्रारंभ हो गया नाभिराज और उनकी रानी मरुदेवी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ। उन्होंने अषि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह उपायों का प्रचार कर लोगों को आजीविका चलाने का उपदेश दिया। इस काल का प्रारंभिक भाग भोगभूमि का काल होने से सुषमा कहलाता है परन्तु पीछे का काल कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से दुःखमय बीतता है इसलिये दुःषमा कहलाता है प्रारंभ और अंत की परिस्थिति को लेकर इसका नाम सुषमा–दुःषमा कहा गया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, इसी काल में हुए और इसी में मोक्ष गये।

तृतीय काल समाप्त होने के बाद दुःषमा–सुषमा नाम का चौथा काल प्रकट हुआ। इसका प्रमाण ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का था, इसमें अजितनाथ को आदि लेकर तेईस तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि शलाका पुरुषों की उत्पत्ति हुई। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी जब मोक्ष गये तब इस काल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे। चतुर्थ काल के प्रारंभ में मनुष्यों का शरीर पाँच सौ धनुष ऊँचा होता था और उनकी आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की होती थी। फिर आगे ह्रास होता जाता था।

चतुर्थकाल के अनंतर दुःषमा नामका पाँचवां काल प्रकट हुआ। इसका प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष का है प्रारंभ में केवली, श्रुतकेवली तथा अंग पूर्व के पाठी होते रहे, पीछे उनका अभाव हो गया। दुःखमय जीवन होने से इस काल का नाम दुःषमा रखा गया। उत्तरपुराण में श्री गुणभद्राचार्य ने लिखा है इस पंचम काल में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु सौ वर्ष की होगी, उनका शरीर अधिक से अधिक सात हाथ ऊँचा होगा, उनकी कांति रूक्ष हो जावेगी, रूप भद्दा होगा, वे तीनों समय भोजन में लीन रहेंगे और काम सेवन में आसक्त रहेंगे। शास्त्रोक लक्षण वाले राजाओं का अभाव हो जायेगा, लोग वर्णसंकर हो जावेंगे। दुःषमा काल में एक हजार वर्ष बीतने पर पाटलीपुत्र नगर में राजा शिवपाल की रानी पृथ्वीसुंदरी के चतुर्मुख नाम का पापी पुत्र होगा, जो कल्कि कहलावेगा। इसकी आयु 70 वर्ष की होगी तथा 40 वर्ष तक इसका राज्य चलेगा। यह सबसे कर वसूल करेगा यहाँ तक कि दिगम्बर साधुओं के हाथ में से प्रथम ग्रास को कर रूप में छीन लेगा। शक्तिशाली सम्यग्दृष्टि असुर राजा चतुर्मुख को मारेगा, मरकर वह प्रथम नरक में जावेगा।

राजा चतुर्मुख का पुत्र अजितंजय अपनी पत्नि के साथ उस असुर की शरण लेगा तथा जैनधर्म धारण कर उसकी प्रभावना करेगा। इस प्रकार पंचमकाल में एक–एक हजार वर्ष के अनंतर जब बीस कल्कि हो चुकेंगे तब अंत में जल मंथन नामका कल्कि होगा। वह अंतिम राजा होगा। इसके बाद कोई राजा नहीं होगा। उस समय श्री चन्द्राचार्य के शिष्य वीरांगज नामके मुनि सबसे अंतिम मुनि होंगे, सर्वश्री सबसे अंतिम आर्यिका होंगी, अग्निल अंतिम श्रावक और फल्गुसेना अंतिम श्राविका होगी। ये सब अयोध्या के रहने वाले होंगे। जब पंचम काल में तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रह जावेंगे तब कार्तिक वदी अमावस्या के दिन प्रातःकाल वीरांगज मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निल श्रावक और फल्गुसेना श्राविका ये चारों ही जीव समता भाव से शरीर का परित्याग कर प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होंगे। मध्यान्ह के समय राजा का नाश होगा और सांयकाल के समय अग्नि का नाश होगा। असि, मषि आदि षट् कर्मों की प्रवृत्ति तथा राजा प्रजा आदि का सब व्यवहार नष्ट हो जावेगा।

इसके पश्चात् अति दुःषमा अथवा दुःषमा–दुःषमा नाम के छठवें काल का प्रारंभ होगा इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष होगा। उस समय मनुष्यों की आयु बीस वर्ष की होगी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा उनका शरीर होगा, निरंतर आहार करेंगे अर्थात् खाने–पीने का कोई नियम नहीं रहेगा। नरक अथवा तिर्यंच गति से आने वाले जीव ही यहाँ उत्पन्न होंगे और मरकर इन्हीं दो गतियों में जावेंगे। कपास तथा वस्त्रों का अभाव हो जाने से प्रारंभ में मनुष्य पत्ते आदि पहिनेंगे फिर नग्न रहने लगेंगे। इस काल के अंतिम समय में मनुष्यों की आयु 16 वर्ष की होगी और शरीर की ऊँचाई एक हाथ की रह जावेगी। लोगों की विकृत आकृति होगी। पृथ्वी अत्यंत रूक्ष हो जावेगी। षष्ठ काल का अंत आने पर पानी का अभाव हो जायेगा। जब इस काल में 49 दिन शेष रहेंगे तब प्रलय पड़ेगा। आचार्य श्री नेमिचंद ने त्रिलोकसार में प्रलय

का वर्णन इस प्रकार किया है—

छठवें काल के अंत समय संवर्तक नाम का पवन चलता है, जो पर्वत, वृक्ष तथा पृथ्वी आदि को चूर–चूर कर देता है उस पवन के आघात से वहाँ रहने वाले जीव मूर्च्छित होकर मर जाते हैं। विजयार्ध पर्वत, गंगा, सिन्धु नदी, इनकी वेदिका और क्षुद्र बिल आदि में वहाँ के निकटवर्ती प्राणी घुस जाते हैं तथा कितने ही दयालु विद्याधर और देव, मनुष्य युगल को आदि लेकर बहुत से जीवों को निर्बाध स्थान में ले जाते हैं। छठवें काल के अंत में पवन आदि सात वर्षायें सात–सात दिन तक होती हैं, वे ये हैं—1. पवन, 2. अत्यंत शीत, 3. क्षार रस, 4. विष, 5. कठोर अग्नि, 6. धूल और 7. धूम। इन सात रूप परिणत पुद्गलों की वर्षा 49 दिन तक होती है।

इस प्रलय काल में आर्य खंड की समस्त भूमि अस्त–व्यस्त हो जायेगी। चित्रा पृथ्वी निकल आयेगी अर्थात् इस प्रलय का प्रभाव एक हजार योजन नीचे तक होता है। छठवां काल समाप्त होने पर उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होता है। उसके प्रथम काल का नाम अतिदु:षमा अथवा दु:षमा–दु:षमा होता है। वह भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है। प्रथम ही क्षीर जाति के मेघ सात दिन तक दूध की वर्षा करते हैं तदनंतर अमृत जाति के मेघ सात दिन तक अमृत की वर्षा करते हैं तत्पश्चात् सात दिन रसाधिक जाति के देव रस की वर्षा करते हैं। शनैः शनैः पृथ्वी रसमय होने लगती है, वृक्ष, लताएँ आदि उत्पन्न होती हैं। इसी क्रम से पाँचवां, चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला काल आता है।

यह कालचक्र का परिवर्तन भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होता है। विदेह क्षेत्र में शाश्वत चौथा काल रहता है। विदेह के अंतर्गत देवकुरु और उत्तर कुरु में पहला काल रहता है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में तृतीय काल रहता है तथा हरि और रम्यक क्षेत्र में द्वितीय काल रहता है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के पाँच म्लेच्छ खंडों की विजयार्ध पवर्त पर चतुर्थ काल के आदि अंत जैसी परिणति रहती है।

2.6 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1–सातवीं पृथ्वी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

(क) 500 धनुष ☐ (ख) 10 हजार धनुष ☐ (ग) 100 धनुष ☐

प्रश्न 2–सातों नरकों में बिलों की कुल संख्या कितनी है ?

(क) 15 लाख ☐ (ख) 80 लाख ☐ (ग) 84 लाख ☐

प्रश्न 3–एक कल्प काल कितने सागर का होता है ?

(क) 10 कोड़ा–कोड़ी ☐ (ख) 20 कोड़ा–कोड़ी ☐ (ग) 5 कोड़ा–कोड़ी ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1–मध्यलोक कहाँ स्थित है ? इसमें किसका वर्णन है ?

प्रश्न 2–ऊर्ध्वलोक में कितने स्वर्ग होते हैं ? उनके नाम लिखिए।

प्रश्न 3–लोक का आकार कैसा होता है ? संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1–कालचक्र का विस्तार से वर्णन कीजिए ?

पाठ 3–कर्म एवं कर्मों की विविध अवस्थाएँ

3.1 प्रत्येक संसारी प्राणी कर्म शृंखला से बद्ध है। जीवों की जितनी भी क्रियायें एवं अवस्थायें हैं उनका कारण कर्म ही है। इन कर्मों का सम्बन्ध जीव के साथ कब से है और क्यों है ? इसका उत्तर यही है–अनादि काल से, जैसे–बीज और वृक्ष के सम्बन्ध में उसकी आदिमान् अवस्था को कोई नहीं बता सकता कि बीज कब हुआ पश्चात् कब उसका वृक्ष उत्पन्न हुआ, इनका सम्बन्ध अनादि है, अथवा जैसे—खान से निकले हुये स्वर्णपाषाण में स्वर्ण के साथ किट्ट कालिमा का सम्बन्ध सादि नहीं है, उसी प्रकार जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध सादि नहीं है, अनादि है।

कोई ऐसा मानते हैं कि जीव पहले शुद्ध था पीछे कर्म उसके साथ लगे, इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये, सोने में मैल की तरह आत्मा और कर्म का सम्बन्ध बतलाया गया है। उन कर्मों का सम्बन्ध कराने वाले कोई ईश्वरादि विधाता नहीं हैं, जीव अपने कर्मों के अनुरूप स्वयं ही अपनी सृष्टि का निर्माता है। कर्म के, मूल में द्रव्यकर्म, भावकर्म रूप से दो भेद तथा ज्ञानावरणादि रूप से 8 भेद हैं उत्तर भेद 148 या असंख्यात लोक प्रमाण भी है। इनमें निर्माण नामा नामकर्म का शरीर की रचना करने में मुख्य हाथ है। किस स्थान में क्या रचना करना, यह सब काम निर्माण कर्म का है। यह निर्माण नामा नामकर्म ही विधाता है, अन्य ईश्वरादि नहीं। हमारे ऊपर किसी भी प्रकार का संकट आता है तो हम भगवान् को कोसने लगते हैं कि भगवान ने हमारा ऐसा बुरा किया परन्तु यह बहुत भारी भूल है। भगवान् किसी का अच्छा अथवा बुरा नहीं करते उनको किसी के प्रति प्रेम अथवा द्वेष नहीं है। हमारे किये हुये अच्छे या बुरे कर्म ही हमको सुखी या दु:खी बनाते हैं। संसार अवस्था में प्रतिक्षण सभी जीव कर्मों को तथा नोकर्मों को ग्रहण करते हैं। किस प्रकार से ? इसके विषय में कर्मकांड में गाथा नम्बर 3 में कहा है—

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्मणोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलम्।।

शरीरनामा नाम कर्म के उदय से जड़ कर्म परमाणु आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में एक साथ खिंचकर उसी तरह प्रवेश करते हैं। जिस तरह कि गर्म लोहे का गोला जल में डुबा दिये जाने पर चारों ओर से शीतल जल के परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है। इसी प्रकार अनादि काल से परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मंदता होने पर आत्मा के प्रदेश जब अधिक वा कम सकंप होते हैं तब कर्मपरमाणु भी ज्यादा अथवा कम बँधते हैं जैसे–चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम पर कम। आत्मा और जड़ कर्मों का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। उस कर्म के उदय से उसके फल को जीव प्रतिक्षण अनुभव करता है। मूल में कर्म आठ हैं परन्तु उन सबका सम्राट मोहनीय कर्म है। सब प्राणी इससे बुरी तरह घबड़ाये हैं। यह कर्म किसी को भी सुख से जीवन नहीं बिताने देता। 'यथा नाम तथा गुण' के धारक इस कर्म ने सभी के ऊपर मोहनीचूर्ण डालकर सबको मोहित कर दिया है, इस कारण जीव अनेक प्रकार की चेष्टायें करते हैं। जिस प्रकार आत्मा में वैभाविक शक्ति है उसी प्रकार इन पौद्गलिक कर्मों में भी है तभी तो चेतन की शक्ति को दबा दिया है। जैसे–राजा के मरने के बाद उसकी सेना की शक्ति नष्ट हो जाती है और वह इधर–उधर भाग जाती है उसी प्रकार यह मोह राजा जब नष्ट होता है तब बाकी कर्मों को नाश होने में देर नहीं लगती। यही कारण है कि योगिराज सर्वप्रथम इस मोह का नाश करने के लिये सामग्री जुटाते हैं और इसको समूल नष्ट करते हैं। जिस प्रकार जली हुई जेवड़ी कुछ भी कार्य नहीं कर सकती उसी प्रकार अन्य कर्म इस जीव का अधिक रूप में बिगाड़ नहीं कर सकते। वे तो धीरे–धीरे स्वयं नाश को प्राप्त हो जाते हैं। जब तक कर्मो का तीव्र उदय रहता है मनुष्य का पुरुषार्थ उतने समय कुछ भी कार्यकारी नहीं होता है। ऐसा समझकर अपने पौरुष को दबाना नहीं चाहिये क्योंकि वही पुरुषार्थ आगे जाकर काम में आता है। ये कर्म शुभ तथा अशुभ रूप से दो प्रकार के हैं। इनको उत्पन्न करने वाला वेदनीय कर्म है। जिसका वेदन प्रत्येक संसारी जीव सुखरूप या दु:ख रूप से करते हैं ये दोनों ही संसार के कारण हैं। शुभकर्म सोने की बेड़ी के सदृश हैं तथा अशुभ कर्म

लोहे की बेड़ी के समान है। जैसे—सोने अथवा लोहे की बेड़ी मनुष्य को बांधती है उसी प्रकार शुभ–अशुभ कर्म जीव को बांधते हैं परन्तु अशुभ की अपेक्षा शुभ कर्म जीव के कल्याण मार्ग में सहायक हैं, शुभ अवस्था से शुद्ध अवस्था की प्राप्ति है अशुद्ध से नहीं, शुभ परिणाम ही आत्मा में निर्मलता लाते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य भोजन करता है उसके बाद आहार उदर में जाकर सप्त धातु और उपधातु रूप से परिणत होता है, उसी प्रकार जीव, परिणामों के अनुसार पुद्गलवर्गणाओं को ग्रहण करता है। पश्चात् वे वर्गणाएँ आठ कर्मरूप से परिणत हो जाती हैं। उनका विभाजन विधिवत् होता है। यदि आयु बँध गई है तो उसमें से सबसे थोड़ा हिस्सा आयु कर्म को मिलता है, उससे ज्यादा नाम, गोत्र को परन्तु इन दोनों का हिस्सा आपस में समान है, उससे ज्यादा अंतराय, दर्शनावरणी, ज्ञानावरण को मिलता है, इनका भी हिस्सा आपस में समान है। इससे अधिक मोहनीय कर्म को मिलता है और सबसे अधिक वेदनीय को मिलता है क्योंकि सभी जीव हर समय सुख या दुःख का अनुभव करते हैं इसलिये इसकी निर्जरा अधिक होती है। अतः सबसे ज्यादा द्रव्य वेदनीय को मिलता है।

3.2 इन आठ कर्मों के घातिया और अघातिया के भेद से दो विभाग हैं—

घातिया कर्मों में फल देने की शक्ति लता, काष्ठ, हड्डी और पत्थर के समान है अर्थात् इनमें उत्तरोत्तर जैसी–जैसी कठोरता है, वैसे–वैसे ही फल कठोर हैं, इनमें देशघाति और सर्वघाति ऐसे दो भेद हैं, लता से लेकर काष्ठ के अनन्तवें भाग तक के शक्ति रूप स्पर्धक देशघाति के हैं। और शेष बहु भाग से लेकर शैल तक के सर्वघाति के हैं। अघातिया कर्मों में भी प्रशस्त और अप्रशस्त दो भेद हैं प्रशस्त कर्मों का फल गुड़, खाँड, मिश्री, अमृत इस प्रकार से है, तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग नीम, कांजी, विष, हलाहल रूप से है। अर्थात् सांसारिक सुख–दुःख के कारण दोनों ही पुण्य–पाप कर्मों की शक्तियों को चार–चार तरह तरतमरूप से समझना चाहिये। इस प्रकार से अतिसंक्षेप से कर्मों की व्यवस्था बतलाई।

3.3 कर्मवाद को स्वीकार कर लेने पर आधुनिक साम्यवाद की व्यवस्था नहीं बन सकती—

कर्मवाद ही यह बतलाता है कि प्राणीमात्र स्वकृत कर्म के अनुसार उसके फल का भोक्ता है। जीव को अपने किये कर्म का रस चखना ही पड़ेगा। कोई चाहे कि हम सबको समान बना दें, सम्पत्तिशाली कर दें, ऊँच–नीच का भेद मिटा दें, कोई भी राजा या रङ्क न रहे, परन्तु इस प्रकार की तर्कणा से कोई कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती, यदि ऐसा हो जावे तो सब जीव स्वच्छन्द बनकर मन चाहे पापों में प्रवृत्ति करेंगे उनके मन से सभी प्रकार का संकोच, लज्जा, लोकापवाद, पापभीरुता आदि दोष पलायमान हो जायेंगे, क्योंकि उनको अपने कर्म का फल जो सुख–दुःख है वह तो भोगना नहीं है परन्तु यह सब प्रकार की धारणा एवं मंतव्य कर्मसिद्धान्त के विरुद्ध हैं, तथा कर्मसिद्धान्त को माने बिना बड़ी भारी गड़बड़ी फैल जायेगी न तो कोई संसार से छूटने का प्रयत्न करेगा न मुक्ति की अभिलाषा करेगा क्योंकि जो अपने को बँधा हुआ अनुभव करेगा वही छूटने का प्रयत्न करेगा।

हमारी यह भावना होनी चाहिए कि संसार के सभी जीव सुखी हों तथा शीघ्र ही संसार के आवर्तों से निकल कर अविनाशी स्थान पर पहुँच जावें। इस प्रकार परोपकार की तथा सभी जीवों के उद्धार की भावना होना आवश्यक है क्योंकि ऐसी भावना जब उत्कट रूप से होती है तभी जीव तीर्थंकर पदवी को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। परन्तु हम यदि चाहें कि संसार अवस्था में सबको एक समान बनादें, कोई भी हीनाधिक न रहे, इस कर्म के फल को मिटाने में तो साक्षात् भगवान् भी समर्थ नहीं हैं। हाँ ! जीवत्व की दृष्टि से तो सभी जीव समान हैं सभी की आत्मा अनन्त गुणों का पुञ्ज स्वरूप है, ऐसा समझकर किन्हीं भी जीवों के प्रति वैर विरोध एवं हिंसा की भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। सभी जीव अपने समान हैं, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव सुख एवं दुःख का अनुभव करते हैं, ऐसा

समझ कर पाप प्रवृत्ति का त्याग करना चाहिये। सब जीवों के प्रति मित्रता का भाव होना चाहिये। सभी जीवों में कर्म काट कर भगवान बनने की शक्ति है उस शक्ति को व्यक्ति जो जीव पुरुषार्थ के द्वारा कर ले वह साम्यवादी है तथा उसी ने साम्यवाद को समझा, ऐसा समझना चाहिये क्योंकि साम्य अवस्था मोक्ष में है, संसार में रहकर सब धन या जन से समान नहीं रह सकते, क्योंकि सब के कार्य पृथक्–पृथक् हैं सब की भावना भिन्न–भिन्न हैं तदनुरूप उनके कर्म का बंध होता है और उसका फल उनको अवश्य भोगना पड़ता है। सभी जीव इस बात का अनुभव करते हैं कि एक माँ के यदि चार पुत्र हैं तो चारों का भाग्य समान नहीं है कोई सुखी है तो कोई दुःखी है, जब हम अपने घर में समानता नहीं कर सकते तो सारे विश्व के समन्वय की बात करना तो घानी में रेत पेलने के समान निस्सार है।

जो साम्यवाद का नारा लगाते हैं उनको स्वयं को देखना है कि हम कहाँ जा रहे हैं मात्र सब के साथ खान–पान कर लेना या सब के साथ विवाह सम्बन्ध कर लेना ही साम्यवाद नहीं है यह तो सिर्फ अपनी आत्मा को धोखा देकर गर्त में गिराना है। जो दीन–दुःखी जीव हैं उनकी सब प्रकार से धनादि एवं मृदु भाषण आदि से सहायता करना परम कर्त्तव्य है, पापी जीवों को पाप से छुड़ा कर सन्मार्ग में लगाना अपना कर्तव्य है परन्तु उनके पाप के फल को कोई नहीं मिटा सकता। यदि हम भेद भाव मिटाना चाहें तो जो आठ कर्मों की व्यवस्था है वह समाप्त हो जायेगी।

3.4 कर्म के मूल भेद—

3.4.1 ज्ञानावरणी कर्म—यह सूचित करता है कि प्रत्येक जीवों के ज्ञान का आवरण भिन्न–भिन्न है, क्योंकि सभी जीवों का ज्ञान समान नहीं है सभी के ज्ञान में तरतमता देखी जाती है।

3.4.2 दर्शनावरणी कर्म—इस कर्म का कार्य है कि वस्तु को नहीं देखने देना। पहरेदार के समान, इसकी सभी में भिन्नता देखी जाती है, किसी के कम किसी के ज्यादा है यह कर्म आत्मा के दर्शन को रोकता है।

3.4.3 वेदनीय कर्म—इसका काम सुख–दुःख का अनुभव कराना है जिसका कि सभी अच्छी तरह से अनुभव कर रहे हैं कोई अधिक सुखी हैं तो कोई अधिक दुःखी हैं अनेक प्रकार से तरतमता देखी जाती है।

3.4.4 मोहनीय कर्म—इस कर्म की विशेषताओं को सब अच्छी तरह से जान रहे हैं अनुभव कर रहे हैं, इस मोह से मोहित होकर संसार के जीव अनेक प्रकार के स्वांग एवं नाटक करते हैं। मोह शब्द की व्युत्पत्ति "मुह्" धातु से निष्पन्न हुई है, व्याकरण के अनुसार "अ" प्रत्यय लगाकर पद बनता है। मोह से दृष्टि में विकार उत्पन्न होता है जैसे—पांडु रोगी को सभी वर्ण पांडु ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार मोह से सहित व्यक्ति को सभी पदार्थ मोह स्वरूप दिखाई देते हैं। मोह पहले आँखों में राग उत्पन्न करता है, पश्चात् हृदय में विकार को जन्म देता है तथा जीव विकार भाव को अपना सहचारी बनाकर स्वच्छन्द रूप से विचरण करता है, अतः मोह और मोक्ष में 36 का आंकड़ा है।

3.4.5 आयु कर्म—यह कर्म इस जीव को संसार में उसी प्रकार से रोके रखता है जैसे–जेलखाने में जेलर के द्वारा कैदी को रोका जाता है। अवधि पूरी होने पर ही छुटकारा मिलता है।

3.4.6 नाम कर्म—यह कर्म चौरासी लाख योनियों में जीवों को अच्छी तरह से घुमाता है। जैसे–अरहट की घड़ी हर समय घूमती रहती है वैसे ही संसार से जीव जब तक नहीं छूटता तब तक घूमता ही रहता है।

3.4.7 गोत्र कर्म—यह कर्म ऊँच–नीच के भेद से यह दो प्रकार का है। ऊँच गोत्र के उदय से जीव लोक पूजित ऊँच कुल में उत्पन्न होते हैं तथा नीच गोत्र से लोक निंदित नीच कुल में उत्पन्न होना पड़ता है। इस कुल का संस्कार जीवों के ऊपर अच्छी तरह से पड़ता है। कितना ही जीव अच्छा या बुरा आचरण करें परन्तु उसके संस्कार समय पाकर अवश्य काम करते हैं। क्योंकि जिस पिंड से शरीर की रचना हुई है उसका प्रभाव आत्मपरिणामों के ऊपर आये बिना नहीं रह सकता।

3.4.8 अन्तराय कर्म—यह कर्म विघ्नकारक है। जीवों के अन्तराय कर्म के अनुसार दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में रुकावट आती ही है। मनुष्य कितना ही दान देना चाहे, वस्तु का उपभोग करना चाहे परन्तु इच्छा के अनुसार नहीं कर सकता, उसके कर्म के अनुसार ही कार्य होगा इस प्रकार इन आठ कर्मों की व्यवस्था है इनको नाश किये बिना सुखी तथा समान अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्मों की अवस्थाओं को समझा जाय तभी साम्य अवस्था हो सकती है।

3.5 कर्म की दशाएँ—

आगम में कर्मों के दश करण–दश अवस्थाएँ बताई गई हैं जैसा कि आचार्य श्री नेमीचन्द्र के निम्न वाक्य से स्पष्ट है–

बंधुक्कट्टण करणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं।
उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी।।437।।

अर्थात् बन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना; ये दश करण प्रत्येक प्रकृति के होते हैं।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—

3.5.1 बन्ध—जीव के मिथ्यात्व आदि परिणामों का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणा का ज्ञानावरणादि कर्म रूप होना बन्ध है।

3.5.2 उत्कर्षण—कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है।

3.5.3 संक्रमण—बन्ध रूप प्रकृति का अन्य प्रकृतिरूप परिणम जाना संक्रमण है।

3.5.4 अपकर्षण—स्थिति तथा अनुभाग का कम हो जाना अपकर्षण है।

3.5.5 उदीरणा—उदय काल के बाहर स्थित कर्म द्रव्य को अपकर्षण के बल से उदयावली में लाना उदीरणा है।

3.5.6 सत्त्व—पुद्गल का कर्म रूप रहना सत्त्व है।

3.5.7 उदय—कर्म द्रव्य का फल देने का समय प्राप्त होना उदय है।

3.5.8 उपशान्त—जो कर्म उदयावली में प्राप्त न किया जाय अर्थात् उदीरणा अवस्था को प्राप्त न हो सके वह उपशान्त करण है।

3.5.9 निधत्ति—जो कर्म उदयावलि में भी प्राप्त न हो सके और संक्रमण अवस्था को भी प्राप्त कर सके उसे निधत्ति करण कहते हैं।

3.5.10 निकाचित—जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थाएँ न हो सके उसे निकाचित करण कहते हैं।

उपर्युक्त करणों में नरकादि चारों आयुकर्मों के संक्रमण करण के बिना 9 करण होते हैं अर्थात् आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता—एक आयु अन्य आयु रूप नहीं होती। शेष सब प्रकृतियों के दश करण होते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक दश करण होते हैं। अपूर्वकरण के ऊपर सूक्ष्म साम्पराय नामक दशम गुणस्थान तक आदि के सात ही करण होते हैं। उसके ऊपर सयोगकेवली तक संक्रमण के बिना छह ही करण होते हैं। उसके ऊपर अयोगकेवली के सत्त्व और उदय ये दो ही करण होते हैं। उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान में कुछ विशेषता है, वह यह कि यहाँ मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व का संक्रमण करण भी होता है, अर्थात् इन दोनों के परमाणु सम्यक्त्व मोहनीय रूप परिणम जाते हैं, शेष प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होता अतः छह ही करण होते हैं।

बन्ध करण और उत्कर्षण करण ये दोनों करण अपने–अपने बन्ध स्थान तक ही होते हैं अर्थात् जिस प्रकृति की जहाँ तक बन्ध व्युच्छित्ति होती है वहीं तक होते हैं, तथा संक्रमण, मूल प्रकृतियों में तो होता नहीं है किन्तु उत्तर प्रकृतियों में होता है वह भी अपनी–अपनी जाति की प्रकृतियों में, जैसे—ज्ञानावरण कर्म की मति ज्ञानावरणादि पांच प्रकृतियाँ स्वजाति प्रकृतियाँ हैं इन्हीं में उसका संक्रमण होता है। उत्तर प्रकृतियों में भी दर्शन मोह और चारित्र मोह तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों–नरकायु आदिकों में संक्रमण नहीं होता।

अयोगकेवली के जिन पचासी प्रकृति की सत्ता है उनका अपकर्षणकरण, सयोग केवली के अन्त समय तक होता है। क्षीण कषाय गुणस्थान में जिनकी सत्व व्युच्छित्ति होती है ऐसी 16 प्रकृतियों तथा सूक्ष्मसांपराय में जिसकी सत्वव्युच्छित्ति होती है ऐसा सूक्ष्म लोभ, इन 17 प्रकृतियों का अपकर्षण करण उनके क्षयदेश पर्यन्त होता है। क्षयदेश का काल यहाँ एक समय अधिक आवली मात्र जानना चाहिये।

देवायु का अपकर्षणकरण उपशान्त कषाय गुणस्थान तक होता है। मिथ्यात्वादि तीन तथा अनिवृत्ति करण गुणस्थान में क्षय को प्राप्त होने वाली सोलह प्रकृतियों का अपकर्षण करण क्षयदेश–अन्तकाण्डक के अन्तफालि पर्यन्त होता है। इसी प्रकार क्षपक श्रेणी के अनिवृत्ति करण गुणस्थान में क्षय को प्राप्त होने वाली अष्टकषायादिक 20 प्रकृतियों का अपकर्षण करण भी अपने–अपने क्षयदेश तक होता है। उपशम श्रेणी में दर्शनमोह की मिथ्यात्वादि तीन और नरकगति—नरकगत्यानुपूर्वी आदि 16 प्रकृतियों का अपकर्षणकरण उपशान्त कषाय—ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है तथा आठ कषायादिकों का अपने–अपने उपशम के स्थान तक होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क का असंयतादि चार गुणस्थानों यथासंभव विसंयोजन के स्थान तक ही अपकर्षण करण होता है। नरकायु के असंयत गुणस्थान तक और तिर्यञ्च आयु के देश संयत गुणस्थान तक उदीरणा, सत्व और उदय, ये तीन करण होते हैं। मिथ्यात्व प्रकृति का उदीरणा करण उपशमसम्यक्त्व के सम्मुख जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में एक समय अधिक आवलि काल तक होता है। सूक्ष्म लोभ का उदीरणा करण, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक ही होता है।

उपशान्त करण, निधत्तिकरण और निकाचित करण, ये तीन करण अपूर्वकरण गुणस्थान तक ही होते हैं, आगे नहीं।

संक्रमण करण में पाँच अवान्तर भेद हैं जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं—

1. उद्वेलन संक्रमण—अधः प्रवृत्त आदि तीन करणों के बिना ही कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना उद्वेलना संक्रमण है। यह आहारक युगल, सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यङ्मिथ्यात्व, देवगति–देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति–नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग, उच्च गोत्र और मनुष्यगति–मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियों का ही होता है।

2. विध्यात संक्रमण—मन्द विशुद्धता वाले जीव की, स्थिति अनुभाग के घटानेरूप, भूतकालीन स्थितिकाण्डक और अनुभाग काण्डक तथा गुण श्रेणी आदि में प्रवृत्ति होना विध्यात संक्रमण है। यह विध्यात संक्रमण, सम्यक्त्व मोहनीय के बिना उद्वेलना की बारह प्रकृतियाँ, स्त्यानगृद्धित्रिक को आदि लेकर तीस प्रकृतियाँ, असातावेदनीयादिक बीस और वज्रवृषभनाराचसंहनन, औदारिकशरीर औदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग, तीर्थंकर प्रकृति तथा मिथ्यात्व....इन 67 प्रकृतियों का होता है।

3. अधः प्रवृत्त संक्रमण—बँधी हुई प्रकृतियों का अपने बन्ध में संभवती प्रकृतियों में परमाणुओं का जो प्रदेश संक्रम होता है उसे अधःप्रवृत्त संक्रमण कहते हैं। यह संक्रमण, मिथ्यात्व प्रकृति के बिना शेष 121 प्रकृतियों में होता है।

4. गुण संक्रमण—जहाँ प्रतिसमय असंख्यात गुण श्रेणी के क्रम से कर्म परमाणु–प्रदेश अन्य प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं उसे गुण संक्रमण कहते हैं। गुण संक्रमण, सूक्ष्म सांपराय में बँधने वाली घातिया कर्मों की चौदह

प्रकृतियों को आदि लेकर 39 प्रकृतियाँ, औदारिकद्विक, तीर्थंकर, वज्रवृषभ नाराच संहनन, पुरुषवेद, और संज्वलन क्रोधादि तीन, इन 47 प्रकृतियों को कम करके शेष रही 75 प्रकृतियों का होता है।

5. **सर्व संक्रमण**—जो अन्त के काण्डक की अन्तिम फाली के सर्व प्रदेशों में से अन्य रूप नहीं हुए हैं उन परमाणुओं का अन्य रूप होना सर्व संक्रमण है। यह संक्रमण, तिर्यञ्च सम्बन्धी 11 प्रकृतियां उद्वेलन की 13 प्रकृतियाँ, संज्वलनलोभ सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति, इन तीन के बिना मोह की 25, और स्त्यानगृद्धि आदि तीन प्रकृतियाँ, इस तरह 52 प्रकृतियों का होता है।

इस प्रकार कर्मों की दश अवस्थायें होती हैं। संक्षेप से बन्ध, उदय और सत्व ये तीन दशायें मानी गई हैं। बन्ध की, बन्ध, अबन्ध और बन्ध व्युच्छित्ति, इस बन्ध त्रिभंगी से, उदय की, उदय, अनुदय और उदय व्युच्छित्ति इस उदय त्रिभंगी से और सत्व की, सत्व, असत्व और सत्व व्युच्छित्ति इस सत्व त्रिभङ्गी से गुणस्थानों और मार्गणाओं में चर्चा की गई है।

3.6 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1–अनादिकाल से स्वर्ण पाषाण के साथ किट्टकालिमा के समान संबंध किसका होता है ?

(क) वृक्ष और बीज का ☐
(ख) जीव–कर्म का ☐
(ग) किसी का नहीं ☐

प्रश्न 2–कर्मों का राजा किस कर्म को कहा है ?

(क) वेदनीय कर्म ☐
(ख) मोहनीय कर्म ☐
(ग) नोकर्म ☐

प्रश्न 3–आत्मा और जड़ कर्मों का एक ..... संबंध है।

(क) अनादि ☐
(ख) क्षेत्रावगाह ☐
(ग) गर्म लोहे के समान ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1–अधः प्रवृत्त संक्रमण किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2–कर्मों का संबंध जीव के साथ कब से है और क्यों है ? उदाहरण सहित लिखिए।

प्रश्न 3–घातिया और अघातिया कर्मों को किनके समान माना है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1–कर्म की अवस्थाएँ कितनी हैं ? प्रत्येक की परिभाषा दीजिए।

पाठ 4 – जैनाचार्यों द्वारा कर्म सिद्धान्त के गणित का विकास

4.1 कर्मविज्ञान–साहित्य निर्माता–

गहन कर्मसाहित्य, जिसमें गणित ने अप्रतिमरूप से प्रवेश किया, मुख्यतः दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा निर्मित है। सर्वप्रथम प्रायः ईसा की प्रथम सदी में आचार्य श्री गुणधर स्वामी ने कसायपाहुडसुत्त का 233 (180) गाथाओं में निर्माण किया। यह श्रुत के चतुर्थ अङ्ग के ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोस (राग–द्वेष) नामक तृतीय पाहुड से निर्मित हुआ है। तत्पश्चात् प्रायः ईसा की द्वितीय सदी में आचार्य श्री धरसेन स्वामी के विलक्षण शिष्यों, आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबली स्वामी ने महाबन्धसहित षट्खंडागम ग्रन्थों की रचना की। यह श्रुत के दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के चतुर्थ पूर्वगत के अग्रायणी नामक द्वितीयपूर्व की चयनलब्धि नामक पंचमवस्तु के कर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत के 24 वें अनुयोगद्वार से अवतरित माना जाता है।

इस प्रकार द्वादशांगश्रुत का अत्यन्त अल्पभाग सुरक्षित रहा जिसमें से कर्मविज्ञान को गणित की आधारशिला पर भव्य ग्रन्थों के रूप में विशाल रचनाएं बनाने का श्रेय इन आचार्यों तथा उनकी शिष्य परम्परा को है। यद्यपि उपरोक्त ग्रन्थों पर विशालतम टीकाएं आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी, आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी, आचार्य तुम्बुलूर स्वामी आदि के द्वारा लिखी गई मानी जाती हैं तथापि जो ग्रन्थ अब हमारे समक्ष सुरक्षित परम्परागत चले आये उनके सम्बन्ध में जानकारी देना आवश्यक है ताकि विज्ञान के विद्यार्थी कर्म विज्ञान के गणितीय पक्ष में रुचि लेकर शोध को गहराई तक ले जा सकें। सारिणी सूचना निम्न प्रकार है—

प्रायः ईस्वी सदी	जैनाचार्य का नाम		ग्रन्थ (कर्मसिद्धान्तमय एवं सम्बन्धित)
तृतीय	कुन्दकुन्द	(1)	पंचास्तिकाय (173 गाथाएं)
		(2)	समयसार (415 गाथाएं)
		(3)	प्रवचनसार (275 गाथाएं)
तृतीय	उमास्वामी		तत्त्वार्थसूत्र (प्रवेशपक्ष)
473 से 609	यतिवृषभ	(1)	कषायपाहुड़ पर चूर्णिसूत्र (गहनपक्ष–कर्मविज्ञान–पक्ष) (7009 गाथा प्रमाण)
		(2)	तिलोयपण्णत्ति (प्रमाणविज्ञान पक्ष–5677 गाथाएं)
पांचवी	पूज्यपाद		सवार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र की टीका) (अर्थ एवं संख्या पक्ष)
आठवीं	अकलङ्क		तत्त्वार्थराजवार्तिकम् (तत्त्वार्थसूत्र की टीका) (विज्ञान, न्याय एवं तक पक्ष)
816	वीरसेन	(1)	धवला टीका सहित षट्खंडागम (गणित विज्ञान, न्याय एवं तर्क पक्ष) (72000 गाथा प्रमाण)
		(2)	जय धवला टीका (अपूर्ण) सहित कषायपाहुड सुत्त गणित विज्ञान, न्याय एवं तर्क पक्ष) (20000 गाथा प्रमाण)
837	जिनसेन		शेष जय धवला टीका सहित शेष कषायपाहुड सुत्त (गणित विज्ञान, न्याय एवं तर्क पक्ष) (40000 गाथा प्रमाण)
11वीं सदी	नेमिचन्द्र	(1)	गोम्मटसार (जीवकाण्ड) (गणित, विज्ञान पक्ष – 734 गाथाएं)
		(2)	गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) (गणित, कर्म विज्ञान पक्ष –972 गाथाएं)

		(3)	लब्धिसार–क्षपणसार (गणित चरम कर्मविज्ञान पक्ष – 649 गाथाएं)
		(4)	त्रिलोकसार (गणित प्रमाण–विज्ञानपक्ष – 1018 गाथाएं)
13 वीं सदी	अभयचन्द्र सैद्धान्ती		मंदप्रबोधिनी संस्कृत टीका सहित गोम्मटसार (सरल पक्ष)
13 वीं सदी	माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव		त्रिलोकसार पर एवं क्षपणसार पर संस्कृत टीकाएं (अर्थसंदृष्टिमय प्रमाण एवं कर्म विज्ञान)
14 वीं सदी	केशववर्णी		जीवतत्त्वप्रदीपिका कन्नड़ (संस्कृत मिली जुली) टीका सहित गोम्मटसार (अर्थसंदृष्टि गणित सहित कर्मविज्ञान पक्ष)
16 वीं सदी	भट्टारक नेमिचन्द्र (श्री ज्ञानभूषण शिष्य)		केशववर्णी टीका पर आधारित संस्कृत टीका सहित गोम्मटसार (अर्थसंदृष्टि गणितसहित कर्मविज्ञान पक्ष)
1761	पं. टोडरमल जी	(1)	सम्यग्ज्ञानचंद्रिका ढूंढारी टीका सहित गोम्मटसार (अर्थसंदृष्टि गणित मय कर्मविज्ञान)
		(2)	लब्धिसार एवं क्षपणसार की अर्थसंदृष्टि अधिकार सहित ढूंढारी भाषा में टीका (अर्थसंदृष्टिमय कर्म विज्ञान)
		(3)	त्रिलोकसार की टीका (प्रमाण विज्ञान पक्ष)

इस प्रकार कर्मविज्ञान को यथासम्भव गणित सिद्धान्त द्वारा प्रदर्शित करते हुए विश्व की सूक्ष्मतम तथा स्थूल घटनाओं को समझाने के प्रयास में उक्तग्रन्थों में जैनाचार्यों तथा पंडितों द्वारा **अगम्य** सामग्री निर्मित की गई। विगत 2000 वर्षों का इतिहास ही अहिंसा और सत्यपक्ष को उज्जवल बनाने के उपरोक्त रचनात्मक निर्माण कार्यों से भरपूर है।

4.2 कर्मविज्ञान सम्बन्धित गणितीय शब्द—

यह सुनिश्चित है कि कर्मसम्बन्धी विज्ञान (जिसे वीतरागविज्ञान भी कहा जा सकता है) के साहित्य का निर्माण करने हेतु नवीन पदों का निर्माण करना आवश्यक था। चौबीसवें तीर्थङ्कर वर्धमानस्वामी के काल से ही क्या हम इन शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होना नहीं मान सकते हैं। क्रान्ति के उस युग में इन गणितीय शब्दों का निर्माण इसलिए माना जा सकता है कि गणितीय प्रमाण देना आवश्यक हो गया होगा। नवीं सदी तक दक्षिण में महावीराचार्य के गणितसारसंग्रह का विशेष प्रचार था, उनका 'ज्योतिषपटल' ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। उक्तग्रन्थ में लौकिकगणित का समावेश था। शेष का अध्ययन आगम ग्रन्थों में प्रचलित था। महावीराचार्य ने वास्तव में एक विशाल गणितग्रन्थ की रचना की थी। जगत् इतिहास में 1912 ई. के पश्चात् अब उनका नाम अत्यन्त श्रद्धा से लिया जाता है उनके ग्रन्थ में निम्नलिखित गणितीय प्रकरण हैं जिन सभी का उपयोग आगम के गणित में भी होता है—

संज्ञा अधिकार—गणित शास्त्र प्रशंसा, क्षेत्र परिभाषा, काल परिभाषा, धान्यपरिभाषा, स्वर्ण परिभाषा, रजत–परिभाषा, लोह परिभाषा, परिकर्म नामावलि, शून्य तथा धनात्मक एवं ऋणात्मक राशि सम्बन्धी नियम, संख्या परिभाषा, स्थान नामावलि, गणक गुणनिरूपण।

परिकर्म व्यवहार—प्रत्युत्पन्न (गुणन), भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल संकलित, संकलित (श्रेणियों का संकलन) व्युत्कलित।

कलासवर्ण व्यवहार—भिन्न प्रत्युत्पन्न, भिन्न भागहार, भिन्न सम्बन्धी वर्ग, वर्गमूल , घन, घनमूल भिन्न संकलित भिन्न व्युत्कलित, कलासवर्ण षड्जाति, भागजाति, प्रभाग और भाग–भाग जाति, भागानुबन्ध जाति, भागापवाहजाति, भागमातृ जाति।

प्रकीर्णक व्यवहार—भाग और शेष जाति, मूल जाति, शेष मूल जाति, द्विरग्र शेष मूल जाति, अंश मूल जाति, भाग संवर्ग जाति ऊनाधिक अंश वर्ग जाति, मूल मिश्र जाति, भिन्न दृश्य जाति।

त्रैराशिक व्यवहार—अनुक्रम त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक, व्यस्त पंचराशिक, व्यस्त सप्तराशिक, व्यस्त नवराशिक, गति निवृत्ति, भाण्ड प्रति भाण्ड (विनिमय), क्रय–विक्रय।

मिश्रक व्यवहार—संक्रमण और विषम संक्रमण, वृद्धि विधान (ब्याज), प्रक्षेपक कुट्टीकार (समानुपात), बल्लिका कुट्टीकार, विषय कुट्टीकार, सकल कुट्टीकार, सुवर्ण कुट्टीकार, विचित्र कुट्टीकार, श्रेणिबद्ध संकलित।

क्षेत्रगणित व्यवहार—व्यावहारिक गणित, सूक्ष्म गणित, जन्य व्यवहार, पैशाचिक व्यवहार ।

खात व्यवहार—सूक्ष्म गणित, चिति (ईंट) गणित, क्रकचिका (आरा) व्यवहार।

छाया व्यवहार—छाया सम्बन्धित गणित।

4.3 गणित विषयक ग्रन्थ में संख्याओं का अभिधान करने वाले सामान्य और संख्यात्मक अर्थबोधक शब्द निम्नलिखित हैं, कोष्ठक में वह संख्या है जिसे निरूपित करते हैं—

अक्षि (2), अग्नि (3), अंक (9),अंग (6), अचल (7), अद्रि (7) अनन्त (0), अनल (3),अनीक (8), अन्तरिक्ष (0), अब्धि (4), अम्बक (2), अम्बर (0), अम्बुधि (4), अम्भोधि (4), अश्व (7), आकाश (0), इन (12), इन्दु (1),इन्द्र (14), इन्द्रिय (5), इभ (8), इषु (5),ईक्षण (2), उदधि (4),उपेन्द्र (9),ऋतु (6) कर (2), करणीय (5),करिन (8), कर्मन् (8), कलाधर (1), कषाय (4), कुयार वरून (6), केशव (9), क्षपाकर (1), ख (0) खर (6),गगन (0),गज (8), गति (4), गिरि (7), गुण (3), ग्रह (9) चक्षुस् (2), जिन (24), तत्त्व (7), तनु (8),तर्क (6), तीर्थंकर (24), दुर्गा (9), दिक् (8) दिक् (10) भी, दिक् (0 भी), द्रव्य (6), द्वीप (7), धातु (7), धृति (18), नग (7), नन्द (9),नय (2),नाग (8), निधि (9), पदार्थ (9), पन्नग (7),पुर (3), बन्ध (4),बाण (5), भ (27), भय (7), भाव (5),भास्कर (12), भुवन (3), भूत (5), मद (8), मुनि या ऋषि (7) रुद्र (11),रत्न (3) रत्न (9 भी), रस (6), रन्ध्र (9),रूप (1),लब्धि (9), लेख्य (6), लोक (3),वर्ण (6), वसु (8), विषय (5) विश्व (13),वेद (4) व्यसन (7), व्रत (5), शिलीमुखपद (6), स्वर (7),हरनेत्र (3)।

उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ और भी शब्द हैं जो आगम में आने वाले शब्दों से सम्बन्धित हैं यथा—आदि धन, अंगुल, अन्त्य धन, अणु, अर्बुद, आवलि, अयन, बीज, दण्ड, दश, कोटि, सहस्र, लक्ष, घटी, गुण धन, हस्व, इच्छा, कर्मान्तिक, खर्व, क्रोश, कृति, क्षेपपद, क्षित्या, क्षोभ, क्षोणि लव, मध्यधन, शंख, पद्म, मेरु, मृदंग, भाष मुख, मुरज, न्यर्बुद, पाद, पक्ष, पण, पणव, फल, प्रक्षेपक–करण,प्रमाण, प्रस्थ, प्रवर्तिका, ऋतु, समय, सर्वधन, शतकोटि, शोडशिका, शोध्य, स्तोक, त्रसरेणु, त्रिप्रश्न, तुला, उच्छ्वास, उत्तरधन, वाह, यव, योजन ।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में जो गणितीय शब्द हैं उनका यथोचित उपयोग कर्मग्रन्थों में हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है मानों गणितीय सामग्री को समझने हेतु सर्वप्रथम तिलोयपण्णत्ति पढ़ना, क्योंकि गणितीय प्रमाण, संख्या, राशि आदि विषयक सामग्री उसी ग्रन्थ में उपलब्ध रही चली आई। यथा—अक्षोभ, अनित्य, अचलात्म अटट, अटटांग अद्धापल्य, अनुभाग, अर्थकर्त्ता, अवसर्पिणी, अव्याबाध, असंख्येय, गुणश्रेणि, अंगुल, आवलि, आवृत्ति, उच्छ्वास उत्सर्पिणी, उत्सेधसूच्यंगुल, उदय, उदीरणा, अद्धारपल्य, उवसन्नासन्न, काल, कुमुदांग, कोश राशि, घनलोक, गगनखण्ड, घनांगुल, जगत्प्रतर, जगच्छ्रणीय, त्रसरेणु, त्रुटितांग, ऋुटिरेणु, दण्ड, दिवस, ध्रुव भागहार, ध्रवराशि, नभखण्ड, नोकर्म, परमाणु , पल्योपम, पाद, पुद्गल प्रतरांगुल, प्रदेश, प्रमाणांगुल, भिन्नमुहूर्त, मध्यम, महालतांग, मास, मुहूर्त, मूल, मूसल, यव, युग, योजन, रथरेणु, रिक्कु, राजू लक्षण, लतांग, लव, लीख, लोक, वर्ष, व्यवहारपल्य, विक्रिया, वितस्ति, विषुप, विस्रसोपचय,

शंख, श्रेणी, सन्नासन्न, सप्तभंगी, समचतुरस्त्र, समय, सागरोपम, सूच्यंगुल स्कन्ध, हस्त, हस्तप्रहेलित, हाहांग, हुण्डावसर्पिणी, हूहांग।

उपरोक्त कथन में अंगुल स्कन्ध से और योजन अंगुल से परिभाषा क्रम में उत्पन्न किया गया है। इन्हीं से जगश्रेणी, जगत्प्रतर और घनलोक उत्पन्न होते हैं। राजू जगच्छ्रेणी का सातवां भाग होता है। पल्य और सागर समय से परिभाषा क्रम में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार प्रदेश संख्या और समयसंख्या में निम्न सूत्रों द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया गया है—

जगश्रेणी = (घनांगुल) (पल्य के अर्द्धच्छेद ÷ असंख्यात)

सूच्यंगुल =(पल्य)(पल्य के अर्द्धच्छेद)

इस प्रकार ये सूत्र क्षेत्र प्रमाण और काल प्रमाण में सम्बन्ध स्थापित करते हुए एक दूसरे में परिवर्तित किये जा सकते हैं।

त्रिलोकसार में उपरोक्त शब्दावलि परिभाषा क्रम से उत्पन्न शब्दों के बारे में मिलती है, किन्तु चौदह धाराओं का विवरण जो 'वृहद्धारापरिकर्म' से अवतरित किया गया है, विलक्षण है। ये चौदह धाराएं क्रमशः इस प्रकार हैं—

सर्व, सम, विषम, कृति, अकृति, घन, अघन, कृतिमातृका, आकृतिमातृका, घनमातृका, अघनमातृका, द्विरूपवर्ग, द्विरूपघन तथा द्विरूपघनाघन धारा। आधुनिक गणित की दृष्टि से इन धाराओं का विकास अभूतपूर्व है। इसमें अर्द्धच्छेदों का प्रयोग तथा स्थल विज्ञान का प्रयोग अप्रतिम है।

उपर्युक्त ग्रन्थों में उपमा प्रमाण तथा संख्या प्रमाण (संख्येय, असंख्येय और अनन्त) का विशद मिलता है। लोक के विभिन्न प्रकार के आकार सम्बन्धी क्षेत्रगणित भी अतिविस्तार से प्राप्य है। संख्याप्रमाण की सिद्धि हेतु चौदह धाराओं का विवरण महत्वपूर्ण है।

4.4 त्रिलोकसार में प्राप्य शब्दावली जो अन्त की तीन धाराओं में प्राप्य है अत्यन्त महत्वपूर्ण है। द्विरूपवर्गधारा में निम्नलिखित हैं—

बादाल, एकट्ठी, जघन्यपरीतासंख्यात, वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद, प्रथमवर्गमूल, आवली, प्रतरावली, असंख्येयस्थान, अद्धापल्य की वर्गशलाका, पल्य सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, जगश्रेणीका प्रथम घनमूल, जघन्य परीतानन्त, जघन्ययुक्तानन्त जघन्य अनन्तानन्त, जीवराशि, पुद्गलराशि, कालराशि, आकाशश्रेणिराशि, आकाशप्रतरराशि, अनन्तस्थान, धर्म एवं अधर्मद्रव्य के अगुरुलघु गुण के अविभाग प्रतिच्छेद, एक जीवद्रव्यके अगुरुलघुगुण सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदों की राशि, सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जघन्यपर्याय नामक श्रुतज्ञान की अविभगप्रतिच्छेदराशि, जघन्य क्षायिक लब्धिकी वर्गशलाकाएं, अर्द्धच्छेद, आठवां, सातवां आदि वर्गमूल, केवलज्ञानराशि के अविभागी प्रतिच्छेद। केवलज्ञानराशि प्रत्येकराशि के अन्तिमस्थान के अन्तिमपद से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित है ।

द्विरूपघनधारा में प्राप्य शब्द इस प्रकार हैं—आवलिघन, प्रतरावलिघन, पल्यघन, घनांगुल, जगश्रेणी, जगत्प्रतर, जीवराशिका घन, सर्वाकाशका प्रथमवर्गमूल तथा सर्वाकाश. संख्येय—असंख्येय व अनन्त वर्गस्थान केवलज्ञान के द्वितीयवर्गमूल की घन अविभागप्रतिच्छेदराशि केवलज्ञान की वर्गशलाकाराशि से दो कम स्थान।

इसीप्रकार द्विरूपघनाघनधारामें निम्नलिखित शब्दों का उपयोग है। ये सभी राशियाँ हैं जो धारा के स्थानक्रम से उत्पन्न होती हैं—

द्विरूपवर्गधारा में वर्गरूप राशि घनाघन, लोक, गुणकारशलाका, वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद और प्रथमवर्गमूल, तेजस्कायिक जीवराशि, असंख्यात वर्गस्थान जाने पर तेजस्कायिक स्थिति की वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद एवं प्रथममूल, अवधिज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र की वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद, प्रथमवर्गमूल तथा ये राशियां, स्थितिबन्ध में कारणभूत कषाय परिणाम के स्थानों की वर्गशलाकाएँ अर्द्धच्छेद एवं प्रथम वर्गमूल तथा स्थान राशि, अनुभाग बंधस्थान के कारणभूत परिणामों की

वर्गशलाकाएं अर्द्धच्छेद, प्रथमवर्ग मूल तथा परिणामराशि, निगोदजीवों के शरीरों की उत्कृष्ट संख्या, निगोदकाय स्थिति की वर्गशलाकाएं, अर्द्धच्छेद प्रथमवर्गमूल तथा स्थितिराशि, वर्गशलाकादि भय के साथ योग के सर्वोत्कृष्ट अविभाग प्रतिच्छेदराशि, अनन्तस्थान ऊपर जाकर केवलज्ञानराशि के चतुर्थ वर्गमूल के घनको इसी चतुर्थ वर्गमूल के घन को वर्ग से गुणा करने पर प्राप्त राशि।

अब कर्मग्रन्थों की शब्दावलि पर विचार करना उपयुक्त होगा। कषायपाहुड़सुत्त में स्थिति और अनुभाग, प्रदेश तथा प्रकृतिसम्बन्धी प्रमाणों में गणितीय शब्दों का प्रयोग है। संक्रम सम्बन्धी प्रक्रियाओं में भी गणितीय शब्दों का उपयोग है। इस प्रकार सम्यक्त्वलब्धि तथा क्षपणा की प्रक्रियाओं को गणितीयरूप देकर शब्दों की नयी रचना है।

4.5 श्री यतिवृषभचार्य द्वारा चूर्णि सूत्रों में जो गणितीय शब्द आये हैं वे निम्नलिखित हैं—

प्रकृतिस्थानराशिके काल–अन्तर–नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय–अल्पबहुत्व; भुजाकार–अल्पतर अवस्थित विभक्ति–कालनिरूपण; प्रकृतिविभक्ति में पदनिक्षेप और वृद्धिका अनुमार्गण; मिथ्यात्वादिकर्मों की उत्कृष्टस्थिति विभक्ति जघन्य; सन्निकर्ष; अवक्तव्य; स्थितिसत्कर्मस्थानराशि; अनिवृत्तिकरण आदि पदों, जघन्य प्रदेश सत्कर्म अल्पबहुत्व; उत्कर्षण; अपकर्षण; संक्रमण; उदय; क्षीणस्थितिक; उत्कृष्टनिषेक–यथानिषेक उदयस्थिति प्राप्तक; स्थिति प्राप्तक कर्मों का अल्पबहुत्व; प्रतिगृहस्थानों में संक्रमस्थान; सत्त्वस्थान–गुणस्थान–मार्गणास्थानमें संक्रम एवं प्रतिग्रहस्थान; मोहकर्म सत्त्व–बन्धस्थानों में संक्रमस्थान; स्थिति के निक्षेप तथा अति–स्थापना; निर्व्याघातापेक्ष निक्षेप एवं अल्पबहुत्व; पदनिक्षेप एवं वृद्धि; अनुभागसंक्रम सन्निकर्ष भंगविचय एवं अल्पबहुत्व; प्रदेशसंक्रमसन्निकर्ष अल्पबहुत्व; उदीरणास्थानराशिभंग–काल–अन्तर–भंगविचय–सन्निकर्ष अल्पबहुत्व; प्रदेश सक्रमन्निकर्ष अल्पबहुत्व, उदीरणास्थानराशि भंग–काल–अन्तर–भंग विचय–सन्निकर्ष अल्पबहुत्व। स्थिति एवं अनुभाग उदीरणा; प्रदेश उदीरणा; प्रकृति उदीरणादि; कषायोपयोग काल अल्पबहुत्व; कषायोपयोग परिवर्तन बार एवं उनका अल्पबहुत्व; कषायोदयस्थानों में कषायोपयोग कालसम्बन्धी अल्पबहुत्व; कषायोपयोग परिवर्तन बार एवं उनका अल्पबहुत्व, कषायोदय स्थानों में कषायोपयोग कालसंनधि अल्पबहुत्व कषयोपयोग वर्गणाएं; अतीतकाल में मान–नोमान और मिश्रकाल, कषायत्रिविधकाल; अल्पबहुत्व श्रेणियां; अध:प्रवृत्तादि तीनकरण; चरमसमय; क्षपणा; स्थितिघात–स्थितिकाण्डकघात; कृतकृत्यवेदक; पूर्वबद्ध कर्मस्थिति गुणश्रेणी; एकान्तानुवृद्धि; तीव्रमन्दता अल्पबहुत्व; लब्धिस्थानराशि अल्पबहुत्व; चारित्रमोहोपशम क्रियाएं, अन्तरकरण; अनुभागकृष्टिकरण; लेश्या; अपवर्तना; आनुपूर्वी संक्रमण; अवस्थान; निक्षेप; अतिस्थापन; अश्वकर्णकरण; अपूर्वस्पर्धक; सत्त्व; प्रदेशाग्र; यवमध्यरचना भजनीयता–अभजनीयता; समयबद्ध; भवबद्ध; बध्यमान; सम्भवता; समयप्रबद्ध शेषप्रदेशाग्र; निर्लेपन स्थान; अबध्यमान; संग्रहकृष्टिराशि; दृश्यमानप्रदेशाग्रश्रेणि; वेदक–अवेदक; सम्भववीचार; समुद्घात इत्यादि।

4.6 षट्खण्डागम (पांच खण्डों) में कुछ और नवीनगणितीय शब्द आते हैं—

अक्खर संजोग, अगहण दव्ववग्गणा, अगुरुलहुअणाम, अग्ग, अणंतगुणपरिवड्ढी, अणंतगुणहीण, अणंत भागहाणी, अणंतर, अणंताणंत, अणुगामी, अणुभागबंध्ज्झवसाणट्ठाण, अणेयखेत्त, अण्णोणयब्भास, अद्धपोग्गलपरियट्ट, अद्धअप्पबहुअ; अप्पाबहुआणुगम, अवत्तव्वकदी, अवलंबणा, अवहारकाल, अविभाग–पच्चय, असंख्ज्जगुणब्भहिय,वस्साउअ, असंखेपद्धा, असादद्धा, अंगुलपुधत्त, अंगुलवग्गमूल, अंतकोड़ाकोड़ी, अंतोमुहुत्त, अंतोमुहुत्त, आबाधा, आबाधाकंडय, आयाम, आवलियपुधव्व, उदिण्णफलपत्तविवागा, उदिण्णवेयणा, उस्सप्पिणी, एयक्खेत्त,एयपदेसिय परमाणु, ओगाहणगुणगार, ओज जुम्म, ओरालियपदेस, ओसप्पिणी, कम्मअणंतरविहाण, कम्मअप्पाबहुअ, कम्मकाल, खेत्त, गइ, ट्ठिदि विहाण, दव्वविहाण, कम्म, णिम्खेव, णिसेअ, पच्चय, परिमाण, फास, भागाभागविहाण,भावविहाण, भूमिपडिभाग, करणकदी, कालहाणी, केवलणाण, कोडाकोडीकोडाकोडि,कोडिपुधत्त, कंदयवग्गावग्ग, खेत्तहाणि, खंधवग्गण,गच्छ, गणणकदि,

गणिद, गाउअपुधत्त, गुणगार, गुणसेडिकाल, गणहाणि, घणहत्थ, छेदणा, जगपदर, जवमज्झ, जहण्णोहि, जुग, जुम्म, जोयणपुधत्त ठिदिखंडयघात, णिकाचिद, णिधत्त, णोकदी, णोजीव, दव्वपमाण, दिवसपुधत्त, धुवखंध, सुण्ण, पओग परिणदखंध, संठाण, पक्ख, पदेसग्ग पमाण, पुव्वकोडिपुधत्त, भापमाण, भासद्वा भिण्णमुहुत्त, भंगविधि, भंगविचय, महाखंधदव्व वग्गणा, रज्जु, लोग, वग्ग, वग्गणा, वग्गमूल, फड्ढय, समयपबद्ध सागरोवमसदपुधत्त, सादद्धा, साहिय, संखेज्जगुणब्भहिय, संगह, सांतरणिरन्तर दव्ववग्गणा।

4.7 गोम्मटसारादि ग्रन्थों में कुछ और नवीन शब्द भी प्राप्त है—

संखा, पत्थार, परियट्टण, णट्ट, समुद्दिट्ठं भंग, अक्ख, णिक्खिविय, पिण्ड, अंतगद, आदिगद, संकम, पद, रूवपक्खेव, संगुणित्तु, सगमाण; अवणिज्ज, उद्दिट्ठ, सरिस, अणाईणिहण, आसव, अणंतकम्मंस, गुणक्कम, विदंगुल, अवरं, उग्गाहण, जहाजोग्ग, विच्चाल, विअप्प, रासि, कदिहद, आउड्डुरासिवार, दिण्णच्छेदेणवहिद, इट्ठच्छेद, पयदधण, ओरालिय, गुणिदकम्मंसे, संचय, गलिदवसेस, सलागा, संदिट्ठि, ठिदिरयण, दलसला, णिसेयछिदी, सहत्थणकाल, तिरच्छिेण वट्टमाण, तियकोणसरूव, हेट्ठिमखंड, णिवग्गं।

4.8 लब्धिसार में भी कुछ और नवीन गणितीय शब्द हैं यथा—

पडलसत्ती, बंधोसरण, अणुक्कस्स पदेसबंध, अपुणरुत्ता, ठिदिरसखंडं, विसोहि वड्ढीहिं, पडिवज्जमाणगस्स, अणुकट्ठीए, अद्धा पडिखंडना, छट्ठाणाणी, अट्ठुव्वंकादिअंतगया, असरिसखंडाणोलि, वरपंती, अहिगदिणा, पूरण, खंडुक्कीरणाकाला, गलिदवसेसे, उदयावलिबाहिर, समकरण, वज्जिय, सुज्झमाण, फालि, सत्तग्ग, बोलिय, अदि, जुदा, जेट्ठ, अग्ग, उदयाणाखमावलि, खिवणट्ठं, उक्कट्टणो हारो, सिंचदि, णिसेयहार, संचदिय, अप्पसत्थ, बंधुज्झिय, संजादि, संजोजण, सायरपुधत्त, णिवडण,अइत्थावण, णिप्पत्ती, थोवाणि, सीसं, संशुहदि, अंतरकड, पडि आवलि, णत्थि आगाला, पडिआगाला, उवइट्ठादूण, तिधा, भजियकमा, विज्झादो, हदिकाल, गुणियकमा, णिरासाण, तियरण, पव्व दूरावकिट्ठि, उच्छिट्ठ, उदधि, णासेइ, वस्स किचूणदिवड्ढ, कमोवट्टण, सपहियं, पुव्विल्लादो, णिसिंचिदे, गोउच्छ, तक्काले, दिस्सं उवरिमठिदि, दत्तिकमो, मूल, कदकणिज्जोयपत्ती, परावत्ती, अणुसमओवट्टणयं, पुव्वकिरिया, संकिलेस, विसेसाहिय, पदसंखा,णादिक्कदि, सेस, सगजोग्गं, एयंतबुद्धि, पडिउट्ठदे, अणुभय, पडिवादगया, उक्कीरयं, बोच्छिण्णा, तेत्तियमेत्ते, परिभोगं, अंतर–समत्ती, थीयद्धा जाव, संछुहदि, णंतगुणणं, संधी, लोह, विवरीयं, कमकरण, लक्खपुधत्तं तावदियं, चडपड, अंतरयं अणुभवण, पदेसअंगेण,गणणादिकंत सेढी,ओव्ववट्टणि उट्ठण, आदोलं, पक्खेवकरण, वग्गण अविभागा, हयकण्ण, संगह अंतरजादो, लोकपूरण,आवज्जिदकरण, अणुसमओवट्टण।

इस प्रकार ईस्वी सदी के प्रारम्भ से लेकर प्राय: 1000 वर्ष तक लगातार कर्मसिद्धान्त की गाथाओं पर विशाल पैमाने पर कार्य चलता रहा। उसका गणितीय रूप आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त–चक्रवर्ती के गोम्मटसार, लब्धिसार आदि ग्रन्थों की टीकाओं में निखरा है। इसी में संदृष्टियों पर विशेष जोर दिया गया है। इसके पूर्व के ग्रन्थों , यहां तक कि धवला टीका में भी गणित के समीकरणों आदि को केवल वाक्यों में ही लिखा गया है। एक साथ संदृष्टिमय प्ररूपण आश्चर्यजनक है। केशववर्णी कृत कर्णाटकीवृत्ति में भी यह सब आ जाना केवल 200 वर्ष का प्रयास यदि है तो अत्यन्त श्रेयस्कर है। धवला टीका की विकल्पपद्धति अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। श्री वीरसेनाचार्य द्वारा राशियों के प्रमाण का विश्लेषण खण्डित, भाजित, विरलित आदि प्रक्रियाओं से सिद्ध किया गया है। अनन्त से बड़े अनन्तकी सिद्धि की विधियां वीरसेनाचार्य की धवला टीका में उपलब्ध हैं। इन अनन्तात्मक राशियों के बीच लागयेरिथ्म (logarithm) विधि से सम्बन्ध स्पष्ट किये गये हैं।

4.9 कर्मगणित के विकास में अर्थसंदृष्टि—

पंडित टोडरमल जी के समय कोई ऐसा शिक्षक नहीं था जो आगम में प्रयुक्त संदृष्टियों का यथोचित बोध करा सके। केशववर्णी ने भी अर्थसंदृष्टियों पर प्रकाश डालने हेतु कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार नहीं किया। इससे प्रतीत हेाता है कि या तो उनके द्वारा लिखा ऐसा कोई ग्रन्थ विलुप्त हो गया। अथवा उनके पूर्व से ही उनके काल तक इन संदृष्टियों को जानने वाले रहे होंगे अथवा इन संदृष्टियों का विशेष प्रचार रहा होगा तथा पाठशालाओं में पढ़ाने की कोई मौखिकपद्धति रही होगी। उनके पश्चात् चार वर्षों के पश्चात् पंडित टोडरमलजी हुए जिन्हें इस ओर जानने की रुचि हुई। इस मध्य कर्णाटकीवृत्ति की संस्कृत टीका अवश्य बनी, किन्तु अर्थसंदृष्टि पर कोई स्वतन्त्रग्रन्थ नहीं लिखा गया। चामुण्डराय द्वारा कोई टीका लिखे जाने की चर्चा मिलती है, किन्तु उक्त ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसके पूर्व का कोई ऐसा ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है जो इस तथ्य पर प्रकाश डाल सके। यह भी हो सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्रादि की टीकाओं में अर्थ संदृष्टियों का विकास हुआ हो जिसे साधारण विद्वानों की पहुंच के बाहर होने से अधिक प्रचार न हो पाया हो। यह अवश्य है कि कहीं–कहीं तिलोयपण्णत्ति एवं धवला टीका में अर्थसंदृष्टियों तथा खुले रूप में अंक संदृष्टियों का उपयोग हुआ है।कर्णाटकीवृत्ति आदि में इन दोनों का पृथक्–पृथक उपयोग हुआ है। इसी प्रकार रेखा रूप संदृष्टियों का भी उपयोग पहले से चला आया है, किन्तु इन सभी को समझाने का अथक प्रयास पंडित टोडरमल जी द्वारा हुआ है।

पंडित टोडरमलजी के समक्ष गोम्मटसार की संस्कृतटीकाएं थीं तथा लब्धिसार की माधवचन्द्र त्रैविद्य देव की संस्कृत टीका थी। उन्होंने उक्त सभी टीकाओं का सर्वप्रथम अध्ययन किया। इसके पश्चात् उन्होंने यह योजना बनाई कि अर्थसंदृष्टि विधिपूर्वक पृथक् से बनाई जावे तथा शेष सामग्री गणितरहितरूप में पृथक् संकलित कर टीका निर्मित की जावे। तदनुसार उन्होंने दो अर्थसंदृष्टि अधिकार निर्मित किये जो क्रमशः गोम्मटसार और लब्धिसार में आयी गणितीय सामग्री को समाविष्ट किये हुए थे। साथ ही इनके प्रारम्भ में भूमिका थी, जिसमें समस्त प्रतीकों का विवरण, उनके प्रयोगसम्बन्धी विधि तथा उदाहरण दिये हुए थे। प्रतीकों के सम्बन्ध में एक और कठिनाई थी। एक ही प्रतीक विषयानुसार विभिन्न अर्थ के संकेतरूप में प्रयुक्त हुआ था तथा एक ही अर्थ हेतु विभिन्न प्रतीक भी प्रयुक्त हुए थे। अतएव इन सभी का विश्लेषण करते हुए पंडित टोडरमलजी ने अगली पीढ़ियों के लिए महान् अंशदानरूप में उक्त दो अर्थसंदृष्टि अधिकार निर्मित किये। इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त में प्रतीकबद्ध गणित का विकास हुआ जो कि करणानुयोग ग्रंथों में पठनीय है।

4.10 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1–श्री महावीराचार्य का आज कौन सा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है ?

(क) ज्योतिष पटल ☐
(ख) मंद प्रबोधिनी ☐
(ग) त्रिलोकसार ☐

प्रश्न 2–राजू जगच्छ्रेणी का ..... भाग होता है ?

(क) आठवाँ ☐
(ख) दसवाँ ☐
(ग) सातवाँ ☐

प्रश्न 3–शून्य का उपयोग किस रूप में होता है ?

(क) बिन्दू या लघु वृत्तरूप ☐
(ख) बिन्दू या वृहत् वृत्तरूप ☐
(ग) कोई नहीं। ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1–संज्ञा अधिकार को लिखिए ?

प्रश्न 2–परिकर्म व्यवहार और खात व्यवहार क्या है ?

प्रश्न 3–संख्यात्मक अर्थ, बोधक शब्द में से किन्हीं दस के नाम लिखिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1–जैनाचार्यों द्वारा कर्म सिद्धान्त में गणित का विकास कैसे किया गया ? संक्षेप में लिखिए।

इकाई–4 चरित्र निर्माण का पथप्रदर्शक–चरणानुयोग

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है–

(1) चरणानुयोग का साहित्य और उसकी उपादेयता

(2) संस्कार, सादगी और संयमाचरण

(3) आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी द्वारा वर्णित ग्यारह महत्त्वपूर्ण स्थान

(4) सम्यक्त्वचरण एवं संयमचरण चारित्र

पाठ 1–चरणानुयोग का साहित्य और उसकी उपादेयता

1.1 सकल वाङ्मय द्वादशाङ्ग रूप है। जो प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों में विभक्त है। इसमें सबसे प्रथम अङ्ग का नाम आचाराङ्ग है और यह संपूर्ण श्रुतस्कंध का आधारभूत है।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।

अर्थात् गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसमें वृद्धि किस प्रकार होती है और उसकी रक्षा किस प्रकार होती है। इन सबका निरूपण जिसमें रहता है उसे चरणानुयोग कहते हैं।

1.2 आचार्यों ने चरणानुयोग के ग्रंथों में श्रमणाचार और श्रावकाचार का विस्तार से वर्णन किया है–

चरणानुयोग से संबंधित ग्रंथों में कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें केवल श्रमणाचार का ही वर्णन है और कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें श्रावकाचार का ही वर्णन है। कुछ ऐसे भी ग्रंथ हैं जिनमें श्रमणाचार एवं श्रावकाचार दोनों का वर्णन है। प्रस्तुत आलेख में चरणानुयोग के समस्त साहित्य को रेखांकित करना है। तदनुसार श्रमणाचार साहित्य एवं श्रावकाचार साहित्य इन दो भागों में विभक्त कर सर्वप्रथम श्रमणाचार साहित्य की विवेचना प्रस्तुत है।

दिगम्बर जैन वाङ्मय में मुनियों के आचार का सांगोपांग वर्णन करने वाला मूलाचार ग्रंथ है फिर भी मूलाचार से पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने साहित्य में भव्य जीवों को जो देशना दी है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे दिगम्बर साधु में रञ्चमात्र भी शैथिल्य को स्वीकृत नहीं करते थे। यही कारण है कि विकृत आचरण करने वाले साधु को उन्होंने नटश्रमण तक कहा है। प्रस्तुत आलेख में श्रमणाचार विषयक साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत श्रमणाचार विषयक ग्रंथों का परिचय दिया जाना अपेक्षित है।

1.3 श्रमणाचार विषयक ग्रंथों का परिचय संक्षेप में इस प्रकार है—

1.3.1 प्रवचनसार–

यद्यपि प्रवचनसार श्रमणाचार विषयक ग्रंथ नहीं है फिर भी उसमें जो ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार तथा चारित्राधिकार के भेद से तीन श्रुतस्कंध प्राप्त हैं, उसमें अंतिम चारित्र अधिकार में अमृतचन्द्राचार्य के मतानुसार 75 गाथाएं और जयसेनाचार्य के अनुसार 97 गाथाएं हैं। इस अधिकार में श्रामण्य के चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, वास्तविक संयत का लक्षण, शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग, श्रमणाभास का परिचय, लौकिकजन का लक्षण आदि विषयों की विवेचना की गई है।

चारित्राधिकार का प्रारंभ करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि दुःखों से परिमोक्ष–पूर्णमुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य मुनिपद को धारण करो। सम्यग्दर्शन से मोक्षमार्ग शुरू होता है और सम्यक् चारित्र से उसकी पूर्णता होती है।

चारित्र गुण का पूर्ण विकास मुनिपद में होता है। मुनिपद धारण करने के लिए जो उन्मुख होता है उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिए, इसकी विवेचना के साथ साधु के 28 मूलगुणों की चर्चा जो अमृतचन्द्राचार्य ने की है वह अन्यत्र पढ़ने को नहीं मिलती है। उनका कहना है कि वस्तुतः आत्मा के केवलज्ञानादि अनन्तगुण मूलगुण हैं और वे मूलगुण निर्विकल्प समाधिरूप सामायिक नाम निश्चय एक व्रतरूप मोक्ष के कारण होने से मोक्ष के होने पर सभी प्रकट होते हैं। अतः वह सामायिक मूलगुण केवलज्ञानादि गुणों की प्रकटता में कारण होने से सामायिक को ही निश्चय से श्रमण का एक ही मूलगुण कहा गया है, परन्तु जब वह श्रमण निर्विकल्प समाधिस्थ की सामर्थ्य नहीं रख पाता है तब उसकी बहिरंग प्रवृत्ति भी इस प्रकार की होती है, जिससे उसे अंतरंग मूलगुण रूप सामायिक की ओर प्रेरित रख सके। अतः उसकी बहिरंग सर्वाङ्गीण प्रवृत्ति 28 मूलगुणों के प्रति सन्मुख होती है। क्योंकि 28 मूलगुणों के द्वारा आत्मा का शुद्ध स्वरूप साध्य है। 28 मूलगुण उसके यथार्थ स्वरूप के नियामक नहीं। परन्तु सामायिक च्युत श्रमण की बहिरंग प्रवृत्ति 28 मूलगुणों से हीनाधिक नहीं होती। अतः 28 मूलगुण श्रमण का यथार्थ स्वरूप नहीं है अपितु सामायिक च्युत श्रमण की ये 28 ही गतिविधियाँ होती हैं, यह त्रिकाल नियम है। अंतरंग सामायिक इच्छुक को निरन्तर सामायिक में न ठहर सकने के कारण उत्कृष्ट निष्कलंक बहिरंग प्रवृत्तिरूप 28 मूलगुणात्मक स्वरूप को स्वीकारना ही होगा परन्तु बहिरंग प्रवृत्ति की अंतरंग प्रवृत्ति के साथ नियामकता नहीं है।

इस ग्रंथ में श्री अमृतचन्द्रसूरि, श्री कुंदकुंद के भावों को अपनी शैली से एक अनोखी पद्धति से बताते हैं। जब–जब कोई गाथा का अवतार हुआ है तो उस अवतार होने से पहले रचयिता का क्या आशय था और किस ढंग से गाथा का वर्णन करना चाहते थे, इन बातों को अमृतचंद्र जी सूरि ने अपने बड़े पाण्डित्य के साथ वर्णन किया है। जैसे किसी भी बात को कहने के लिए साधारण भाषा में तो ऐसा बोला जाता है कि अब यह कहते हैं। "यह कहते हैं" इस बात को श्री अमृतचन्द्र सूरि ने करीब 40–50 ढंगों से वर्णन किया है, जैसे उन्होंने चारित्र के स्वरूप का वर्णन किया तो कहा है कि अब चारित्र स्वरूप को विभावित करते हैं। चारित्र स्वरूप को भावित करते हैं अर्थात् अपनी भावना में उतारते हैं और विभावित करते हैं अर्थात् अपनी भावना में विशेष रूप से उतारते हैं। जैसे इसमें 7वीं गाथा कही तो सीधा तो यों कहना था कि अब चारित्र का स्वरूप कहते हैं, उसको यों बताया कि चारित्र स्वरूप को विशेष रूप से भावित करते हैं फिर गाथा बोलते हैं यह है उनका अनोखा ढंग। उस बात को किस अर्थ को लेकर सुनना चाहिए और कैसी अपनी तैयारी बनाकर उस गाथा को सुनना चाहिए। इस ग्रंथ के टीकाकार ने भी गाथा के मर्म को खोलकर दर्पण की तरह रख दिया है। इसी प्रकार जो शब्द गाथा की उत्थानिका में आये हैं वे सभी गंभीर अर्थ को लेकर रखे गये हैं। जैसे निश्चिनोति, आलोचयति, अभिष्टौति, निरूपयति, अभिनन्दयति, विभावयति, अभिप्रेति, उद्योतयति, चिन्तयति, प्रतिहन्ति, संभावयति, क्षोभं क्षपयति, उपन्यस्यति, आख्याति, उत्क्षिपति, उद्भावयति, अधिवसति, उतिष्ठते, प्रयतते, प्रतिहन्ति, धुनोति आदि शब्दों के द्वारा ग्रंथ के हृदय को खोला है। वस्तुतः प्रवचनसार में श्रमणाचार विषयक मूलभूत सिद्धान्त कह दिया गया है।

1.3.2 अष्टपाहुड़–

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित अष्टपाहुड़ों में श्रमणचर्या की स्पष्ट विवेचना है। संक्षेप में प्रत्येक पाहुड़ में यथास्थान कहे विषय का दिग्दर्शन इस प्रकार है–

दंसणपाहुड़–इसमें कहा है कि असंयमी की वन्दना नहीं करना चाहिए और बाह्यसंयम से रहित बाह्यरूप को धारण करने वाला भी वन्दनीय नहीं है क्योंकि वे दोनों ही समान हैं। गा. 26

सुत्तपाहुड़–मुनियों के बाल के अग्रभाग के बराबर भी परिग्रह का ग्रहण नहीं होता वे एक ही स्थान में दूसरों के द्वारा दिये गये प्रासुक अन्न को अपने हाथरूपी पात्र में ग्रहण करते हैं। गा. 17, 18, 19

चारित्रपाहुड़–सागार और निरागार भेद करके श्रमणचर्या का वर्णन किया है। गा. 21, 40

बोधपाहुड़–इस पाहुड़ में मुनिराजों को किस–किस स्थान पर निवास करना चाहिए, इसका विस्तार से वर्णन है। गा. 41, 42, 43 से 56 तक।

भावपाहुड़–इसमें कहा है कि निश्चय से भाव जिनदीक्षा का प्रथम लिंग है। इसमें भावों की विशुद्धि के बिना त्याग सब निष्फल बताया है। स्पष्ट किया है कि भावरहित मुनियों का बाह्य परिग्रह का त्याग पर्वत, नदी, गुफा, खोह आदि में निवास और ज्ञान के लिए शास्त्रों का अध्ययन यह सब व्यर्थ है। इस पाहुड़ में सभी पाहुड़ों से ज्यादा गाथाएँ हैं जिसमें कहा है कि भावों की विशुद्धि श्रमणचर्या में आवश्यक है।

मोक्खपाहुड़–इस पाहुड़ में 106 गाथाएँ उद्धृत हैं। परमपद प्राप्ति हेतु परमात्मा के ध्यान की बात कही है। वे कहते हैं कि जो साधु बाह्य परिग्रह से तो छूट गया है परन्तु मिथ्याभाव से नहीं छूटा, उसका कायोत्सर्ग के लिए खड़ा होना अथवा मौन से रहना क्या है ? कुछ भी नहीं है क्योंकि वह आत्मा के स्वरूप को तो जानता ही नहीं है।

लिंगपाहुड़–इस पाहुड़ में कहा है कि धर्म से लिंग होता है, अर्थात् शरीर का वेष धर्म से होता है जिसने भाव के बिना शरीर का वेष धारण किया है उसको धर्म की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए भाव ही धर्म है। भाव के बिना वेष कार्यकारी नहीं है। इस पाहुड़ में कठोर शब्दों में निर्देशित किया है।

शीलपाहुड़–इस पाहुड़ में बताया गया है कि यदि कोई साधु चारित्ररहित ज्ञान का, सम्यग्दर्शनरहित लिंग का, संयमरहित तप का आचरण करता है तो इसका यह आचरण निरर्थक है। गा. 5, 6, 7

1.3.3 रयणसार–

रयणसार कृति आचार्य कुन्दकुन्द की रचना मानी जाती है। इसमें कुल 166 प्राकृत गाथायें हैं। इसमें गृहस्थधर्म एवं मुनि–धर्म का संक्षेप में वर्णन है।

प्रारम्भ की 98 गाथाओं में गृहस्थ का मुख्य रूप से 'दान–पूजा–शील–उपवास' इन चारों का कथन किया गया है।

मुनिधर्म के वर्णन में 50 गाथाएं लिखी गयी हैं जिसमें यतीश्वर का स्वरूप, मिथ्यादृष्टि मुनि का स्वरूप, मुनि किन–किन कारणों से जिनधर्म के विरोधी कहलाते हैं। मुनि आहारचर्या के भेद, आहारचर्या में परिणामों की विशुद्धि की आवश्यकता, परिणामों की विशुद्धि के अभाव में जो साधु क्रोध से, कलह से एवं रौद्र परिणामों से आहार लेता है वह साधु न होकर व्यन्तर है। सम्यग्दर्शन की आवश्यकता बताकर बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान कराकर अन्तरात्मा और परमात्मा को जानने का उपदेश दिया है।

1.3.4 मूलाचार–

आचार्य कुन्दकुन्द के श्रमणाचार विषयक साहित्य के परिचय के साथ उनके द्वारा रचित मूलाचार नामक ग्रंथराज दिगम्बर आम्नाय में मुनिधर्म के प्रतिपादक शास्त्रों में प्रायः सर्वाधिक प्राचीन तथा सर्वोपरि प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम सिद्धान्त की अपनी सुप्रसिद्ध 'धवला' टीका उक्त मूलाचार के उद्धरण 'आचारांग' नाम से देकर उसका आगमिक महत्त्व बताने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार से भगवती आराधना की टीका में मूलाचार के कतिपय उद्धरण प्राप्त हैं और तिलोयपण्णत्ती में भी मूलाचार का नामोल्लेख है। मूलाचार के सर्वप्रथम टीकाकार आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने अपनी आचारवृत्ति नाम की संस्कृत टीका की उत्थानिका में कहा है कि आचार्य देव ने गणधरदेव रचित श्रुत के आचारांग नामक प्रथम अंग का लघुशिष्यों के हितार्थ बारह अधिकारों में उपसंहार करके मूलाचार रूप दिया है।

मूल शब्द के अनेक अर्थ हैं परन्तु यहाँ मूल शब्द का अर्थ प्रधान लिया गया है। साधुओं का प्रमुख आचार कैसा होना चाहिए, इसका दिग्दर्शन ग्रंथकार ने मूलाचार में किया है। ग्रंथकार ने मूल शब्द 'मूलगुणों' से लिया है, ऐसा प्रतीत

होता है क्योंकि प्रतिपाद्य बारह अधिकारों में प्रथम मूलगुण अधिकार रखा गया है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती वसुनन्दि ने पृथक् रूप से मूलगुणों को भी नमस्कार किया। देखें–

मूलगुण संयतानामयं नमस्कारो मूलगुणान् सुविशुद्धान्।
संयताश्च वन्दित्वा मूलगुणान् कीर्तयिष्यामि।।

यहाँ मूलगुणों एवं सुविशुद्ध चारित्र को अलग–अलग नमस्कार करने का कारण यह है कि श्रमण का मूलस्वरूप तो सप्तगुणस्थान की दशा से युक्त भाव है, जो कि शुद्ध परिणति में होता है। यही सुविशुद्ध चारित्र है। परन्तु जब इन भावों से च्युत होकर विकल्प की भूमिकारूप छठवें गुणस्थान में आता है–तब उसे 28 प्रकार तक के भाव हो सकते हैं, जो 28 मूलगुण कहलाते हैं। इस ग्रंथ के टीकाकार कहते हैं यह भाव भी चूँकि परिणति के साथ होते हैं, अतः ये भी पूज्य हैं। इस कारण दोनों भावों को शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग को नमस्कार किया है।

मूलाचार में 12 अधिकार और 1252 गाथाएं हैं। पहले **मूलगुण अधिकार** में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंच इन्द्रियों का निरोध, षट्आवश्यक, केशलुञ्च, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थित–भोजन और एक बार भोजन, इस प्रकार मुनि के अट्ठाईस मूलगुणों का निरूपण किया है। **वृहत् प्रत्याख्यान संस्तव अधिकार** में क्षपक को समस्त पापों का त्याग कर मृत्यु के समय में दर्शनाराधना आदि चार आराधनाओं में स्थिर रहने और क्षुधादि परिषहों को जीतकर निष्कषाय होने का कथन किया है। संक्षेप में **प्रत्याख्यानाधिकार** में सिंह, व्याघ्र आदि के द्वारा आकस्मिक मृत्यु उपस्थित होने पर कषाय और आहार का त्यागकर समताभाव धारण करने का निर्देश किया है। **सम्यक् आचाराधिकार** में दश प्रकार के आचारों का वर्णन है। आर्यिकाओं के लिए भी विशेष नियम वर्णित हैं। **पंचाचाराधिकार** में दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों और उनके प्रभेदों का विस्तार सहित वर्णन है। लोकादि मूढ़ताओं में प्रसिद्ध होने वालों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। स्वाध्याय–संबंधी नियमों में आगम और सूत्रग्रंथों के स्वरूप भी बतलाये गये हैं। **पिण्डशुद्धि–अधिकार** के आठ भेद हैं। इन सभी भेदों का विस्तारपूर्वक कथन किया है। मुनियों के आहार संबंधी नियम उसके दोष तथा उन दोषों के भेद–प्रभेदों का कथन आया है। मुनि शरीर धारण के हेतु आहार ग्रहण करते हैं और शरीर धर्मसाधन का कारण है। अतः उसका भरणपोषण कर आत्म साधना के मार्ग में गतिशील होना परमावश्यक है। एषणा समिति, आहारयोग्य काल, भिक्षार्थगमन करने की प्रवृत्ति–विशेष आदि का भी वर्णन आया है।

सप्तम **षडावश्यकाधिकार** है। आवश्यक शब्द की निरुक्ति, सामायिक के छः भेद, भावसामायिक और द्रव्यसामायिक की व्याख्याएँ, छेदोपस्थापना का स्वरूप, चतुर्विंशतिस्तव, नाम और भाव स्तवन, तीर्थ का स्वरूप, वन्दनीय साधु, कृतिकर्म, कायोत्सर्ग के दोष आदि का वर्णन है। आठवें **अनगार–भावनाधिकार** में लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीरसंस्कारत्याग, वाक्य, तप और ध्यान संबंधी शुद्धियों के पालन पर जोर दिया गया है। नवम **द्वादशानुप्रेक्षाधिकार** है। इसमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, संवर, निर्जरा, धर्म, बोधि आदि अनुप्रेक्षाओं के चिंतवन का वर्णन है।

दशम **समयसाराधिकार** है। इसमें शास्त्र के सार का प्रतिपादन करते हुए चारित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा है। तप ध्यान का वर्णन भी इसी अधिकार के अन्तर्गत है। अचेलकत्व, अनौदेशिकाहार, शय्यागृहत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ प्रतिक्रमण, मासस्थितिकल्प और पर्यायस्थितिकल्प का भी प्रतिपादन आया है। प्रतिलेखन क्रिया का वर्णन करते हुए पाँच गुणों का चित्रण किया है। आहार शुद्धि के प्रकरण में विभिन्न प्रकार की शुद्धियों का निरूपण आया है। यह अधिकार बहुत विस्तृत है। ग्यारहवें **पर्याप्ति अधिकार** में षड्पर्याप्तियों का निरूपण है। पर्याप्ति के संज्ञा, लक्षण, स्वामित्व संख्या, परिमाण निवृत्ति और स्थिति काल के छः भेद हैं। इन सभी भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

बारहवें **शील गुणाधिकार** में शीलों के उत्पत्ति का क्रम, पृथिव्यादि भेदों का विवेचन, श्रमणधर्म का स्वरूप विवेचन, अक्ष संक्रमण के द्वारा शील का उच्चारण, गुणों की उत्पत्ति का क्रम, आलोचना के दोष, गुणों की उत्पत्ति का प्रकार, संख्या और प्रस्तार के निकालने की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। नष्टोदिष्ट द्वारा अक्षानयन की विधि का भी निरूपण है।

इस प्रकार इस महाग्रंथ में मुनि के आचार का बहुत ही विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन किया गया है। यतिधर्म को अवगत करने के लिए एक स्थान पर इससे अधिक सामग्री का मिलना दुष्कर है। भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन प्रतीत होता है। उत्तरवर्ती अनेक ग्रंथकारों ने इसकी गाथाओं के उद्धरणपूर्वक उसकी प्रामाणिकता प्रकट की है।

1.3.5 भगवती आराधना (मूलाराधना)–

श्रमणाचार विषयक साहित्य में शिवार्य या शिवकोटि आचार्य द्वारा रचित भगवती आराधना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है।

लिंगाधिकार में आचेलक्य, लोच, देह से ममत्व त्याग और प्रतिलेखन ये चार निर्ग्रन्थलिंग के चिह्न बताये हैं। अनयिताधिकार में नाना देशों में विहार करने के गुणों के साथ अनेक रीति–रिवाज, भाषा और शास्त्र आदि की कुशलता प्राप्त करने का विधान है। भावनाधिकार में, तपोभावना, श्रुतभावना, सत्यभावना, एकत्वभावना और धृतिबलभावना का प्ररूपण है। सल्लेखनाधिकार में सल्लेखना के साथ बाह्य और अन्तरंग तपों का वर्णन किया है। आर्यिकाओं को संघ में किस प्रकार रहना चाहिए, उनके लिए कौन–कौन विधेय कर्तव्य हैं तथा कौन–कौन से कार्य त्याज्य हैं आदि का प्रतिपादन किया है। मार्गणाधिकार में आचार्य जीत और कल्प का वर्णन है। इस अधिकार में आचेलक्य का भी समर्थन किया है।

इस ग्रंथ में श्रमणाचार संहिता बतलायी तो गई है परन्तु मूलाचार से ज्यादा मतभेद नहीं है।

1.3.6 चारित्रसार–

यह कृति वीर मार्तण्ड चामुण्डराय देव विरचित है। इसका हिन्दी अनुवाद पं. लालाराम जी जैन शास्त्री द्वारा किया गया है।

इस कृति में श्रावकधर्म और मुनिधर्म का संक्षेप में कथन किया है। मुनिचर्या के विषय में दशधर्म के अन्तर्गत ही सम्बन्धित चर्या का वर्णन कर दिया है।

संयमधर्म की विवेचना करते समय संयम के दो भेद किये हैं—उपेक्षा संयम दूसरा अपहृत संयम। अपहृत संयम में पाँच समितियों का विस्तार से चर्चाकर एषणा समिति में ही आहारचर्या और उसमें आने वाले छियालीस दोषों का विवेचन किया है। जो मूलाचार के अनुसार है। पृथक् से कोई विशेष बात नहीं कही है।

इस ग्रंथ में परिषह जय प्रकरण विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि इसकी विस्तार से विवेचना है। ग्रंथकार का कहना है कि संयमी तपस्वी को सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र की रक्षा के लिए परिषहों को सहन करना चाहिए। क्योंकि ये परिषह संयम और तप का विशेष रूप है तथा उन्हीं दोनों का एकदेश है। इस ग्रंथ में परिषह का वर्णन संयम और तप के बीच में किया गया है। ग्रंथकार का कहना है कि परिषहों को जीतकर जो कभी परिषहों से तिरस्तकृत नहीं होते वे मुख्य संवर का आश्रय लेकर बिना किसी रुकावट क्षपक श्रेणी चढ़ने की सामर्थ्य प्राप्त करते हैं।

बारह प्रकार के तपों के वर्णन में बाह्यतपों का कथन संक्षेप में किया है परन्तु अन्तरंग तपों का विवेचन विस्तार से किया है और प्रायश्चित्त तप का वर्णन भेद–प्रभेद करके काफी व्यवस्थित रूप से किया है।

इसी प्रकार ध्यान का वर्णन श्रमणाचार विषयक एवं तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों से भिन्न किया है। ग्रंथकार ने ध्यान के दो भेद किये हैं। एक अशुभ ध्यान और दूसरा शुभ ध्यान। अशुभ ध्यान के दो भेद हैं–आर्त और रौद्र। उसमें भी बाह्य और

अध्यात्म के भेद से आर्तध्यान भी दो प्रकार का है। अध्यात्म आर्तध्यान चार प्रकार का है। रौद्र के भी इसी प्रकार भेद किये हैं। शुभ ध्यान दो प्रकार का है–एक धर्मध्यान दूसरा शुक्लध्यान। उनमें भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद से धर्मध्यान भी दो प्रकार का है, और आभ्यन्तर धर्मध्यान दस प्रकार का है। धर्मध्यान का आठवां संस्थान विषय नाम का ध्यान है। उसके भी बारह भेद किये गये।

इस प्रकार ग्रंथकार ने काफी नया प्रभेद दिया है, जो श्रमणाचार विषयक है।

1.3.7 आचारसार–

वीरनन्दिसिद्धान्त चक्रवर्ति प्रणीत आचारसार मुनिधर्म की विशुद्धि हेतु लिखा गया। यह ग्रंथ 12वीं शताब्दी का है। इसके बारह अधिकारों में मुनियों के चारित्र का विस्तार से पूर्ण विवरण प्राप्त है।

प्रथम अधिकार में 51 पद्य हैं। इसमें शिष्य द्वारा निर्गंथ की दीक्षा लेने की प्रार्थना करना। गुरु द्वारा सम्यक् प्रकार परीक्षा कर दीक्षा देना फिर 28 मूलगुणों का स्वरूप समझाना आदि का वर्णन है।

द्वितीय अधिकार में समाचारनीति का कथन है। इसमें एकल विहारी कौन हो सकता है तथा एकल विहारी के दोष, साधु किन्हें वन्दना करें आदि का विवेचन है।

तृतीय अधिकार में दर्शनाचार, चतुर्थ अधिकार में ज्ञानाचार, पञ्चमाधिकार में चारित्राधिकार, षष्ठाधिकार में तपाचार, सप्तम में वीर्याचार, अष्टम में अष्टशुद्धियों का वर्णन, नवम में षडावश्यकों का विवेचन, दशम में ध्यान का वर्णन, एकादश में जीवकर्म प्ररूपणाधिकार और द्वादश अधिकार में शीलगुण का वर्णन किया गया है।

1.3.8 मूलाचार प्रदीप–

आचार्यवर्य सकलकीर्ति द्वारा विरचित 3248 श्लोकों में निबद्ध विशालकाय रचना है। यह 14 वीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण कृति है। मूलाचार के बाद मुनि आचारसंहिता का सांगोपांग वर्णन करने वाली यह कृति अभूतपूर्व है। उक्त दोनों कृतियों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि अनेक प्रकरणों में अन्तर एवं विस्तार है। जैसे प्रथम अधिकार में 264 श्लोकों के माध्यम से मात्र पञ्चमहाव्रतों का वर्णन है और दूसरे अधिकार के 336 श्लोकों में पाँच समितियों की विवेचना है। इसी प्रकार तीसरे अधिकार में पञ्चेन्द्रियों का वर्णन और उसका क्रम बिलकुल भिन्न है। जैसे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्शन इस प्रकार क्रम रखकर चक्षु इन्द्रिय को मुनिचर्या की निर्दोष पालन में सर्वप्रथम बाधक माना है। इसके बाद क्रमशः अन्य इन्द्रियाँ मानी हैं। इस प्रकार 12 अधिकारों में श्रमणचर्या का सरल–सुबोध शैली में विवेचन है। इस ग्रंथ में विषय की प्रस्तुति पूर्वाचार्यों से बहुत कुछ भिन्न है।

1.3.9 अनगार धर्मामृत–

दिगम्बर जैन परम्परा के साधुवर्ग और श्रावकवर्ग में जिस आचारधर्म का पालन किया जाता है उसके लिए पण्डितप्रवर आशाधर का धर्मामृत एक विद्वत्तापूर्ण कृति है। विद्वान् ग्रंथकार ने प्रकृत विषय से सम्बद्ध पूर्ववर्ती साहित्य का गम्भीरता से अध्ययन किया था। उन्होंने अपने ग्रंथ में पूर्वाचार्यों के ग्रंथों का उल्लेख प्रमाणिक एवं सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। ग्रंथकार ने इस ग्रंथ की एक टीका एवं एक पंजिका की रचना की थी।

मूलग्रंथ से अधिक इनकी टीकाओं का महत्त्व है क्योंकि इसमें विशेषरूप से समझाया गया और विषय का खुलासा भी हुआ है। इस ग्रंथ के कुल नौ अध्यायों में 681 श्लोक हैं।

इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में श्रोता का स्वरूप, धर्म का स्वरूप, निश्चय–व्यवहार और अभेद समाधि की चर्चा की है। द्वितीय अध्याय में मिथ्यात्व का लक्षण, 363 मतों का विवेचन, परम आप्त का लक्षण सम्यग्दर्शन आदि का वर्णन है। तृतीय अध्याय ज्ञान की विवेचना में लिखा गया। तृतीय अध्याय में चारों अनुयोगों का कथन है। चौथे अध्याय में चारित्राराधना की प्रेरणा, व्रत का लक्षण, महाव्रत, गुप्ति, समिति, चारित्र आदि की विवेचना है। पञ्चम अध्याय,

षष्ठाध्याय, सप्तम, अष्टम एवं नवम अध्याय में श्रमणचर्या की विस्तृत विवेचना है।

श्रमणाचार विषयक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि श्रमणचर्या के विषय को प्रतिपादन करने वाले प्रमुख ग्रंथ तो उक्त नौ प्राप्त हैं परन्तु छुटपुट प्रकरणों का प्रतिपादन अन्य ग्रंथों में भी मिलता है जैसे समयसार, नियमसार, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि।

1.4 श्रावकाचार विषयक साहित्य—

1.4.1 चारित्र पाहुड़–

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। यहाँ प्रश्न उठता है कि आपने आचारांग का उपसंहार करके मूलाचार की रचना की है, तब उपासकाध्ययन अंग का उपसंहार करके किसी स्वतंत्र उपासकाध्ययन की रचना क्यों नहीं की ? इसका उत्तर यह है कि उनके समय में साधु लोग शिथिलाचारी होने लगे थे और अपने आचार को भूल गये थे। उनको उनका जिनप्रणीत मार्ग बताने के लिए मूलाचार रचा। किन्तु उस समय श्रावक अपने कर्तव्यों को जानते थे एवं तदनुसार आचरण भी करते थे। अतः उनके लिए स्वतंत्र उपासकाध्ययन की रचना करना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ, केवल चारित्र पाहुड़ के भीतर चारित्र के सकल और विकल भेद करके छठे भाग की गाथाओं में विकल चारित्र का वर्णन करना उचित माना।

1.4.2 तत्त्वार्थसूत्र–

श्री उमास्वामी द्वारा संस्कृत में निबद्ध तत्त्वार्थसूत्र में श्रावकधर्म का वर्णन सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। सूत्रकार ने सातवें अध्याय में व्रत का स्वरूप भेद, एवं उनकी भावनायें और अतिचारों का वर्णन विस्तार से किया। इसका आधार क्या है ? विचारणीय है। परन्तु आपने भी कुन्दकुन्द और स्वामी कार्तिकेय के अष्टमूलगुणों का वर्णन नहीं किया। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक अष्टमूलगुणों की आवश्यकता महसूस नहीं हुई।

1.4.3 रत्नकरण्ड श्रावकाचार—

तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् श्रावकाचार का स्वतंत्र ग्रंथ लिखने वाले दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र हैं। रत्नकरण्ड की विशेषता है कि उसके समकक्ष अभी तक कोई भी श्रावकाचार नहीं लिखा गया। श्रावकों के आठ मूलगुणों का वर्णन सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में प्राप्त होता है।

समन्तभद्राचार्य तार्किक तो थे ही साथ में परीक्षाप्रधानी भी थे, अतः उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र और आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य का अवगाहन कर अपनी परीक्षा प्रधान दृष्टि से गुणव्रत–शिक्षाव्रतों एवं अतिचारों पर विचार कर अपनी तार्किक दृष्टि से यथोचित परिवर्तन किया। अर्हत् पूजन को वैयावृत्य के अन्तर्गत वर्णन करना रत्नकरण्ड की सबसे बड़ी विशेषता है। इससे पूर्व पूजन को श्रावकव्रतों में किसी ने नहीं कहा। सम्यक्त्व के आठ अंगों में, पाँच अणुव्रतों में, पाँच पापों में और चारों दानों के देने वालों में प्रसिद्धि को प्राप्त करने वालों के नामों का उल्लेख भी रत्नकरण्ड की एक खास विशेषता है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकधर्म को पर्याप्त पल्लवित और विकसित किया है और उसे एक व्यवस्थित रूप देकर उत्तरवर्ती आचार्यों का मार्ग प्रशस्त किया है।

1.4.4 कार्तिकेयानुप्रेक्षा—

यह ग्रंथ दूसरी–तीसरी शताब्दी के स्वामी कार्तिकेय ने श्रावक के आचार पर लिखा है। इस ग्रंथ की अनेक विशेषतायें हैं। आपने 11वीं प्रतिमा के भेदों का उल्लेख नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक इस प्रतिमा के भेद नहीं हुए थे।

1.4.5 रत्नमाला—

आचार्य शिवकोटि द्वारा रचित श्रावकधर्म का वर्णन करने वाला लघु ग्रंथ है। इस ग्रंथ में श्रावकोचित क्रियाओं का वर्णन है। इसका समय दूसरी शताब्दी मान्य है।

1.4.6 पद्मचरित—

आचार्य रविषेण ने वि. सं. 734 में पद्मपुराण की रचना की है। इसके 14वें पर्व में श्रावकधर्म का वर्णन पर्याप्त किया गया है।

1.4.7 वरांगचरित—

आचार्य जयसिंह नन्दि ने वरांगचरित महाकाव्य की रचना की है। उसके 15वें सर्ग में श्रावकधर्म का वर्णन कर उसके धारण करने से क्या फल मिलता है। इसका भी वर्णन किया।

1.4.8 हरिवंशपुराण—

आचार्य जिनसेन प्रथम ने हरिवंशपुराण 539 सर्ग में श्रावकधर्म का वर्णन किया। आपने तत्त्वार्थसूत्र और पुरुषार्थसिद्धयुपाय को आदर्श मानकर वर्णन किया है।

1.4.9 महापुराण—

आचार्य जिनसेन ने अपने प्रसिद्ध महापुराण ग्रंथ के 38, 39, 40वें पर्व में श्रावकधर्म का वर्णन किया है। इसमें श्रावक द्वारा करणीय विभिन्न प्रकार की पूजन–विधानों का भी वर्णन है।

इस प्रकार 9 ग्रंथों में श्रावकाचार का वर्णन है परन्तु अन्य विषयों का भी वर्णन है अतः उनका विशेष परिचय दिया गया। इनके अतिरिक्त जिन ग्रंथों में पूरा वर्णन श्रावकाचार से सम्बन्धित है, उनका उल्लेख निम्न प्रकार है—

पुरुषार्थसिद्धयुपाय (आ. अमृतचन्द्र वि. सं. 1055)
उपासकाध्ययन (आ. सोमदेव वि. सं. 1016)
अमितगति श्रावकाचार (आ. अमितगति वि. सं. 1070)।
चारित्रसारगत–श्रावकाचार (श्री चामुण्डराय)।
वसुनन्दि श्रावकाचार (आ. वसुनन्दि वि. सं. 1100)।
सावयधम्मद्रोहा (आ. देवसेन वि. सं. 10वीं)।
सागारधर्मामृत (पं. आशाधर वि. सं. 1300)।
धर्मसंग्रह श्रावकाचार (पं. मेधावी वि. सं. 1541)।
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. सकलकीर्ति वि. सं. 1443)।
गुणभूषण श्रावकाचार (आ. गुणभूषण)।
धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार (श्री ब्रह्मनेमिदत्त वि. सं. 1600)।
लाटी संहिता (श्री राजमल्ल वि. सं. 1632)।
उमास्वामी श्रावकाचार (आ. श्री उमास्वामी)।
पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद)।
व्रतसार श्रावकाचार (अज्ञात)।
व्रतोद्योतन श्रावकाचार (श्री अभ्रदेव वि. सं. 1500)।
श्रावकाचार सारोद्धार (श्री पद्मनन्दि भट्टारक)।
भव्यधर्मोपदेश उपासकाध्ययन (आ. श्री जिनदेव)।

पञ्चविंशतिकागत श्रावकाचार (आ. श्री पद्मनन्दि) (द्वितीय पद्मनन्दि)
प्राकृत भावसंग्रहगत श्रावकाचार (आ. श्री देवसेन वि. सं. 1012)।
संस्कृत भावसंग्रहगत श्रावकाचार (पं. वामदेव वि. सं. 1436)।
रयणसार (आ. श्री कुन्दकुन्द)।
पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार (पं. गोविन्द वि. सं. 1600)।
कुन्दकुन्द श्रावकाचार (आ. श्री कुन्दकुन्द)।
श्रावकाचार (श्री पद्मकवि)।
क्रियाकोश (श्री किशन सिंह)।
क्रियाकोष (पं. दौलतराम जी)।
श्रावकाचार (पं. टोडरमल जी)।
धर्मानन्द श्रावकाचार (आ. श्री महावीर कीर्ति)।
सुधर्मश्रावकाचार सुधर्मश्रावकाचार (आ. श्री सुधर्मसागर)
सम्यक्चारित्र चिन्तामणि (पं. पन्नालाल)।

1.5 उपादेयता—

चरणानुयोग के साहित्य की विवेचना से स्पष्ट है कि इस अनुयोग के साहित्य का विपुल भण्डार है। यही कारण है कि चरणानुयोग में श्रमणाचार विषयक विशाल नौ ग्रंथ उपलब्ध हैं और 40 ग्रंथ श्रावकाचार विषयक है। चरणानुयोग के ग्रंथों पर शोधकार्य एवं संगोष्ठी निरन्तर होना चाहिए क्योंकि सभी धर्मों में आचरण का कथन किया गया है। परन्तु जैनधर्म में वर्णित आचरण अन्य धर्मों से भिन्न है। जैनधर्म बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा आन्तरिक परिणामों की प्रधानता मानता है। अहिंसा और वीतरागता की नींव पर ही जैन साधकों का आचरण निर्दिष्ट है। अणुव्रती और महाव्रती साधक चरणानुयोग के निर्देशों के अनुसार शुद्ध आचरण करते हैं। जिस शुद्ध आचरण का पालन अणुव्रती और महाव्रती करते हैं उनका संकलन चरणानुयोग में है। चरणानुयोग में दो प्रकार का उपदेश है–व्यवहार एवं निश्चय सहित व्यवहार। इस अनुयोग के उपदेश की विशिष्टता न समझने पर भ्रम का अवकाश रहता है। मन्दकषाय में प्रवृत्ति के उपदेश को सुनकर ऐसा न विचारना कि अन्ततः हुआ तो कषाय का ही उपदेश न। वहाँ उद्देश्य तो तीव्र कषाय छुड़ाने का है। व्यवहार में इस प्रकार ढील देने पर भी चरणानुयोग में श्रद्धान के आधार पर कोई समझौता नहीं किया जाता है। श्रद्धान तो वीतराग मार्ग का ही होना चाहिए। मिथ्यामतियों के मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश इस अनुयोग में नहीं दिया जाता है।

गृहस्थों एवं मुनियों के आचरण का आरम्भ, उत्तरोत्तर विशुद्धि एवं उसकी रक्षा आदि अपने अपने सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान पर निर्भर है। उनका सही सही आकलन इस अनुयोग की विशिष्ट सम्पदा है। चरणानुयोग की शैली लगभग नीतिशास्त्रों की तरह है। इस अनुयोग की भाषा कुछ विशिष्ट शैली की है। करो, करना चाहिए, यह योग्य है, ऐसा मत करो, यह अनुचित है आदि रूप में आदेशात्मक भाषा रहती है। पात्र की शक्ति को जानकर उसके योग्य उपदेश देना इस अनुयोग की विशिष्टता है। इसलिए कभी अणुव्रत का उपदेश और कभी दो प्रतिमा का उपदेश और कभी महाव्रत का उपदेश दिया जाता है। जैसे माँसभक्षी भील को काक माँस छोड़ने का, ग्वाले को नमस्कार मंत्र जपने का उपदेश देना आदि पात्र को ध्यान में रखकर ही दिया गया उपदेश है। यथोक्त रीति से चरणानुयोग को समझना ही कल्याणप्रद है।

धर्म को साधने की अपेक्षा श्रद्धा रखने वालों को सन्मार्ग में लगाने का कार्य चरणानुयोग करता है। सदाचरण, व्रत, तप आदि द्वारा जीव को धर्म की ओर उन्मुख करना इस अनुयोग का कार्य है।

चारित्र के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। चारित्र पालने से ही कर्मों का बन्ध कटता है। धर्म आत्मा का परिणाम है, उसे देखा नहीं जा सकता, उसके व्यवहारिक रूपों का परिचय हमें प्राप्त हो सकता है और वह चरणानुयोग से ही सम्भव है।

कर्मबन्धन से मुक्ति के लिए, व्रत, नियम, संयम, तप आदि के द्वारा आत्मशुद्धि का मार्ग चरणानुयोग में है। व्रत, नियम से ध्यान तक इस अनुयोग की प्रक्रिया है। धर्म का साक्षात् रूप लोक में इसी अनुयोग के आश्रित चलता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा गया है कि जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतरागभाव के अनुसार भासित होते हैं। एक देश व सर्व देश वीतरागता होने पर भी ऐसी श्रावकदशा–मुनिदशा होती है क्योंकि इनके निमित्त नैमित्तिकपना पाया जाता है। चरणानुयोग के अभ्यास बिना कोई स्वयमेव वीतराग आचरण को जान ले यह कठिन है। गुरु–समीप संघ में रहकर पठन न करें तो भी श्रवण तो करना ही पड़ेगा। स्वयमेव चारित्र का ज्ञान सबको नहीं होता। गृहस्थ एवं मुनियों का जो स्वरूप इस अनुयोग के शास्त्रों में वर्णित है, उसे जाने बिना सच्चा गृहस्थ अथवा सच्चा साधु बनना कठिन है। जब कोई तत्त्वज्ञान की पिपासा से चरणानुयोग शास्त्रों का मनोयोगपूर्वक अभ्यास करता है तब उसे एक देश या सकल चारित्र का ज्ञान होता है।

आचरण में दोष अज्ञानवश और प्रमादवश भी सम्भव है। अज्ञानवश दोष उत्पन्न न हो इस हेतु चरणानुयोग शास्त्रों का अभ्यास कार्यकारी है। प्रमादवश दोष उत्पन्न हो तो भी शास्त्रों में वर्णित नियमानुसार दोष निवारण करना चाहिए।

पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं कि बाह्यक्रियाओं में शुद्धि के बिना परिणाम शुद्ध न होगा, अतः उन बाह्यक्रिया नियमों को जानने हेतु चरणानुयोग का अभ्यास करना चाहिए। इन बाह्यक्रियाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

चरणानुयोग की कृतियों का उद्देश्य सात्विक एवं शक्तिशाली समाज का निर्माण है। ये ग्रंथ धार्मिक दृष्टि से तो उपयोगी हैं ही और सामाजिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि चरणानुयोगों के ग्रंथों के अध्ययन से व्यक्ति व्रत धारण करता है और व्रत व्यक्ति को अपनी परिधि से बाहर विचलित नहीं होने देते।

चरणानुयोग की प्रत्येक शिक्षा अहिंसा के बलबूते पर खड़ी है। और अहिंसा केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्तर तक ही सीमित नहीं हैं अपितु ये तो राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पालने एवं आचरण के योग्य है। यही कारण है कि इसे 190 देशों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया।

चरणानुयोग के ग्रंथों का लक्ष्य व्यक्ति के आत्मकल्याण तक ही सीमित नहीं है अपितु प्राणीमात्र के कल्याण की शिक्षा देना है।

1.6 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-द्वादशांग में सबसे प्रथम अंग कौन-सा है ?

(क) प्रथमानुयोग ☐
(ख) आचारांग ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 2-"प्रवचनसार" ग्रंथ के अन्तिम चारित्र अधिकार में 75 गाथाएँ किसके अनुसार है ?

(क) अमृतचन्द्राचार्य ☐
(ख) जयसेनाचार्य ☐
(ग) आचार्य वट्टेकर ☐

प्रश्न 3-"रयणसार" ग्रंथ के रचियता कौन हैं ?

(क) आ. उमास्वामी ☐
(ख) आ. कुन्दकुन्ददेव ☐
(ग) आ. अमृतचन्द्रसूरि ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-अष्टपाहुड कौन-कौन से हैं ? नाम लिखिए।

प्रश्न 2-रत्नकरण्ड श्रावकाचार के रचियता कौन हैं ? इस ग्रंथ की क्या विशेषता है ?

प्रश्न 3-"सुत्तपाहुड" ग्रंथ में क्या बताया गया है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-चरणानुयोग के ग्रंथों के अन्तर्गत क्या बताया गया है ?

पाठ-2–संस्कार, सादगी और संयमाचरण

2.1 आत्मा पर सुसंस्कार के लिये, उसे पूज्य व मूल्यवान बनाने के लिये ही मन्दिर आदि बने हैं। वहाँ वीतराग को इसी भावना से नमस्कार करते हैं कि उनके जैसे गुण हमारी आत्मा में भी प्रकट हों। आत्मा के संस्कार ही मानव के लिये उपादेय हैं। सुख चाहते हो तो धन सम्पत्ति से पूर्व अपनी आत्मा की रक्षा करो।

मन्दिर निर्माण कराया जाता है धर्मध्यान के लिये। वहाँ सादगी न होकर यदि आडम्बर और वैभव है, तो उसके कारण वह आर्तरौद्र का कारण बन जाता है। मन्दिर, शास्त्र ये सब साधन हैं। पर आत्मा की ओर ध्यान न देकर प्रदक्षिणा में ही समय लगा दें, तो जहाँ हैं वहीं रह जायेंगे। मन्दिर जाने का अर्थ है–कुसंस्कारों को छोड़ना। वैभाविक संस्कार स्थायी नहीं होते।

2.2 मानव जीवन में संस्कारों का बहुत महत्त्व है–

संस्कारित वस्तु ही मूल्यवान होती है। सोने के एक टुकड़े पर जब सुनार संस्कार करता है, तो उसकी कीमत उस सोने के टुकड़े से बढ़ जाती है। मानव जीवन में बचपन से ही सुसंस्कार डालने चाहिये। पशु–पक्षियों में भी जब संस्कार डालते हैं तो वे सरकस में अनेक करतब दिखाते हैं, आज्ञा प्राप्त होते ही तुरन्त उसका पालन करते हैं। बालक को जैसे–जैसे सुसंस्कार व शिक्षा दी जाती है वह गहरा गम्भीर होता जाता है।

एक राजा था। उसके राज्य में एक शिकारी को जंगल में अत्यन्त सुन्दर समान–वय के तोते के दो बच्चे मिले। शिकारी ने उन्हें बेचना चाहा। वह राजमहल में आया। तोते बहुत सुन्दर थे, राजा ने उन्हें खरीद लिया। दोनों के लिये दो सोने के पिंजरे बनवाये गये। एक पिंजरे को अपने अन्त:पुर में टाँग दिया और एक पिंजरे को अपने अस्तबल में। अस्तबल में घोड़े की मालिश करने वाला घोड़े को गालियां देता था। तू गधा है, चल पीछे हट, इत्यादि। अन्त:पुर में सब बहुत आदर सत्कार व तमीज के साथ बातें करते थे, आने वाले का स्वागत करते थे–आइए, पधारिये, आपका स्वागत है, आदि। दोनों तोते जैसी बातें सुनते थे, वैसी ही सीख गए। एक दिन राजा उन तोतों का निरीक्षण करने गये। अस्तबल के तोते ने राजा के आते ही कहा–तू गधा है, चल पीछे हट ! राजा को बुरा लगा। इतनी सुविधायें उत्तम खान–पान उपलब्ध कराने पर भी यह मुझे गधा कहता है। फिर वह अन्त:पुर वाले तोते के पास गए। उसने राजा को देखते ही कहा–आइये ! पधारिये। आपका स्वागत है। राजा खुश हो गया। वह समझ गया कि यह संगति व संस्कार का अन्तर है। तभी तो एक कवि ने कहा है–

एक ही माता, एक ही पिता, एक ही तरुवर बसे।
अरे अरे राजा, संगत इसकी डसे।।

एक ही पेड़ पर, एक ही माँ से उत्पन्न होने के बाद अलग–अलग संस्कार डाले गए, इसी के परिणाम स्वरूप एक पर सुसंस्कार हो गये और दूसरे पर कुसंस्कार।

लोहे पर संस्कार करते हैं उसका ताला–चाबी बनाते हैं, तो उसकी कीमत बढ़ जाती है। इससे भी अच्छी वस्तुयें बनाते हैं तो कीमत और भी बढ़ जाती है। जैसे–जैसे अच्छे संस्कार करते जाते हैं, वस्तु की कीमत बढ़ती जाती है, वह मूल्यवान हो जाती है, पूज्य हो जाती है। आत्मा पर सुसंस्कार करने के लिये ही मन्दिर आदि बने हैं। घर में बैठकर इतने अच्छे परिणाम व संस्कार नहीं हो सकते। घर में बैठकर तो घर–गृहस्थी की बातें ही ध्यान में आती रहेंगी, बच्चा रोयेगा तो ध्यान विचलित हो जाएगा। वहां 'आत्मलीन' नहीं हो सकते। मन्दिर में वीतराग भगवान के सामने भगवान के गुण, उनकी महिमा आदि अच्छी बातें स्वयमेव हमारी आँखों के सामने, मस्तिष्क में घूमने लगती हैं। मन्दिर एक पवित्र स्थान है। वहां नित्य दस पाँच मिनट बैठकर भगवान का ध्यान करते हैं, मन को स्वच्छ व निर्मल बनाते हैं, उनके गुणों को अपनी आत्मा के साथ जोड़ते हैं, तो मन में पवित्रता आने लगती है। 'वन्दे तद्गुण लब्धये'–हम उन्हें नमस्कार भी इसी भावना से करते हैं कि उनके जैसे गुण हमारी आत्मा में भी प्रकट हों।

लौकिक जगत में कौन पिता ऐसा है जो अपने बालक को शूरवीर न देखना चाहता हो। कौन माँ होगी जो बालक को सुसंस्कारित नहीं देखना चाहेगी ? प्रत्येक माता अपने बच्चों को 'आदर्श' देखना चाहती है पर बच्चों को सुसंस्कारित करने के लिए उसके पास समय नहीं होता। प्रत्येक महापुरुष पर माता–पिता के द्वारा डाले गये संस्कार ही प्रतिफलित हुए हैं। महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर पर माता–पिता के सुसंस्कार ही तो थे, वे कोई मोंटेसरी स्कूलों में नहीं गए थे। आजकल मांटेसरी स्कूलों में, छोटे–छोटे बच्चों को, मातायें अपने कर्त्तव्यों व झंझटों से बचने के लिए भेज देती हैं। वहाँ उन पर इतना ध्यान नहीं दिया जा सकता जितना माँ दे सकती है। जो संस्कार मां डाल सकती है, वे कोई दूसरा नहीं डाल सकता। यदि माँ स्वयं सुशिक्षित होगी, सुसंस्कृत होगी व पवित्र आचार–विचार वाली होगी तो वह बच्चों में शाश्वत संस्कार डालेगी। कच्चे घड़े को कुम्हार जैसा आकार बनाना चाहता है, दे सकता है, पर जब घड़े का अग्नि के साथ संयोग हो जाता है, उसके बाद उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, फिर वह टूट सकता है पर परिवर्तन नहीं हो सकता; क्योंकि वह कठोर हो जाता है। बच्चा भी कच्चे घड़े के समान कोमल होता है उसमें संस्कार डालना माता का कार्य है।

मनुष्य धन–सम्पत्ति को कोई संकट या आपत्ति आने पर ही छोड़ता है, अन्यथा नहीं। धन–सम्पत्ति के पीछे मानव धर्म को भूल जाता है। महावीर ने अपरिग्रहवाद को इसलिये महत्त्व दिया था कि परिग्रह से मानव धर्म को भूल जाता है। मनु ने मनुस्मृति में कहा है कि यदि सुख चाहते हो तो धन–सम्पत्ति से पूर्व अपनी आत्मा की रक्षा करो। यही तो महावीर ने कहा था। उनके सिद्धान्तों की आधारशिला है–'आत्मरक्षा की भावना'। आत्मा की रक्षा नहीं करोगे तो किसकी करोगे? कौन सी चीज शाश्वत है, जिसकी रक्षा की जा सकती है ? शरीर अशाश्वत है, इसकी रक्षा करने पर भी यह छूट जायेगा। इससे काम करते हैं इसलिये इसके लिये भोजनादि जुटाना है पर इसी में रमकर क्या आत्मा को भूल जायें ? जो अशाश्वत है उसके पीछे रात दिन लगे हैं, जिससे मृत्यु के बाद सम्बन्ध छूट जायेगा, जो केवल संयोग है उनके पीछे लग रहे हैं, अध्रुव के पीछे लग रहे हैं और ध्रुव को छोड़ रखा है, शाश्वत को भूल रहे हैं।

इसलिये बच्चों में प्रारम्भ से ही सुसंस्कार डालना चाहिए, उन्हें प्रातःकाल अपने साथ मन्दिर लेकर जाइये, उन्हें णमोकार मंत्र सिखाइये, महावीर का जीवन चरित्र बताइये, उनके प्रमुख व प्रेरणादायक जीवन–प्रसंग समझाइये। बच्चे के जन्मते ही कीमती कपड़े पहनाते हैं, उसका शृंगार करते हैं, पैन्ट पहनाते हैं, वह नहीं चाहता तो भी जबर्दस्ती पहनाते हैं, पर आत्मा परमात्मा की बात करने में थोड़ी सी भी जबर्दस्ती नहीं करते। शृंगार सिखाने के लिये तो माताओं के पास समय रहता है, पर सुसंस्कार डालने के लिये उनके पास समय नहीं होता। वास्तव में हम चमड़े का शृंगार करते रहने से चमार हो गये हैं। जैन नहीं रहे। जैन तो तब होंगे, जब बच्चे–बच्चे में आत्मा के प्रति रुचि, धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करेंगे, उनमें सुसंस्कार डालेंगे। आचार्य कुन्दकुन्द की माता पालने से ही उनमें सुसंस्कार भरती रही।

जब हम णमोकार मंत्र बोलते हैं तो टेपरिकार्डर उसे पकड़ लेता है और बार–बार उसे सुनाता है। यदि बच्चे को भी णमोकार मंत्र सिखाया जाये तो वह भी तुरन्त उसे पकड़ लेगा, सीख लेगा, क्योंकि उस समय उसकी ग्राह्य शक्ति व स्मरण शक्ति बहुत अच्छी होती है वह बार–बार आपको णमोकार मंत्र सुनायेगा, हजारों लोगों को सुनायेगा। यदि शृंगारिक बातें उसे सिखाते हैं तो वह वैसी ही बातें सुनायेगा। अचेतन टेपरिकार्डर भी णमोकार मंत्र पकड़ लेता है तो बालक तो चेतन है, उसे णमोकार मंत्र सुनाये तो वह क्यों नहीं याद कर सकता ? उस पर क्यों नहीं अच्छे संस्कार पड़ सकते ?

ब्रिटेन में दो–तीन साल से यह चर्चा व प्रयोग चल रहे हैं कि कुएँ के पानी को मंत्रोच्चार कर उसे रोगी को पिला देने से उसका रोग दूर हो सकता है। अर्थात् जल मंत्रों को पकड़ लेता है। हम जब अभिषेक करते हैं तब णमोकारादि मंत्रोच्चारित करते हैं, उसके गंधोदक को सिर पर लगाते हैं, वह इसलिये कि जल ने उन मन्त्रों को पकड़ लिया, इससे वह अत्यन्त पवित्र हो गया है, आधुनिक मानव मनोवैज्ञानिक तरीकों से प्रभावित होता है और तब उसके भाव बदलते हैं। सिद्धचक्र का पाठ पढ़ते हैं। उसमें पढ़ते हैं कि मैनासुन्दरी ने गंधोदक के प्रभाव से अपने पति व उनके साथियों को कुष्ठ रोग से मुक्त कराया, इनसे भी विश्वास जमता है।

रत्नाकर कवि की एक कविता का भावार्थ है कि इस शरीर के लिये जीवनभर, जितना भी किया वह सब हेय है, ये सब तो पशु–पक्षी भी करते हैं। बिना किसी स्कूली शिक्षा के वे खाना–पीना करते रहते हैं। मानव बुद्धिमान है, उसे अपने लिये हेय–उपादेय को जानना चाहिये। आत्मा के संस्कार ही मानव के लिये उपादेय हैं।

सम्यग्दर्शन ज्ञान–चारित्र, ये त्रिरत्न आत्मा में मौजूद हैं, ये बाहर से नहीं लाने पड़ते। परन्तु धार्मिक संस्कारों के द्वारा, तत्त्व–ज्ञान को समझने पर जब अपनी आत्मा पर परिपूर्ण विश्वास करें, स्वयं का स्वयं में ही विश्वास प्राप्त करें, तभी सम्यग्दर्शन प्रकट होगा। मन्दिर शास्त्र ये सब साधन हैं। मील का पत्थर दूरी ज्ञात करने का साधन है, यदि हम दो घण्टे तक उस पत्थर के चक्कर लगाते रहेंगे तो जहाँ थे वहीं रह जायेंगे, किंचित मात्र भी दूरी तय नहीं कर सकेंगे, रास्ता पार नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार केवल मन्दिर की प्रदक्षिणा में ही समय लगा दें, आत्मा की ओर ध्यान न दें, तो जहाँ हैं वहीं रह जायेंगे,, कुछ भी कल्याण नहीं होगा। रास्ता तो तय करने से पूरा होगा, चलने से पूरा होगा।

हम अपने जीवन में बीस वर्ष से निरन्तर मन्दिर जा रहे हैं। तो परिणामों में कितनी निर्मलता आई, जीवन में कितनी सादगी आई। जब तक इसकी जांच–पड़ताल नहीं करेंगे तब तक सारा क्रियाकांड करने पर भी जहा थे वहीं रह जायेंगे। नित्य प्रति मन्दिर जाने पर जीवन में कुछ भी परिवर्तन नहीं आये, परिग्रह जरा सा भी कम न हो, कषाय नहीं छोड़ी, तो क्या लाभ हुआ ? मन्दिर जाने का मतलब है इन सब कुसंस्कारों को छोड़ा जाये। जब मन्दिर जाने वालों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता, तभी तो युवावर्ग को मन्दिर में विश्वास नहीं होता। यदि एक व्यक्ति में परिवर्तन आये तो उसका प्रभाव युवावर्ग पर पड़ेगा, ऐसे प्रभाव से वह भी उस मार्ग पर चलने लगेगा।

एक ठाकुर थे। उन्होंने किसी से कुछ रुपये उधार ले रखे थे। जब भी वह व्यक्ति अपने रुपये मांगने आता ठाकुर कोई बहाना बना लेते, दो–तीन दिन बाद देने का वायदा करने लगते। एक दिन वह व्यक्ति आने वाला था। ठाकुर ने अपने पाँच–छह वर्षीय बालक को दरवाजे पर बैठने को कहा और समझाया कि जब वह व्यक्ति मुझे पूछने आये तो तुम कह देना कि पिताजी घर में नहीं है। थोड़ी देर बाद वह व्यक्ति आया, बालक ने कह दिया पिताजी घर में नहीं हैं। पर बच्चे पर इस प्रकार झूठ बोलने का बहुत गलत प्रभाव पड़ा। उसने एक दिन अपने पिताजी के कोट की जेब से चार रुपये निकाले और खर्च कर दिये। ठाकुर ने जब कोट की जेब से चार रुपये कम पाये तो घर में सबसे पूछताछ की, सबने इन्कार कर दिया। उस बालक ने भी इन्कार कर दिया। ठाकुर के बार–बार पूछने व सत्य बोलने पर पिटाई न करने के आश्वासन पर बालक ने कहा–हाँ, मैंने ही वे रुपये लिये थे। तब ठाकुर ने पूछा तुमने झूठ क्यों बोला ? बालक ने कहा– पिताजी, आपने भी तो उस दिन झूठ बोला था। तब उस ठाकुर को समझ आया कि वह बच्चा मेरे कारण झूठ बोलना सीख गया। हम बच्चे पर जैसे संस्कार डालेंगे वैसे ही तो वह पनपेंगे।

महात्मा गांधी ने कुछ ईसाई बच्चों की संगति से अपने बचपन में एक बार अभक्ष्य (बकरे के मांस का भक्षण) कर लिया। रात में सपने में उन्हें बार–बार उस बकरे की आवाज सुनाई दी, लगा कि वह पेट में से बोल रहा है। सोचा, अरे उच्च कुल में जन्म लेकर वैष्णव धर्मावलम्बी होकर यह क्या कर डाला मैंने ? प्रातः पिताजी के कमरे में जाकर उन्हें सब वृत्तान्त कहा। पिता सारी बात सुनकर रोने लगे, उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। गांधीजी ने कहा–आप दुःखी हो रहे हैं ? मैंने आपको कहकर क्या गलत किया है ? पिता ने कहा, नहीं बेटे ! यह आंसू तो खुशी के हैं कि तुमने सत्य बोला। तुम अवश्य महान् बनोगे। वास्तव में सत्य बहुत शक्तिशाली है। सत्य बोलने वाला ही महान् बन सकता है।

वैभाविक संस्कार, कुसंस्कार स्थायी नहीं होते, वे छूट सकते हैं, छूट जाते हैं, पर तभी जब अन्तरंग में उनका अहसास होता है, तब तक कभी कभी बहुत अनिष्ट हो चुकता है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये खनपान आदि का विवेक रखें। मन्दिरों के माध्यम से माता–पिता बच्चों में खानपान आदि का विवेक उत्पन्न करें। तभी आपका यह मन्दिर बनाना सार्थक है, चावल चढ़ाना सार्थक है, अन्यथा कोई भी क्रियाकांड करें, उससे कोई लाभ नहीं।

2.3 जल छानकर पीजिये—

जैनधर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक आधार लिये हुये हैं। जैनधर्म में कहा–पानी छानकर पीओ। सब इस सिद्धान्त का मजाक बनाने लगे। पर दो वर्ष पूर्व संयुक्तराष्ट्र की रिपोर्ट में लिखा था कि अनछना पानी पीने से उत्पन्न रोगों के कारण सम्पूर्ण विश्व में प्रतिवर्ष पचास लाख मानव रोगी हो जाते हैं या मर जाते हैं।

भागवत में भी लिखा है कि पानी छानकर पीओ और देखकर चलो। देखकर चलने में स्वयं की सुरक्षा होगी, किसी गड्ढे आदि में नहीं गिर सकोगे और दूसरे छोटे–छोटे जीव जो जमीन पर चलते रहते हैं, उनकी भी सुरक्षा होगी। पानी स्वयं में पवित्र है, पर उसमें अन्य तत्त्व मिल गये, तो वह हमें रोगी बनाते हैं, उन्हें दूर करने के लिये पानी छानते हैं। हमें धर्म की दृष्टि से भी और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी खान–पान को शुद्ध बनाये रखना चाहिये।

2.4 रात्रि भोजन त्याग—

महात्मा गाँधी ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि–"जब से मैंने रात्रि भोजन त्याग दिया, मैं अनेक परेशानियों से बच गया हूँ। आखिर पेट को भी विश्रांति चाहिये। इन्जन गर्म हो जाता है तो उसे ठण्डा करने के लिए कुछ देर विश्राम दिया जाता है। बैल थक जाते हैं, उन्हें भी विश्राम दिया जाता है, तो पेट को भी कुछ देर आराम की जरूरत है, सुबह उठने के बाद रात्रि में सोने तक खाते ही रहोगे तो कैसे स्वस्थ रहोगे ? सत्य तो यह है कि हम खाना खाने की विधि भी नहीं जानते। दिन में दो या तीन बार भक्ष्या–भक्ष्य का विवेक रखते हुए जो कुछ भी खायें चबा–चबाकर खायें। अस्पताल में आज जो रोगियों की संख्या बढ़ रही है, उसका प्रमुख कारण असंयम है। जीवन में संयम बिल्कुल नहीं है। व्यर्थ में ही राष्ट्र की सम्पत्ति व शक्ति नष्ट हो रही है। आज जरा से रोग हो जाने पर इन्जैक्शन ले लेते हैं। कोई घरेलू उपचार नहीं करते, यह नहीं सोचते कि वह इन्जैक्शन और दो नई बीमारियों को पैदा करेगा। आज कैंसर, पोलियो आदि घातक बीमारियाँ फैल रही हैं। जिस माँ के बदहजमी रहती है उससे उत्पन्न बालक के पोलियो हो जाता है, और भी अन्य कारण हैं।

धर्म में अष्टमी–चतुर्दशी को एकासन, रस–परित्याग कर भोजन ग्रहण करना बताया है, ये व्यर्थ नहीं हैं। इनसे अनेक परेशानियों से बचेंगे, स्वास्थ्य लाभ होगा। आज खूब अस्पताल खुल रहे हैं, उनमें शैय्यायें बढ़ाई जा रही हैं, उनको कम करने का उपाय नहीं करते, उन्हें बढ़ाने का ही प्रयास कर रहे हैं।

2.5 शारीरिक व्यायाम, संयमित भोजन, नियमित जीवन ही उपयोगी है—

भक्ष्य–अभक्ष्य का संयम, ध्यान रखना अत्यावश्यक है। बच्चों को भी इस बात को सिखाना व पालन कराना बहुत आवश्यक है, आज बच्चों को बिस्किट खिलाते हैं, वह सर्वथा अच्छे नहीं है। कभी आपातकाल में, मुश्किल के समय इसका उपयाग करें तो ठीक है पर हमेशा इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

सामाजिक जीवन आदर्श बनाने के लिए मानसिक स्वास्थ्य ठीक रखना आवश्यक है, ये दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं। मानसिक स्वास्थ्य के लिये मन्दिर, पूजा–पाठ, ध्यान, योग, जप–तप, त्याग महत्त्वपूर्ण हैं।

2.6 समस्त प्राणी जीवन में शांति के साथ मृत्यु के समय भी शांति चाहते हैं—

भारतीय संस्कृति में जन्म को ही नहीं, मरण को भी मांगलिक बनाया है। इसी का नाम सल्लेखना है; भागवत् में इसी को प्रायोपवेषण कहा है। जब मृत्यु निश्चित है तो उससे घबराना क्यों ? डाक्टर ने जबाब दे दिया, इंजेक्शन भी कारगर नहीं हो रहा, तब तो भगवान का नाम लेना चाहिये। पशु व मनुष्य में यही तो फर्क है कि –पशु का विवेक केवल खाने–पीने तक सीमित है पर मनुष्य इससे ऊपर उठा हुआ है। उसमें आत्मा–परमात्मा का चिन्तन करने की शक्ति है, इसलिये मनुष्य अपने मरण को मांगलिक बना सकता है।

2.7 हमारा कर्तव्य और पुरुषार्थ—

दिव्य–दर्शन में आत्म–दर्शन है। समस्त आत्मा का धर्म एक है, चिन्तन उदार, विशाल व वीतराग दृष्टिवाला तभी हो सकता है, जब अनेकान्त दृष्टि से चिन्तन करेंगे, एकान्त से नहीं। एकान्त डुबो देता है, मनुष्यत्व को समाप्त कर देता है, चिन्तन को कुण्ठित कर देता है।

इस विश्व में मानव जन्म लेता है, जन्म के पश्चात् वह अपने संस्कारों के अनुसार, परिवार, वातावरण, परिस्थिति, देश, राष्ट्र आदि में से अच्छाइयों व बुराइयों को अपनी दृष्टि से अच्छा समझ कर सहज ही ग्रहण कर लेता है, अपना लेता है। अच्छाई–बुराई का निर्णय, तत्त्वज्ञान का निर्णय करना इतना आसान नहीं है जितना उनके बारे में पढ़ना, चर्चा करना, उपदेश देना है। आप किसको सर्वथा अच्छा व किसको सर्वथा बुरा समझेंगे ? तटस्थ दृष्टि वाले महापुरुषों ने, महान् आत्माओं ने, तीर्थंकरों ने किसी भी वस्तु तत्त्व को सर्वथा एकान्तरूप से अच्छा या बुरा नहीं माना।

जैसे अग्नि, यह स्वयं में न अच्छी है न बुरी है। जब यह पंच पकवान बनावे, धातु आदि गलाने में सहायक हो, प्रकाश फैलाये, तब हम इसे अच्छी समझते हैं और जब यह शरीर को, मकान को जलाये, भस्म करे, तब बुरी समझते हैं तो क्या अग्नि को एकान्त रूप से अच्छी या बुरी कह सकते हैं ? अग्नि पवित्र है, शुद्ध है, भेदभाव रहित है। यह पवित्र है, इसीलिये विवाह, धार्मिक–अनुष्ठान आदि में अग्नि को साक्षी रखते हैं। यह पण्डित, मूर्ख, ब्राह्मण, शूद्र किसी के प्रति भेदभाव नहीं रखती, यह किसी को नहीं छोड़ती, सबको जला देती है।

जैसे अग्नि को सर्वथा अच्छा या बुरा नहीं कह सकते, उसी प्रकार जब विशाल विश्व की ओर दृष्टि डालते हैं, लौकिक वस्तुओं की ओर देखते हैं तब अपने संस्कारों के आधार पर ही वस्तुओं को अच्छी या बुरी समझते हैं। एक प्रदेश में जिस वेशभूषा को सुन्दर व उचित समझते हैं, उसी वेषभूषा को दूसरे प्रदेश में असुन्दर व अनुचित मानते हैं। इस प्रकार का व्यवहार हमारे जीवन में प्रत्येक वस्तु के साथ होता है। इससे ज्ञात होता है कि आखिर हमें अनेकांत की शरण लेनी होगी, अनेकान्त–तत्त्वज्ञान के चौराहे पर खड़ा होना होगा। जैसे–चौराहे पर खड़ा सिपाही चारों ओर से आने वाले ट्रैफिक का नियन्त्रण करता है, एक ओर का ट्रैफिक रोकता है, दूसरी ओर का चालू रखता है। इसी प्रकार एक को प्रमुख तो दूसरे को गौण, इस प्रकार का दृष्टिकोण रखकर संतुलन बनाये रखेंगे तभी सत्य–ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

अमृतचन्द्राचार्य ने लघुतत्त्वस्फोट में कहा है–

स्वयं ही कुम्भादितया न चेद् भवान् भवेद् भवेत् किं बहिरर्थसाधनम्।
त्वपीश कुम्भादितया स्वयं स्थिते प्रभो ! किमर्थ बहिरर्थसाधनम्।।13।।

यदि मिट्टी स्वयं, अपने आप कुंभ (घड़ा) बन जाये तो फिर उसके लिए दण्ड की, चाक की, कुम्हार की क्या आवश्यकता है ? वह मिट्टी अपने आप घड़ा बन जाये, स्वयं ही उसमें पानी भर जाये, आप को पिला दे, तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है ? सारे साधन है पर कुम्हार नहीं हो तो भी घड़ा नहीं बन सकता। कुम्हार है, पर मिट्टी आदि नहीं हो तो भी घड़ा नहीं बन सकता। बिना साधनों के बिना पुरुषार्थ के तथा बिना विधि के कुंभ स्वयं नहीं बन सकता।

इस देश में दैववाद ने बहुत हानि पहुँचायी है कि ऐसा होना ही था, ऐसा ही होगा। पं. टोडरमलजी ने इसीलिये कहा है–'होनहार काल–लब्धि कछु नाहिं, जो करे, जो होवे वही काल–लब्धि है, होनहार है।' टोडरमलजी दैववाद से निकम्मे बनने वालों को बचा रहे हैं, सोने वालों को जगा रहे हैं।

इस संसार में अच्छाई या बुराई सब पुरुषार्थ के द्वारा ही होती है, बिना पुरुषार्थ के कोई वस्तु नहीं हो सकती। यदि वस्तुयें बिना पुरुषार्थ के, स्वयं ही निर्माण हो जायें तो फिर भाग–दौड़ की, दौड़–धूप की आवश्यकता क्या है ?

किसान कितना परिश्रम करता है, धूप, बारिश, ठण्ड, सब कुछ सहन करता है, हमें उसके पुरुषार्थ का, मेहनत का पता नहीं होता, जब हम भी वैसी मेहनत करें तभी ज्ञात होगा। किसान से बढ़कर कौन महान् है ? कोई बहुत पढ़े–लिखे,

डिग्रीधारी व्यक्तियों को बड़ा या महान् समझते हैं। पर किसान अत्यन्त परिश्रम के साथ एक बीज से ढेर सारा अनाज उत्पन्न करता है, शांति के साथ जीता है और सबको शांति से जीने के लिये अनाज वितरित करता है और दूसरी ओर ये कॉलेज में पढ़ने वाले, डिग्री लेने वाले, उपद्रव करते हैं, आग लगाते हैं, तोड़–फोड़ करते हैं, यह पढ़ाई किस काम की! हमारे यहाँ सिर्फ ज्ञान की कीमत नहीं, उसके साथ उसी के अनुकूल पुरुषार्थ–आचरण हो, तभी उसकी कीमत है। जब तक नागरिक सभ्य–सुसंस्कृत नहीं होगा, पुरुषार्थी नहीं होगा तब तक वह सफल नहीं हो सकता।

क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो सिर्फ ब्राह्मणों की बस्ती बसा कर दिखा सके ? उस बस्ती में दर्जी का कार्य भी ब्राह्मण ही करे, बढ़ईगिरी का कार्य ब्राह्मण ही करे, हरिजनों का कार्य भी ब्राह्मण ही करे, क्या यह सम्भव है ? सबके सहयोग व उपकार से ही समाज व्यवस्थित रह सकता है। हम अपने जीवन में दूध–घी पशुओं से प्राप्त करते हैं, जीवन में उनका भी सहयोग है। यदि इनका सहयोग न मानें तो ज्ञात होता है कि हम धर्मान्धता व दिव्यदर्शन में फर्क नहीं मानते। धर्मान्धता सरल है, यह जितनी शीघ्रता से प्राप्त होती है, उतनी ही शीघ्र पतित–पातिनी भी होती है, पर दिव्यदर्शन में आत्मदर्शन है। दिव्यदर्शन में वह ज्ञाता–दृष्टा के रूप में संसार को देखता है, किसी को छोटा नहीं समझता, किसी को तिरस्कृत दृष्टि से नहीं देखता, विश्व के समस्त प्राणियों को आत्माओं को अपने समान देखता–समझता है। समस्त आत्मा का धर्म एक है। आत्मा ब्राह्मण या ईसाई नहीं है, अन्यथा बताइये गधा किस जाति का है? गधा ब्राह्मण है अथवा ईसाई ? आज चिन्तन कूपमण्डूक–वृत्तिमय हो रहा है। चिन्तन उदार, विशाल व वीतराग दृष्टि वाला तभी हो सकता है जब अनेकान्त दृष्टि से चिन्तन करेंगे, एकान्त से नहीं। एकान्त मनुष्य को डुबो देता है, मनुष्यत्व को समाप्त कर देता है, उसके चिन्तन को कुण्ठित कर देता है।

सब कीड़े–मकोड़े, पेड़–पौधे, सब में जीवत्व शक्ति है ये भी जीव हैं। इनके सहयोग के बिना मानव जीवित नहीं रह सकता। पेड़–पौधों के अभाव में क्या मानव–जीवन सम्भव है ? खाद्य सामग्री प्रदान करने के साथ ये पेड़–पौधे प्रकृति का सौन्दर्य बढ़ाते हैं और वायुमण्डल को दूषित होने से भी बचाते हैं। ब्रिटेन में यह सिद्ध कर दिया गया है कि पेड़–पौधों के बीच रहने वाला मानव स्वस्थ व निरोगी रहता है।

2.8 भगवान् महावीर ने केवल मानव संस्कृति का नहीं प्राणी संस्कृति का विधान किया है—

उन्होंने एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय संज्ञी पंचेन्द्रिय व सिद्धालय तक समस्त जीवों में परमात्मा का दर्शन किया। समन्तभद्र ने बताया है कि इनमें परमात्मा का दर्शन कैसे किया गया है–

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।"

उन्होंने अहिंसा के द्वारा कृमि–कीटों में भी अपने समान जीव देखा। वह अहिंसा ही ब्रह्म है, धर्म है। वीतराग परमात्मा के ज्ञान में व हमारे ज्ञान में द्रव्यदृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वह प्रत्यक्ष जानते हैं, हम परोक्ष जानते हैं, वे युगपत जानते हैं, हम क्रम से जानते हैं, पर ज्ञान दोनों में है, प्रकट कितना किया, विकसित कितना किया इतना ही अन्तर है। हम राग व मोह के कारण फंस रहे हैं, वे राग–मोह रहित हैं।

मैं वह हूँ जो है भगवान्, जो मैं हूँ वह है भगवान्।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग, यही राग वितान।।

यह राग और मोह ही हमें संकीर्णता व कूपमण्डुक वृत्ति में डालता है। आचार्य श्री सिद्धसेन ने कहा है कि–

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढ़ गौरवादहन्नजातः प्रथमयन्तुविद्विष।।

यह मान्यता कि हमारे पुराने विचार हैं इसलिये श्रेष्ठ हैं, ये नये विचार हैं, इसलिये श्रेष्ठ हैं, भ्रामक हैं, गलत हैं। न पुरातन ही श्रेष्ठ है, न नया ही श्रेष्ठ है, न वर्तमान ही श्रेष्ठ है, केवल सत्य ही श्रेष्ठ है। सत्य किसकी देन है ? सत्य न

महावीर की देन है, न राम की देन है। सत्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है। महावीर ने केवल उसे अनुभूत कर प्रकट किया है। स्वयं उस मार्ग पर चलकर उसको प्रशस्त किया है और उस धर्म मार्ग पर, सत्य मार्ग पर चलने से ही वे महावीर बने।

हम महावीर की जय बोलते हैं, राम की जय बोलते हैं, पर चिन्तन कीजिये कि उनके बताये हुये मार्ग पर कितना चलते हैं ? यदि उनके बताये मार्ग पर नहीं चलते तो उनका नाम लेने का, उनकी जय बोलने का क्या अधिकार है ? पं. टोडरमलजी की जय बोलते हैं तो उनके पदचिह्नों पर चलकर दिखाना है। गांधीजी का नाम लेकर वोट मांगने वाले यदि उनके बताये मार्ग पर न चलें, तो उनका नाम लेने का, उनके नाम से वोट मांगने का क्या अधिकार है ?

2.9 तत्त्वज्ञान से कोसों दूर रहने वाले शुष्क–मस्तिष्क की कोई कीमत नहीं—

हमें ज्ञान व क्रिया का सामन्जस्य बैठाना होगा। ज्ञान रहित क्रिया व क्रिया रहित ज्ञान दोनों ही हानिकारक हैं।

हतंज्ञान क्रिया हीनं, हता च अज्ञानिनां क्रिया।
धावन किलान्धको दग्धा, पश्यन् अपि च पंगुलः।।

जो जीवादि पदार्थ का, आत्मा का चिन्तन करता है वह अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता कायम रखते हुये समस्त आत्मा को स्व–समान समझता है। चैतन्य–चैतन्य में स्वरूपगत दृष्टि से कोई भेद नहीं है। इसलिये धवला, महाधवला में आचार्यों ने, आचार्य नेमिचन्द्र ने, सब से पूछा–'सव्वे शुद्धा शुद्धनया। निगोद काय से सिद्धालय तक के जीव एक समान हैं, उनके द्रव्य–दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। यही, सही आस्तिक दृष्टि है। संकीर्णता में डूब कर केवल अपने परिवार–धर्म के प्रति ही विश्वास व आस्था रखना आस्तिकता नहीं है। केवल अपने परिवार को, अपने धर्म को अपना समझे शेष को पराया, यह अपने–पराये की दीवार हटाये बिना दृष्टि, चिन्तन सम्यक् नहीं हो सकता। जो यह कहे कि– मैं कहूँ वही सत्य है शेष सब असत्य, वह स्याद्वादी नहीं बन सकता। स्याद्वाद–अनेकान्त दृष्टि रखने पर ही हम महावीर के सच्चे अनुयायी बन सकते हैं।

जिसमें सत्य है, जो सत्यमय है, वही धर्म है, भगवान् है। हम केवल अपने पूर्वजों का, महापुरुषों का महान् आत्माओं का नाम स्मरण करें, उनकी जय बोलें, पर स्वयं उस पर शक्ति अनुसार आचरण न करें तो कभी भी सफलता नहीं मिल सकती।

2.10 आज विज्ञान युग है—

इसमें विज्ञान के नाम से जो कुछ भी कहा जाये वह सब सत्य है और आज विज्ञान की स्थिति यह है कि एक वैज्ञानिक एक तथ्य को प्रस्तुत करता है और दूसरा उसका खण्डन का देता है। सत्य का कभी खण्डन नहीं हो सकता। अग्नि अनादि काल से जलती आ रही है, क्या कोई इसका खण्डन कर सकता है ? वह स्वयं जलती है, पर सर्वथा दूसरों को, सबको नहीं जलाती, यदि वह सबको जलाती तो फिर आकाश को क्यों नहीं जलाती? वह कागज को शरीर को जला देती है, पर आत्मा को नहीं जलाती। आत्मा को, आकाश को जलाने की शक्ति उसमें नहीं है। इसीलिये तत्त्वज्ञों ने कहा कि–आत्मा निराकार, निरंजन, चैतन्यमय है, न वायु इसे सुखा सकती है न आग इसे जला सकती है, न तलवार इसके टुकडे कर सकती है, न पानी इसे गीला कर सकता है, इस अजर–अमर आत्मा के प्रति जब यह विश्वास होगा तभी वह आस्तिक होगा, तभी दृढ़ता आयेगी व अनुभूति के लिये सक्षम होगा ओर अमरता प्राप्त करने के लिये बढ़ सकेगा।

कोई कहता है कि–पेड़–पौधे सुन्दर हैं, कोई नदी–तालाबों को सुन्दर बताते हैं, तो कोई पहाड़ों–गुफाओं को, पर कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि–इन वस्तुओं को जानने की शक्ति आत्मा में है। अतः आत्मा के समान सुन्दर वस्तु अन्य कोई नहीं। समस्त बाह्य सौन्दर्य को जानने वाला सबसे सुन्दर है। हम आत्मा के सौन्दर्य को भूलकर बहिरंग सौन्दर्य पर ही मोहित हो रहे हैं। जब हम आत्मा के सौन्दर्य को देखेंगे, पहचानेंगे, उसका अनुभव करेंगे तभी हमारी दृष्टि सम्यक्

होगी, कर्मों का नाश होगा और तभी सांसारिक दु:खों से मुक्त होंगें।

2.11 दुनिया में अनेक पक्ष हैं—

एक पक्ष यह है कि इस दुनिया को ब्रह्मा ने बनाया है। यदि कुछ समय के लिये यह मान लें तो जिस ब्रह्मा ने हमें बनाया है, उसी ने इन पशु–पक्षियों को भी बनाया है अन्य मानवों को भी बनाया है। फिर जब पशु–पक्षियों का शिकार, मानव–जाति पर अत्याचार करते हैं तो क्या उस सृष्टा–ब्रह्मा के विरुद्ध कार्य नहीं करते ? क्या अपने सृष्टा के विरुद्ध कार्य करना नीतियुक्त है ?

हमें केवल मानवीय दृष्टि व संस्कृति पर ही चिन्तन नहीं करना है। हमें जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल, छहों द्रव्यों का चिन्तन करते हुये अपनी आत्मा का वीतराग भाव से चिन्तन करना होगा, तभी दृष्टि विशाल बनेगी। मानव–जाति तक ही सीमित न रहते हुये प्राणी–मात्र के अन्दर चैतन्य का दर्शन करना है। हमें एकांगी नहीं बनना। अनेकान्त दृष्टि रखने पर ही समस्त संसार में से चीरते हुये तत्त्वज्ञान को, सत्य को पा सकेंगे। हम दोनों पैर से ही सम्यक् गति से चल सकते हैं, दूसरा सहारा लेना पड़ता है।

सब प्राणियों में जीवत्व को पहचानेंगे, समझेंगे तभी दूसरे जीवों के प्रति सम्मान की भावना रख सकेंगे। तभी 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्', को समझ सकेंगे और तभी जीवन की अनेक बाधाओं व दु:खों से मुक्त हो सकेंगे।

कोई हमें, प्यास लगने पर पानी पिलाकर तृप्त करता है, तो हम उसका भी उपकार मानते हैं, तो जिन सर्वज्ञ–वीतराग भगवान् ने हमारे आत्मकल्याण के लिये चिन्तन दिया, मार्ग प्रशस्त किया है, उनका हम उपकार न मानें इससे बड़ी कृतघ्नता व विडम्बना क्या होगी ? हमारे वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने अपनी दिव्यध्वनि, दिव्य अर्थों की ध्वनि के द्वारा हमारी आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि बताई है, हम उनके ऋण से कैसे मुक्त हो सकते हैं ?

यदि हम किसी गलती पर हों तो हमें तुरन्त अपनी गलती महसूस कर लेनी चाहिये स्वीकार कर लेनी चाहिये, उसे स्वीकार करने में हिचकिचाहट क्यों ? जब कभी कोई असत्य बोलता है तो उस असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिये वह अनेक बहाने ढूँढता है। इसलिये आचार्यों ने अधिक बोलने के लिये मना किया है, क्योंकि बोलने के पश्चात् उन शब्दों के गुलाम हो जाओगे। तभी तो तीर्थंकर भी सर्वज्ञता प्राप्ति के बाद ही बोले, तभी उनकी वाणी खिरती है। छद्मस्थ जीव के तो मिथ्यात्व के कारण वीतराग वाणी निकल ही नहीं सकती, इसलिये वह अपने कथन का गुलाम होता है।

सत्य की पूर्णता को मापना आसान नहीं है। सत्य कहीं बाजार में नहीं मिलता, वह आत्मा की आवाज है, वह आत्मा में से ही प्रसूत होगा। सत्य की प्राप्ति तपस्या से विनम्रता से होगी, सत्य किसी जाति विशेष में, धर्म विशेष में जन्म लेने से प्राप्त नहीं होता। यह तो प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है। संसार के समस्त प्रपंच में रच–पचकर आखिर सत्य की प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक जगत् की ओर लौटना होता है।

आज स्वीडन सरकार ने हिंसात्मक अस्त्र–शस्त्रों के प्लास्टिक खिलौनों के रूप में प्रचलन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया है, जैसे टैंक, पिस्तौल आदि क्योंकि इनसे इसी प्रकार की हिंसात्मक भावना उत्पन्न होती है। इसलिये भगवान महावीर ने भावहिंसा को भी त्याज्य माना है। हम अहिंसक देशवासी आज हिंसात्मक कार्यों में मग्न हैं। यदि हम सुख–शान्ति चाहते हैं तो हमें अहिंसा की ओर लौटकर आना होगा।

हमें प्राणी–मात्र के प्रति कल्याणकारी भावना रखनी होगी। मानवजाति के प्रति सेवाभावना रखनी होगी, सेवा मानवजीवन के लिये कल्याणकारी है। जब आपको कोई तकलीफ होती है तो आप तुरन्त डॉक्टर के पास, वकील के पास भागते हैं, इनका सहयोग लेते हैं। समाज में, देश में परस्पर सहयोग की, सेवा भावना की, सहिष्णुता की आवश्यकता है।

जब तक कर्त्तव्य बोध की भावना व कर्त्तव्य बोध नहीं होगा तब तक नागरिक नगर विकास न्यास और सरकार सफल नहीं हो सकते। आज देश में सर्वत्र सब कर्त्तव्य को भूलकर केवल अधिकार की बातें करते हैं। इसलिये हमारा देश उन्नत नहीं हो पाया, वातावरण अशांत हो गया। सफलता की कुंजी कर्त्तव्यपालन है। इसी से देश उन्नत होगा। नागरिकों में राष्ट्रीय मानवीय व प्राणी मात्र के कल्याण की भावना होगी तभी देश आदर्श बन सकेगा। केवल सुन्दर–साफ सड़कें, सुन्दर भवन बनाने से, शस्त्रास्त्र इकट्ठा करने की होड़ से, देश विकसित नहीं होगा। चाहे मंत्री हो या नागरिक सबको अपने कर्त्तव्य को निभाना होगा।

रूस में टेलिविजन पर राष्ट्रीय ध्वज दीखते ही वहाँ के छोटे से बच्चे ने भी स्वयं खड़े होकर राष्ट्रीय ध्वज को सम्मान दिया अर्थात् वहाँ छोटे से बालक में भी राष्ट्रीय भावना है। जब तक राष्ट्र के प्रति श्रद्धा–विश्वास नहीं होगा तब तक विकास नहीं हो सकता। सोचिये, जिसका अन्न–जल ग्रहण करते हो उसके प्रति कैसे कृतघ्न हो रहे हो ?

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, निश्चयनय से, तो यह शरीर भी अपना नहीं है, राष्ट्र क्या ? पर व्यवहार में इन सबको सम्मान देना होगा। न्यायनीति के साथ गरीबों को भी आवश्यक सुविधायें प्राप्त हों यही भावना व कर्त्तव्य होना चाहिये। प्राणी मात्र सुखी रहे यही भावना हो।

2.12 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1—मैनासुन्दरी ने अपने पति व उनके साथियों को कुष्ठ रोग से कैसे मुक्त कराया ?

(क) गंधोदक लगाकर ☐ (ख) तीर्थवंदना करके ☐ (ग) ये दोनों ☐

प्रश्न 2—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म ..... आदि क्या हैं ?

(क) द्रव्य ☐ (ख) तत्व ☐ (ग) पदार्थ ☐

प्रश्न 3—मंदिर निर्माण कराया जाता है !

(क) कर्म करने के लिए ☐

(ख) धर्म कार्य करने के लिए ☐

(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—मंदिर क्यों बनवाए जाते हैं ? बताइए ?

प्रश्न 2—मानव जीवन में संस्कारों का क्या महत्त्व है ?

प्रश्न 3—अष्टमी–चतुर्दशी को क्या छोड़कर क्या ग्रहण करना चाहिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1-जैनधर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक आधार लिये हुए हैं, इस बात को स्पष्ट कीजिए।

पाठ-3–आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी द्वारा वर्णित ग्यारह महत्त्वपूर्ण स्थान

3.1 ग्यारह महत्वपूर्ण स्थान—

(1) आयतन, (2) चैत्यगृह, (3) जिनप्रतिमा, (4) दर्शन, (5) जिनबिंब, (6) जिनमुद्रा, (7) ज्ञान, (8) देव, (9) तीर्थ, (10) अरहन्त और (11) प्रव्रज्या इन ग्यारह विषयों को बोधप्राभृत में वर्णन किया है।

3.1.1 आयतन—जिनमार्ग में जो संयम सहित मुनिरूप है उसे आयतन कहा है अर्थात् मन, वचन, काय और पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जिन्होंने वश में कर लिया है वे संयमी मुनि आयतन हैं तथा मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत नहीं हैं। पांच महाव्रतों को धारण करते हैं ऐसे महर्षि महामुनि ही आयतन कहलाते हैं। विशुद्ध ध्यान से सहित एवं केवलज्ञान से युक्त जिन श्रेष्ठ मुनि के निजात्म स्वरूप सिद्ध हुआ है अथवा जिन्होंने छह द्रव्य, सात तत्व, नवपदार्थ अच्छी तरह जान लिये हैं उन्हें 'सिद्धायतन' कहा है अर्थात् यहाँ पर भगवान् कुन्दकुन्द ने प्रथम तो सामान्य मुनियों को आयतन कहा है पुनः ऋद्धिधारी ऋषियों को, अनन्तर अरहंत केवली भगवान् को आयतन शब्द से कहा है क्योंकि ये ही धर्म के आयतन—स्थान हैं—आधार हैं ऐसा समझना ।

3.1.2 चैत्यगृह—जो ज्ञानयुक्त आत्मा को जानते हों, दूसरे भव्य जीवों को उसका बोध कराते हों, पांच महाव्रतों से शुद्ध हों तथा स्वयं ज्ञानमय हों ऐसे मुनि को 'चैत्यगृह' कहते हैं। इस प्रकार वास्तव में 'चैत्यगृह' संयमी मुनि हैं। जिन मन्दिर को 'चैत्यगृह' कहना व्यवहार है।

जो चैत्यगृह के प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करते हैं, उनको उससे बन्ध और उसके फलस्वरूप दुःख उत्पन्न होता है तथा जो चैत्यगृह के प्रति उत्तम प्रवृत्ति करते हैं उनको वह मोक्ष व उसके फलस्वरूप सुख प्रदान करता है। इस तरह जिनशासन में 'चैत्यगृह' को षट्कायिक जीवों का अर्थात् प्राणीमात्र का हितकारी माना गया है अर्थात् श्री कुन्दकुन्ददेव ने संयमी मुनि को 'चैत्यगृह' कहा है तथा कृत्रिम–अकृत्रिम जिनमन्दिर भी चैत्यगृह हैं ऐसा समझना। इन दोनों के प्रति दुर्भाव से पाप और दुःख एवं भक्ति से पुण्य एवं मोक्ष सुख प्राप्त होता है, यह स्पष्ट है।

3.1.3 जिनप्रतिमा—जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान के द्वारा शुद्ध चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर की प्रतिमा हैं वह स्वशासन और परशासन की अपेक्षा दो प्रकार की हैं। इसमें जो जंगम—गतिरहित निर्ग्रंथ वीतराग प्रतिमा हैं वही जिनशासन में प्रतिमायें मानी गयी हैं। किन्तु वस्त्राभरण, मुकुट, आयुध आदि से सहित प्रतिमायें मान्य नहीं हैं। यह जंगमप्रतिमा का स्वरूप है। अब जंगमप्रतिमा को बताते हैं—जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, जिनश्रुत को जानते हैं, अपने योग्य वस्तु को देखते हैं तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियों का निर्ग्रंथ शरीर जंगमप्रतिमा है। वह वन्दना करने योग्य है अर्थात् निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि चलती–फिरती जंगमप्रतिमा हैं। आगे सिद्ध प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं—जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख सहित हैं, शाश्वत—अविनाशी सुख स्वरूप हैं, अदेह–अशरीरी हैं, अष्टकर्म के बन्धन से रहित हैं, उपमारहित हैं। अचल हैं, क्षोभ रहित हैं। जंगमरूप से निर्मापित हैं अर्थात् स्थिररूप से निर्मापित हैं संसार का अन्त होते ही एक समय में लोक शिखर पर जाकर विराजमान हो जाते हैं। अतः सिद्ध स्थान में स्थित हैं। वहाँ पर कायोत्सर्ग आसन से या पद्मासन से विराजमान हैं इसलिये वे सिद्ध भगवान् 'सिद्ध प्रतिमायें' कहलाते हैं अर्थात् यहाँ पर कृत्रिम–अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं को जंगमप्रतिमा कहा है और दिगम्बर मुनियों को जंगमप्रतिमा कहा है तथा लोकशिखर पर विराजमान सिद्धों को सिद्धप्रतिमा कहा है।

अन्यत्र ग्रन्थों में अष्ट प्रातिहार्य तथा यक्ष–यक्षिणियों सहित मूर्ति को अरहंत प्रतिमा एवं छत्र, चामर आदि प्रातिहार्यों से तथा यक्ष–यक्षिणियों से रहित जिनप्रतिमा को सिद्ध प्रतिमा कहा है अथवा कृत्रिम प्रतिमाओं को जिनप्रतिमा एवं अकृत्रिम अनादिनिधन स्वयंसिद्ध प्रतिमाओं को सिद्धप्रतिमा कहा है, ऐसा समझना। तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ पर

भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने दिगम्बर मुनियों को 'आयतन' 'चैत्यगृह' और प्रतिमा शब्दों से भी मान्य करके सर्वथा वन्दनीय और पूज्य घोषित किया है।

3.1.4 दर्शन—जो सम्यक्त्व, संयम और सुधर्मरूप मोक्षमार्ग को दिखलाता है तथा स्वयं निर्ग्रंथ—परिग्रहरहित और ज्ञानमय है वह जिनमार्ग में 'दर्शन' कहा गया है अर्थात् यह दर्शन यति और श्रावक के आधारभूत है और अविरत सम्यग्दृष्टि के आधारभूत है। वास्तव में मुनि के निर्ग्रंथ रूप को दर्शन कहा है तथैव श्रावक व अविरत सम्यग्दृष्टिजन भी दर्शन हैं तथा इस प्रकार के रूप के श्रद्धान रूप सम्यक्त्व को भी 'दर्शन' कहते हैं।

जिस प्रकार फूल गंधमय और दूध घृतमय होता है उसी प्रकार दर्शन भी निश्चय से सम्यग्ज्ञानमय होता है। वह सम्यग्दर्शन यति श्रावक और असंयत के रूप में स्थित है।

3.1.5 जिनबिम्ब—जो ज्ञानमय है, संयम से शुद्ध है, अत्यन्त वीतराग है तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी 'जिनबिंब' हैं अर्थात् ये आचार्य परमेष्ठी शिष्यों को कर्मक्षय में हेतु ऐसी व्रतारोपण रूप दीक्षा देते हैं तथा द्वादश अनुप्रेक्षा आदि रूप शिक्षा देते हैं अतः ये जीवन्मुक्त जिन भगवान् के समान माननीय हैं ऐसा समझना। अन्यत्र भी कहा है—

"जो ज्ञानकांड में और क्रियाकांड में शिक्षा और दीक्षा में ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों के अग्रसर हैं तथा संसार रूपी समुद्र से पार करने के लिये नौका के समान हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी देव के समान आराधना करने के योग्य हैं"।

उन जिनबिंबरूप आचार्यदेव को प्रणाम करो, उनकी सब प्रकार की पूजा करो, उनके प्रति विनय और वात्सल्य भाव प्रगट करो जिनके कि सम्यग्दर्शन है तथा निश्चित रूप से चेतना भाव विद्यमान है अर्थात् यहाँ पर जिनबिंब शब्द से जिनबिंब के समान मुद्रा के धारक आचार्यदेव का ग्रहण किया है। हे भव्य जीवों! तुम उन्हें पंचांग या अष्टांग नमस्कार करो। ऐसे ही उपाध्याय मुनि तथा सर्वसाधुओं की भी भक्ति करो। ये भी जिनबिंब स्वरूप हैं। अष्टद्रव्य से इनकी पूजा करो। इसके सिवाय इन तीनों परमेष्ठियों की विनय करो, हाथ जोड़कर वंदन करो, उनके आते समय सन्मुख जावो, सहज स्नेह प्रदर्शित करो, उन्हें आहार देवो, उनके पैरों को दबाना, तेल मालिश करना, चरण प्रक्षालन करना आदि वैयावृत्य करो जो कि तीर्थंकर प्रकृति बंध के लिये कारणभूत है।

स्वामी श्रीसमंतभद्र महामुनि भी कहते हैं—

संयमी जनों की आपत्ति—विघ्न–बाधाओं को दूर करना, पैर दबाना तथा उनके गुणों में राग होने से उनका जितना भी उपकार है वह सब वैयावृत्य है। इस प्रकार जिनमें निश्चय से दर्शन, ज्ञान और आत्म स्वरूप विद्यमान है वे प्रधान रूप से 'जिनबिंब' हैं एवं पाषाण आदि से निर्मित जिनबिंब भी स्थापना निक्षेप से पूज्य हैं। उनका भी पंचामृत अभिषेक करो, अष्ट द्रव्य से पूजा करो। इन जिनबिंबों की भक्ति भी संसार समुद्र से पार करने वाली है। जो तप, व्रत और गुण से शुद्ध हैं, वस्तु स्वरूप को जानते हैं तथा शुद्ध सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं ऐसे आचार्य ही अरहंत मुद्रा हैं अर्थात् जिनबिंब हैं। यह अरहंत मुद्रा दीक्षा और शिक्षा को देने वाली है अर्थात् वीतराग अरहंत भगवान् की आकृति—मुद्रा को धारण करने वाले आचार्य देव हैं। यह अरहंत मुद्रा शिक्षा को तो देती ही है तथा यात्रा, प्रतिष्ठा आदि कार्यों को प्रवर्ताने वाली है। उसी प्रकार से यंत्र और मंत्र से जिनकी आराधना होती है ऐसी पाषाण निर्मित प्रतिमायें भी 'जिनबिंब' कहलाती हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिनबिंब को ही अरहंत मुद्रा भी कहा है।

3.1.6 जिनमुद्रा—जो संयम की दृढ़ मुद्रा से सहित है, जिसमें इन्द्रियों का निरोध है, जिसमें कषायों का नियन्त्रण है और जो सम्यग्ज्ञान से सहित है, ऐसी मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है। जिनशासन में यही जिनमुद्रा कही गई है अर्थात् सिर, दाढ़ी, और मूंछ के केशों का लोच करना, मयूर पंखों की पिच्छी धारण करना, कमंडलु रखना यह मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा

है। इस मुद्रा से अहर्निश पठन–पाठन आदि के द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है अतः यह मुद्रा सर्वथा ही मान्य है। कहा भी है—"मुद्रा सर्वत्र मान्य होती है, मुद्रा रहित का सन्मान नहीं हो सकता है। जिस प्रकार राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन मनुष्य भी मान्य होता है। शास्त्र का यही निर्णय है।"

मुनियों का आकार जिनमुद्रा है और ब्रह्मचारियों का आकार चक्रवर्ती मुद्रा है। ये दोनों ही मुद्रायें माननीय हैं—पद के अनुकूल आदर करने योग्य हैं।

3.1.7 ज्ञान—जो मोक्षमार्ग इन्द्रिय संयम तथा प्राणी संयम से युक्त है, आर्त–रौद्र दुर्ध्यान से रहित होकर धर्म और शुक्ल ध्यान से सहित है उस मोक्षमार्ग के लक्ष्य–निजात्म स्वरूप को यह जीव ज्ञान के द्वारा प्राप्त करता है इसलिये ज्ञान को जानना चाहिये। निशाना बेधने के अभ्यास से रहित पुरुष जिस प्रकार बाण के निशाने को नहीं कर पाता है उसी प्रकार आत्मस्वरूप के चिन्तन के अभ्यास से रहित पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य रूप निजात्म स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकते है चूँकि मोक्षमार्ग ज्ञान और चारित्रस्वरूप है। ज्ञान पुरुष के होता है अर्थात् विनय से संयुक्त सत्पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञान के द्वारा चिंतन करता हुआ वही सत्पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य रूप निजात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ ज्ञान से श्रुतज्ञान विवक्षित है, वह श्रुतज्ञान विनय से संयुक्त भव्य जीव को ही होता है तथा गाथा के 'अपि' शब्द से ऐसा सूचित होता है कि ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमती और चन्दना आदि आर्यिकाओं को भी ग्यारह अंग तक का श्रुतज्ञान प्राप्त हुआ था। जिसके प्रसाद से उन्होंने स्त्रीलिंग का छेदकर स्वर्ग सुख का उपभोग किया है पुनः वहाँ से आकर राजकुल में जन्म लेकर दैगम्बरी दीक्षा लेकर मुक्तिसुख प्राप्त कर लिया है एवं राजीमति, चन्दना आदि आगे तृतीय भव में मोक्ष प्राप्त करेंगी क्योंकि जब स्त्री पर्याय में पूर्ण श्रुतज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता है तब केवलज्ञान की बात दूर ही है किन्तु पुरुषों को उसी भव में पूर्ण श्रुतज्ञान या केवलज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।

ऐसे ज्ञान को कौन प्राप्त करता है ?

गुरुओं की चरणरज से जिनका मस्तक रंगा हुआ है, ऐसे विनय से सहित सत्पुरुष ही ऐसा श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। वे विनयी मुनि ही श्रुतज्ञान द्वारा रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का चिंतवन करते हुए लक्ष्य—निजात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। जिस मुनि के पास मतिज्ञान रूपी निश्चल धनुष है, श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, भेदाभेद रत्नत्रय रूप बाण है और निजात्मस्वरूप परमार्थ में जिसने लक्ष्य बाँध रखा है, ऐसा मुनि मोक्षमार्ग के लक्ष्य में कभी नहीं चूकता।

श्री सोमदेवसूरि भी श्रुतज्ञान के गुणों की स्तुति करते हुये कहते हैं–

'इन्द्रियों से होने वाला यह मतिज्ञान अत्यन्त अल्प है, अवधिज्ञान सीमा से सहित है, आश्चर्य से युक्त मनःपर्ययज्ञान किसी मुनि के होता है फिर भी अत्यन्त अल्प है और यह केवलज्ञान रूप ज्योति इस समय अत्यन्त दुर्लभ होने से मात्र कथा का ही विषय है परन्तु श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करता है तथा सुलभ भी है अतः उसके माहात्म्य का क्या वर्णन करें ? अर्थात् इस युग में भी इस श्रुतज्ञान का माहात्म्य वर्णनातीत है।

तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ ज्ञान अधिकार में भी दिगम्बर मुनि को ही लिया है चूँकि ज्ञान निराधार नहीं रह सकता है ऐसा समझना।

3.1.8 देव—देव वह है जो धर्म, अर्थ और काम को अच्छी तरह देता है । लोक में यह नीति है कि जिसके पास जो वस्तु होती है वह उसे ही देता है। देव के पास धर्म है, अर्थ है, काम है, प्रव्रज्या है और ज्ञान है अतः इन्हें ही वह देता है । यहाँ पर आचार्य ने 'देवे सो देव' ऐसा देव शब्द का अर्थ विवक्षित किया है। धर्म का लक्षण चारित्र, दया, वस्तु स्वभाव, स्वात्मोपलब्धि और उत्तम क्षमादि है। धन सम्पत्ति, नवनिधि, चौदह रत्न आदि अर्थ हैं। अर्धमंडलीक,

मंडलीक, महामंडलीक, चक्रवर्ती, इन्द्र, तीर्थंकर आदि के भोग–वैभव को काम कहते हैं। केवलज्ञान रूप ज्योति का नाम ज्ञान है तथा केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये कारणभूत प्रव्रज्या दीक्षा है। जिनेंद्रदेव की भक्ति के प्रसाद से ये सब वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं इसलिये वे इनके देने वाले कहे जाते हैं।

आचार्यदेव पुनः कहते हैं कि—

दया से विशुद्ध धर्म, सर्व परिग्रह से रहित दीक्षा और मोह से रहित देव ये तीनों भव्य जीवों का कल्याण करने वाले हैं अर्थात् राग द्वेष, मोह से वीतराग, पूर्णज्ञानी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी भगवान् ही सच्चे देव होते हैं।

3.1.9 तीर्थ—निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिव्रत और सम्यक्त्व से विशुद्ध पंचेंद्रियों से नियंत्रित और बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित अपने शुद्धात्म स्वरूप तीर्थ में दीक्षा तथा शिक्षा रूप उत्तम स्नान से स्नान करे अर्थात् पच्चीस मलदोष रहित सम्यक्त्व और पांच महाव्रत इनसे जो तीर्थ अत्यन्त निर्मल है, पांचों इन्द्रियों के विषय रूपी मल—कीचड़ से जो रहित है और जो बाह्य पदार्थों की आकांक्षाओं रूपी फेन से भी रहित है ऐसा यह तीर्थ भव्य जीवों के कर्ममल को धोने में समर्थ है। महामुनि ही ऐसे तीर्थं में स्नान करते हैं। आगे और भी कहते हैं कि—जो अतिचार रहित धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान है वही जिनमार्ग में तीर्थ है। यदि वह शान्त भाव से सहित हो अर्थात् यदि ये धर्म सम्यक्त्व, संयम आदि भाव क्रोध कषाय से दूषित नहीं होते हैं तो ये ही सच्चे तीर्थ कहलाते हैं। तात्पर्य यही है कि ये धर्म, तप, संयम आदि तीर्थं हैं किन्तु ये बिना आधार के नहीं रहते हैं अतः इनके आधारभूत मुनि ही सच्चे तीर्थ हैं।

तथा व्यवहारनय की अपेक्षा इस निश्चयतीर्थ की प्राप्ति के लिये कारणभूत, मुक्त हुये महापुरुषों के चरणरज से स्पर्शित अष्टापद, सम्मेदगिरी, चंपापुर, ऊर्जयंत, पावापुरी, शत्रुंजय, तुंगीगिरी, सिद्धवरकूट, मुक्तागिरी, सोनागिरी, अयोध्या, वाराणसी आदि भी तीर्थ कहलाते हैं । तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों से पवित्र जो भी स्थल हैं वे तीर्थ नाम से जिनागम में प्रसिद्ध हैं। सम्यग्दृष्टि भव्यपुरुष इन तीर्थों की वंदना बड़े भाव से करते हैं क्योंकि ये तीर्थ भी संसार समुद्र से पार करने वाले हैं।

3.1.10 अरहंत—नाम, स्थापना,द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप, स्वकीयगुण, स्वकीयपर्याय, च्यवन, आगति और संपदा इन नौ बातों का आश्रय लेकर भव्य जीव अरहंत भगवान् का चिंतवन करते हैं अर्थात् अरहंत भगवान् के जो नाम हैं वे नाम जिन है, उनकी प्रतिमायें स्थापना जिन हैं, अरहंत भगवान् का जीव द्रव्य जिन है और समवसरण में स्थित भगवान् भाव जिन हैं। जिनके अनंतदर्शन और अनंतज्ञान विद्यमान हैं, आठों कर्मों का वध–नष्ट हो जाने से जिन्हें भाव मोक्ष प्राप्त हुआ है तथा जो अनुपम गुणों को प्राप्त हैं ऐसे अरहंत होते हैं। जरा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गति गमन, पुण्य–पाप, अठारह दोष तथा घातिया कर्मों को नष्ट करके जो ज्ञानमय हुये हैं वे अरहंत हैं। इस प्रकार अरहंत को दोषरहित होने से निर्दोष, पूर्णज्ञानी होने से सर्वज्ञ आदि नामों से कहना 'नाम अरहंत' है।

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान इन पांच प्रकारों से अरहंत भगवान् की स्थापना करना चाहिये।

तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवली जिनेंद्र अरहंत कहलाते हैं। उनके चौंतिस अतिशय और आठ प्रातिहार्य होते हैं अर्थात् जन्म से ही तीर्थंकरों के शरीर में मल–मूत्र, पसीना, खून आदि नहीं होता है किन्तु अतिशय सुगंधित, महामहिमावान, अतुल बलशाली, तीन लोक में भी सबसे अधिक सुन्दर ऐसा शरीर होता है। और तो और उनके माता–पिता के शरीर में भी मल–मूत्र नहीं रहता है। यथा—'तीर्थंकर', उनके माता–पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्धचक्री, देव और भोगभूमियाँ इनके आहार होता है परन्तु नीहार नहीं होता'।

"ऐसे तीर्थंकरों की दाढ़ी, मूंछ भी नहीं होती है किन्तु शिर पर घुंघराले केश होते हैं। यथा—'देव, नारकी, बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्धचक्री, नारायण, प्रतिनारायण और कामदेव ये दाढ़ी–मूंछ से रहित होते हैं' ।

जिस प्रकार से तेरहवें गुणस्थान में घातिकर्म के अभाव से अरहंत होते हैं उसी प्रकार गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारक इन चौदह मार्गणाओं को यथासम्भव अरहंत में लगाना चाहिये। जैसे—नरक आदि चार गतियों में से अरहंत के मनुष्यगति है, एकेंद्रिय आदि में से अरहंत भगवान् पंचेंद्रिय हैं। इत्यादि तथा आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। अरहंत भगवान् इन पर्याप्तियों के गुण से समृद्ध तथा उत्तमदेव हैं। पांच इंद्रिय प्राण, तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास और आयु, ये दशों प्राण अरहंत में होते हैं। जीवस्थान अर्थात् जीवसमास में पंचेंद्रिय संज्ञी जीवसमास अरहंत के होता है। चौदहवें गुणस्थान में भी अरहंत संज्ञा है। गुणस्थान से परे सिद्ध कहलाते हैं। इस तरह यहाँ तक गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति और जीवसमास इन पांच में अरिहंत को घटित किया है। इन्हें 'स्थापना अरहंत' समझो।

आगे द्रव्य की अपेक्षा अरिहंत को कहते हैं—

अरहंत भगवान् बुढ़ापा, व्याधि और दुःख से रहित हैं, आहार और नीहार से रहित हैं, मल से रहित हैं, थूक, पसीना, ग्लानि उत्पन्न करने वाली घृणित वस्तु तथा वात, पित,कफ आदि दोषों से भी रहित हैं। अरहंत भगवान् के दश प्राण, छह पर्याप्तियाँ और एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं। उनके सर्वांग में दूध और शंख के समान श्वेत मांस और रुधिर होता है। अरहंत भगवान् का औदारिक शरीर ऐसे गुणों से युक्त, अतिशयों से सहित और उत्तम सुगंधि से परिपूर्ण होता है। द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा अरहंत भगवान् को मद, राग, द्वेष, कषाय और नोकषायों से रहित अतिशय विशुद्ध, मनोव्यापार रहित और क्षायिक भावों से युक्त जानो अर्थात् सर्वगुणसम्पन्न आत्मा ही 'भाव अरहंत' है।

3.1.11 प्रव्रज्या—दीक्षा के धारक मुनि को शून्य घर में, वृक्ष के नीचे, उद्यान में, श्मशान में, पर्वत की गुफा में, पर्वत के शिखर पर, भयंकर वन में अथवा वसतिका में निवास करना चाहिये। शून्य घर आदि स्थान स्वाधीन हैं। इनमें रहकर मुनि को सत्त्व, तीर्थ, जिनागम और जिनमंदिर का ध्यान करना चाहिये। साहस का नाम सत्त्व है। मुनिराज दृढ़ता से अपने चारित्र को निश्चल और निर्मल रखते हैं, यह सत्त्वगुण की महिमा है। द्वादशांग श्रुत अथवा चंपा, पावा आदि पवित्र भूमि तीर्थ हैं। ये भी ध्यान करने के लिये योग्य हैं ऐसे कुन्दकुन्ददेव के वचन हैं। परमागम शास्त्र वचन हैं, ये भी ध्यान के योग्य हैं। कहा भी है—

"द्वादशांग जिसका शरीर है, सम्यग्दर्शन जिसका तिलक है, चारित्र जिसका वस्त्र है, और चौदह पूर्व जिसके आभरण हैं, ऐसी श्रुतदेवी की स्थापना करना चाहिये"।

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों के घर में तथा मध्यलोक में समस्त इंद्रों से वंद्य जो अकृत्रिम जिनालय हैं, वे भी वंदना और ध्यान के विषय हैं तथा चक्रवर्ती, राजा या सामान्य मनुष्यों द्वारा निर्मापित कृत्रिम जिनमंदिर भी सर्वदा पूज्य ही हैं। इन सबका ध्यान करना साधु का कर्तव्य है। ये तीर्थ शास्त्र जिनमंदिर और जिनप्रतिमा मुनि, श्रावक तथा अविरति को ध्यान के लिये अवलंबन स्वरूप हैं, जो ऐसा नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

जो पांच महाव्रत से सहित हैं, पांचों इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं, प्रत्युपकार की वांछा से रहित हैं तथा स्वाध्याय और ध्यान में सतत तत्पर रहते हैं ऐसे श्रेष्ठ मुनिराज उपर्युक्त सत्त्व, तीर्थ आदि को अत्यन्त रूप से इच्छा करते हैं।

जो निवासस्थान और परिग्रह के मोह से रहित है, बाईस परीषहों को जीतने वाली है, कषाय से रहित है तथा पाप के आरंभ से अथवा पापपूर्ण खेती आदि के आरम्भ से मुक्त है ऐसी दीक्षा कही गई है। धन–धान्य तथा वस्त्र का दान, चाँदी–सोना आदि का सिक्का तथा शय्या, आसन और छत्र आदि खोटी वस्तुओं के दान से रहित है। जो शत्रु–मित्र में सम है, प्रशंसा–निन्दा, लाभ–अलाभ में तथा सुवर्ण और तृण में समभाव रखती है। जो ग्रन्थ–परिग्रह, मान, आशा, राग, द्वेष, ममता और अहंकार से रहित है ऐसी दीक्षा होती है। जो निःस्नेह, निर्लोभ, निर्मोह, निर्विकार, निष्कलुष, निर्भय और

विवेकपूर्ण है। जो यथाजातरूप सदृश है, जिसमें भुजायें नीचे की ओर लम्बित हैं, जो शास्त्र से रहित शान्त है, पर के द्वारा बनाये गये आवासों में निवास करने वाली है ऐसी जिनदीक्षा होती है। जो उपशमभाव, क्षमा और दमभाव से युक्त है और शरीर के संस्कार से रहित है, मद, राग और दोष से रहित है। जिसमें मूढ़तायें नष्ट हो चुकी हैं, जो आठों कर्मों को नष्ट करने वाली है, जिसने मिथ्यात्व का समूल चूल नाश कर दिया है, जो सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध जिनमार्ग में इन गुणों से विशिष्ट ही दीक्षा होती है।

अरहंत भगवान् के शासन में जिनदीक्षा छहों संहननों में कही गई है। यह निर्ग्रंथ दीक्षा कर्मक्षय का कारण है ऐसा भव्य पुरुष चिन्तन करते हैं। जिसमें तिलतुष मात्र भी बाह्य परिग्रह नहीं है वही निर्ग्रंथ मुद्रा है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। यह जिनदीक्षा उपसर्ग और परीषहों को सहन करने वाली है, इनके धारक मुनि निर्जन स्थान में रहते हैं तथा सर्वत्र शिला, काष्ठ फलक या भूमितल पर बैठते या शयन करते हैं । जो पशुओं, महिलाओं, नपुंसकों और कुशील पुरुषों का संसर्ग नहीं करती है, विकथाएँ नहीं करती है तथा स्वाध्याय और ध्यान में युक्त रहती है, तप और गुणों से शुद्ध है। संयम और सम्यक्त्व गुणों से विशुद्ध हैं, गुणों से शुद्ध हैं, वही दीक्षा शुद्ध हैं। इस प्रकार अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त्व से युक्त मुनि की प्रव्रज्या आत्म गुणों की भावना से परिपूर्ण होती है। यह निर्ग्रंथ दीक्षा का कथन यहाँ पर अति संक्षेप से भगवान् श्री कुन्दकुन्द के द्वारा कहा गया है।

आगे श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि—

जिनशासन में तीर्थंकर परमदेव अथवा गौतम पर्यन्त गणधरों ने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार निकट भव्य जीवों को संबोधने के लिये छहकाय के जीवों का हित करने वाला यह निर्ग्रंथ मुद्राधारी मुनि का आचरण मैंने कर्मक्षय रूप शुद्धि के प्रयोजन से कहा है। बोधपाहुड़ की 42 गाथा से लेकर 60 गाथा तक के आधार से यह प्रव्रज्या का वर्णन है। प्रव्रज्या का अर्थ पारिव्राज्य है : उसके सत्ताईस सूत्र श्रीजिनसेनाचार्य ने कहे हैं। जो इस प्रकार हैं—

जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, शरीर की सुन्दरता, प्रभा, मंडल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वंदनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद हैं।

प्रवज्या के सत्ताईस सूत्र पद—

1. **जाति**—जो सज्जातीय मनुष्य अपनी जाति आदि का अहंकार न करके पांच परमेष्ठी के ही जाति आदि गुणों का आदर करके उनके चरणों की सेवा करता है वह अगले जन्म में दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार उत्तम जातियों को प्राप्त होता है। इन्द्र के 'दिव्या' जाति होती है, चक्रवर्तियों के 'विजयाश्रिता', अरहन्त देव के 'परमा' और सिद्ध जीवों के आत्मा से उत्पन्न हुई 'स्वा' जाति होती है। ''

2. **मूर्ति**—जो मुनि अपने शरीर को कृश करते हुये षट्काय के जीवों का रक्षण करते हैं वे अगले भव में दिव्या, विजयाश्रिता व परमा मूर्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

3. **लक्षण**—अनेक लक्षणधारी भी मुनि जिनेन्द्रदेव के लक्षणों का चिंतवन करते हुये भवांतर में सर्वोत्तम लक्षणों को प्राप्त कर लेते हैं।

4. **सुन्दरता**—मुनि अपने सौंदर्य को मलिन करते हुये तपश्चरण के बल से अनुपम सौंदर्य प्राप्त कर लेते हैं।

5. **प्रभा**—जो अर्हंतदेव की प्रभा का ध्यान करते हैं वे दिव्य प्रभा को प्राप्त कर लेते हैं।

6. **मंडल**—जो मुनि तेजोमय जिनेंद्रदेव की आराधना करते हैं वे तेजोमंडल से उज्जवल हो जाते हैं।

7. **चक्र**—जो पहले के अस्त्र , शस्त्रादि से रहित होकर जिनेंद्रदेव की भक्ति करते हैं वे धर्मचक्र के अधिपति हो जाते हैं।

8. अभिषेक—जो मुनि स्नान, संस्कार आदि छोड़कर केवलीजिन का आश्रय लेते हैं वे मेरु के मस्तक पर अभिषेक को प्राप्त होते हैं।

9. नाथता—जो अपने स्वामीपने को छोड़कर परम स्वामी जिनेंद्रदेव की उपासना करते हैं वे जगत के द्वारा सेवनीय त्रिभुवन के नाथ हो जाते हैं।

10. सिंहासन—जो मुनि घर के सुन्दर आसनों को छोड़कर काष्ठ आदि आसनों पर बैठते हैं वे दिव्य सिंहासन पर आरुढ़ होकर तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

11. उपधान—जो मुनि तकिया आदि छोड़कर भुजा पर सिर रखकर शयन करते हैं वे महा अभ्युदय रूप देवों द्वारा कृत दिव्य उपधान को पा लेते हैं।

12. छत्र—जो मुनि शीतल छत्री आदि का त्याग कर देते हैं वे तीन छत्र को प्राप्त कर लेते हैं।

13. चामर—जो पंखे आदि की हवा न करके जीवों की दया पालते हैं वे मुनि देवों द्वारा चमरों से सेवित होते हैं।

14. घोषणा—जो मुनि संगीत आदि का त्याग कर तपश्चरण करते हैं, उनका विजय देवदुंदभि द्वारा घोषित किया जाता है।

15. अशोक वृक्ष—जो मुनि बगीचों के वृक्षों की छाया छोड़कर तप करते हैं वे अशोक वृक्ष प्रातिहार्य को प्राप्त कर लेते हैं।

16. निधि—जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्मम हो जाते हैं उनके दरवाजे पर नव निधियाँ पहरा देती हैं।

17. गृहशोभा—जो निज घर को छोड़कर मुनि बनते हैं उनके लिये इन्द्र श्रीमंडप का निर्माण करता है।

18. अवगाहन—जो तप हेतु सघन वन में विचरते हैं उन्हें तीनों जगत् की अवकाश देने वाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् समवसरण बन जाता है।

19. क्षेत्रज्ञ—जो क्षेत्र, मकान आदि का त्याग कर शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं उन्हें तीनों जगत् के क्षेत्र को अपने अधीन रखने वाला ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है।

20. आज्ञा—जो आज्ञा देने का अभिमान छोड़कर मौन धारण करते हैं सर्व सुर–असुर उनकी आज्ञा शिर पर धारण करते हैं।

21. सभा—जो अपने परिजन आदि की सभा—गोष्ठी का त्याग करते हैं उन्हें दिव्य समवसरण सभा में विराजने का गौरव प्राप्त होता है।

22. कीर्ति—जो अपने गुणों की प्रशंसा करना छोड़ देते हैं तथा स्तुति–निंदा में समभावी होते हैं उनकी स्तुति सौ इंद्र मिलकर करते हैं।

23.वंदनीयता—जो अरहंत देव की वंदना करते हैं वे तीनों जगत् के जीवों से वंद्य हो जाते हैं ।

24. वाहन—जो पादत्राण और सवारी का त्याग करके दिगम्बर चर्या से पैदल चलते हैं उन्हें कमलों के मध्य चरण रखने योग्य अरहंत अवस्था प्राप्त होती है।

25. भाषा—जो वचन गुप्ति को धारण कर या भाषा समिति का पालन कर तप करते हैं उन्हें समस्त—असंख्यात जीवों को संतुष्ट करने वाली दिव्यध्वनि का प्रातिहार्य प्राप्त होता है।

26. आहार—जो मुनि नाना उपवास करके या नियमित आहार करके पारणा करते हैं उन्हें दिव्य तृप्ति, विजय तृप्ति, परम तृप्ति और अमृत तृप्ति ये चारों तृप्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

27. सुख—जो मुनि इन्द्रियजनित और कामजनित सुख को छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरण करते हैं उन्हें परमानंदमय अनंत अव्याबाध सुख प्राप्त हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रव्रज्या रूपी चिंतामणि का फल सर्वोत्तम मोक्ष है और जिससे यह अर्हंत देव की जाति, मूर्ति आदि की प्राप्ति होती है, मनुष्य पर्याय को पाकर ऐसी प्रव्रज्या नामक जिनदीक्षा को ग्रहण करके अपना जीवन सफल करना चाहिये और अनंत संसार के परिभ्रमण को जलांजलि दे देनी चाहिये और यदि आप जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकते हैं तो तब तक उन जिनमुद्राधारी मुनियों के चरणों में अपनी श्रद्धा और भक्ति रखते हुये उनकी वंदना, पूजा करनी चाहिये, उन्हें आहारदान आदि देकर उनकी यथोचित वैयावृत्य करनी चाहिये। यह आप और हम सबका परम कर्तव्य है जो कि स्वयं के लिये हितकर है।

3.2 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1—ग्यारह महत्त्वपूर्ण स्थानों में से एक—

(क) जिनप्रतिमा ☐
(ख) राग ☐
(ग) द्वेष ☐

प्रश्न 2—मुनियों का आकार कौन सी मुद्रा है ?

(क) चक्रवर्ती मुद्रा ☐
(ख) जिनमुद्रा ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 3—तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों से पवित्र स्थल किस नाम से जिनागम में प्रसिद्ध हैं ?

(क) अतिशय क्षेत्र ☐
(ख) सिद्धक्षेत्र ☐
(ग) तीर्थ ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—जंगम प्रतिमा का स्वरूप बतलाइए ?

प्रश्न 2—द्रव्य की अपेक्षा अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप बताएं ?

प्रश्न 3—जिनबिम्ब और जिनमुद्रा में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 4—मार्गणाएं कितनी और कौन–कौन सी हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—आचार्य श्री जिनसेन द्वारा उल्लिखित प्रव्रज्या के कितने और कौन–कौन से भेद हैं; नामोल्लेख करते हुए किन्हीं आठ के लक्षण बताइए ?

पाठ 4—सम्यक्त्वचरण एवं संयमचरण चारित्र

4.1 सम्यक्त्वचरण चारित्र—

वीतराग सर्वज्ञदेव ने चारित्र के दो भेद किये हैं—सम्यक्त्वचरण चारित्र और संयमचरण चारित्र। इन्हें दर्शनाचार चारित्र और चारित्राचार लक्षण चारित्र भी कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि—हे भव्यजीवों! इन दोनों में पहले सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाने के लिये उसमें मल को उत्पन्न करने वाले ऐसे शंका आदि दोषों का त्याग करो तथा नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और इन प्रभावना सम्यक्त्व के इन आठ गुणों को धारण करो। इन आठ गुणों से विशुद्ध सम्यक्त्व ही जिनसम्यक्त्व कहलाता है, यह मोक्ष की प्राप्ति के लिये मूल कारण है। जो महापुरुष ज्ञान से संयुक्त इस प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र का आचरण करते हैं तथा इस सम्यक्त्वचरण से शुद्ध हुये संयमचरण चारित्र को भी धारण कर लेते हैं वे मूढ़दृष्टि रहित ज्ञानी जीव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

इस सम्यक्त्वचरण चारित्र के आठ गुण हैं जो कि पालन करने योग्य हैं और पच्चीस मल दोष हैं जो छोड़ने योग्य हैं।

4.1.1 सम्यक्त्वचरण चारित्र के आठ गुण—

1. **नि:शंकित**—सात प्रकार के भयों से रहित होना, बौद्ध आदि अन्य दर्शन और जैनाभास मत से मुक्ति नहीं मानना तथा अंजनचोर के समान जिनेंद्रदेव के वचनों में दृढ़ श्रद्धान रखना।

2. **नि:कांक्षित**—सम्यक्त्व और व्रतों के फलस्वरूप राज्यवैभव, देवपद, इंद्रपद आदि इहलोक–परलोक सुखों की वांछा नहीं करना।

3. **निर्विचिकित्सा**—रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर सम्बन्धी मल आदि को देखकर ग्लानि नहीं करना।

4. **अमूढ़दृष्टि**—जिनेंद्र भगवान के वचनों में शिथिलता नहीं करना अथवा अन्य मतों में मोह को प्राप्त नहीं होना, अन्य संप्रदाय के नाना चमत्कारों को देखकर उसमें नहीं लुभाना।

5. **उपगूहन**—जिनधर्म में स्थित बालक तथा वृद्ध आदि असमर्थजनों के दोष छिपाना।

6. **स्थितिकरण**—सम्यक्त्व और व्रतों से च्युत होते हुये मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक फिर से उसी में स्थिर कर देना।

7. **वात्सल्य**—धर्मात्माजनों में अकृत्रिम स्नेह रखना, उनके ऊपर आये हुये उपसर्ग को दूर करना जैसे कि विष्णु कुमार मुनि ने श्री अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का उपसर्ग निवारण करके वात्सल्य गुण प्रकट किया था।

8. **प्रभावना**—जिनधर्म का उद्योत करना तथा अन्य धर्म के प्रभाव को विध्वंस करना । शास्त्रार्थ, मंत्र, तंत्र, विद्या, दान, पूजा, तपश्चरण, महामहोत्सव आदि के द्वारा धर्म का प्रभाव फैलाना।

इन आठ गुणों को श्री समंतभद्रस्वामी ने आठ अंग नाम दिये हैं और उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि इनमें से यदि एक भी अंग नहीं है तो वह सम्यग्दर्शन संसार की परम्परा को छेद करने में समर्थ नहीं हो सकता है जैसे कि एक अक्षर से भी न्यून मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता है।

4.1.2 पच्चीस मल दोष—

इस प्रकार से इन नि:शंकित आदि आठ गुणों से विपरीत शंका आदि आठ दोष हो जाते हैं । अपने ज्ञान का, अपनी पूजा–प्रतिष्ठा का, अपने कुल का, जाति का, बल का, ऐश्वर्य या ऋद्धि का, तपश्चरण का और रूप का घमंड करना मद है। इन आठ निमित्तों से मद के भी आठ भेद हो जाते हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और उनके भक्त ये छह अनायतन हैं अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र तथा इनके धारक पुरुष यह छह अनायतन हैं। चूँकि ये सम्यक्त्व के आयतन—स्थान नहीं हैं अतएव ये अनायतन कहलाते हैं । सूर्य ग्रहण–चन्द्र ग्रहण के समय स्नान करना, नदी आदि में स्नान कर पुण्य मानना आदि लोकमूढ़ता है। वर की आशा से रागी–द्वेषी देवों की उपासना करना देवमूढ़ता है । परिग्रह तथा आरम्भ से सहित पाखंडी साधुओं की उपासना करना गुरुमूढ़ता है। इस तरह शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन

और तीन मूढ़ता ये पच्चीस मल दोष हैं जो कि सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं।

अब हमें विचार करना है कि यदि हमारे हृदय में जिनेंद्रदेव के प्रति दृढ़ आस्था है तो हम उनकी आज्ञा के अनुसार आठ गुणों को धारण कर रहे हैं या नहीं ? नि:शंकित आदि गुणों में धन या तन खर्च करने की ही आवश्यकता हो ऐसी बात नहीं है। केवल एक प्रभावना गुण ही धन के द्वारा भी किया जाता है और मन, वचन, काय से तो किया ही जाता है। कहने का मतलब है कि इन गुणों का मन,वचन, काय से ही विशेष सम्बन्ध है। कुछ श्रम विशेष की आवश्यकता नहीं है।

वर्तमान के भौतिक युग में अनेक प्रकार के नये–नये आविष्कार देखने में आते हैं । उस समय प्राय: बहुत से लोग जिनागम के वचनों की अवहेलना, अश्रद्धा करने लगते हैं तथा कुछ लोग किसी साधु आदि में किंचित् भी दोष देखकर सभी साधुओं में उसको बढ़ा–चढ़ाकर आरोप किया करते हैं। वे बेचारे व्यर्थ ही अपने नि:शंकित और अमूढ़दृष्टि गुण को तथा वात्सल्य, उपगूहन, स्थितिकरण गुण को जलांजलि देकर अपने सम्यक्त्व को मलिन कर लेते हैं।

यदि मुनिव्रत या श्रावक के व्रतरूप संयमचरण का अनुष्ठान नहीं हो पाता है तो कम से कम अपने सम्यक्त्व को निर्दोष बनाते हुये इन पच्चीस मल दोषों से अपने को बचाने का प्रयत्न करो। धर्म और धर्मात्माओं में नैसर्गिक स्नेह जब उमड़ पड़ता है तब समझो तुम्हारे अन्दर वात्सल्यगुण अवतरित हो चुका है। चाहे जैसे चमत्कारिक प्रसंग दिख रहे हों किन्तु जिनेंद्रदेव ने जैसा लोक–अलोक आदि का वर्णन किया है वैसा ही है अन्यथा नहीं हो सकता इसी का नाम नि:शंकभाव है, इसे आस्तिक्य गुण भी कहते हैं, इत्यादि प्रकार से सतत ही आठ गुणों के स्वरूप का विचार करते हुये अपने को उन गुणरूप बना लेना चाहिये और पच्चीस दोषों को हानिकर समझते हुए उनसे सर्वथा दूर हो जाना चाहिए, तभी हम सम्यक्त्वचरण चारित्र के आराधक कहलायेंगे।

4.2 संयमचरण चारित्र–श्रावकधर्म—

संयमचरण के दो भेद हैं—सागार धर्म और अनगार धर्म। सागार चारित्र परिग्रह सहित गृहस्थ के होता है और अनगार चारित्र मुनियों के होता है। श्री कुंदकुंद भगवान सागार चारित्राचार का निरूपण करते हैं—

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग । ये सब देशव्रत अथवा सागार चारित्राचार हैं। इन्हीं को श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें भी कहते हैं।

प्रथम दर्शनप्रतिमाधारी को सामान्यतया आठ मूलगुण धारण करना होता है, सात व्यसनों का त्याग करना पड़ता है और सम्यग्दर्शन की भले प्रकार रक्षा करनी होती है।

आठ मूलगुण—बड़, पीपल, पाकर, ऊमर औ कठूमर इन पाँच फलों का तथा मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारों का त्याग करना आठ मूलगुण है अथवा द्वितीय प्रकार से (1) मद्य का त्याग, (2) मांस का त्याग, (3) मधु का त्याग, (4) रात्रिभोजन का त्याग, (5) पांच उदुंबर फलों का त्याग, (6) पंचपरमेष्ठी की नुति अर्थात् देवदर्शन, (7) जीवदया और (8) जल छानकर पीना ये आठ मूलगुण माने गये हैं।

सात व्यसनों के नाम—जुआ खेलना, मद्य पीना, मांस खाना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन महापाप रूप हैं। विद्वान् लोग इनका सेवन नहीं करते हैं। सम्यक्त्व की रक्षा करने के लिये अन्यमत सम्बन्धी कल्पित शास्त्रों का श्रवण न करके अपनी बुद्धि को विशुद्ध रखना चाहिये।

ऊपर कहे हुये सामान्य आचरण के अतिरिक्त दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक को निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है—

मूली, कमल की नाल, मृणाल, लहसुन, तुंबी फल, कुसुम की शाक, सूरणकंद, अरणी, वरण, सोहजना और करीर इन फलों का त्याग कर देना चाहिये। नमक, तेल और घृत में रखे हुये फल, अचार, मुरब्बा, दो मुहूर्त के बाद का मक्खन

तथा मांसादि का सेवन करने वाले लोगों के बनाने और खाने के बर्तनों का त्याग करना चाहिये। चमड़े में रखे हुये जल, तेल और हींग का त्याग करना होता है।

भोजन करते समय हड्डी, मदिरा, चमड़ा, मांस, खून, पीव, मल, मूत्र और मृतप्राणी के देखने से, त्यागी हुई वस्तु के सेवन से, चांडाल आदि के देखने और उनके शब्द सुनने से भोजन में अंतराय मानकर भोजन का त्याग कर देना चाहिये तथा भोजन में केश या मृत चिंवटी, मक्खी आदि आ जाने पर भी अंतराय करके भोजन छोड़ देना चाहिये।

घुने अन्न आदि, जिन पर फफूंदी आ गई है ऐसे खाने के पदार्थ और चलित स्वाद वाले भोजन का भी त्याग कर देना चाहिये। सोलह प्रहर के बाद का दही और तक्र नहीं लेना चाहिये। कच्चे दूध या कच्चे दूध से बने हुये दही आदि में दो दल वाले अन्न को मिलाने से द्विदल होता है वह भी सम्यग्दृष्टि को नहीं लेना चाहिये। पान, औषधि और पानी का भी रात्रि में त्याग कर देना चाहिये। यह भी दर्शनप्रतिमा का आचार है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ यद्यपि व्रतों को ग्रहण नहीं करता है तो भी आठ मूलगुण का निरतिचार पालन करता है अतः उसमें मर्यादा के उपरांत की वस्तुओं का, बाजार में बनी हुई चीजों का—पकवान और मिठाइयों का, बाजार में पिसे हुये आटे, मसाले आदि का त्याग करना होता है। शुद्ध जल और शुद्ध भोजन ही ग्रहण करना होता है। रात्रि में भी चारों प्रकार के आहार का, औषधि का सर्वथा त्याग करना होता है। सात व्यसनों का भी अतिचार सहित त्याग करना होता है एवं पंचपरमेष्ठी में प्रगाढ़ भक्ति रखते हुये देवदर्शन, पूजन का नियम करना होता है। तभी वह पहली प्रतिमाधारी कहा जा सकता है।

वह न्याय से धन कमाता है, जिस व्यापार में महान् हिंसा हो ऐसे व्यापार नहीं करता है, जैसे कि शराब, गांजा, भांग, खाद या जूते आदि का व्यापार नहीं करता है। मुनियों के प्रति पूर्ण अनुराग रखता हुआ समय–समय पर उनको आहारदान, उनकी भक्ति, सेवा–सुश्रूषा आदि करता रहता है। अपने धन का सदुपयोग तीर्थयात्रा, जिनबिंब प्रतिष्ठा, सिद्धचक्र विधान, तीनलोक मंडल विधान, इंद्रध्वज विधान आदि महान धर्म कार्यों में करता है। अपने अमूल्य समय का सदुपयोग धर्मचर्चा, स्वाध्याय, गुरुओं के सत्संग आदि में करता है। इस तरह प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्तव्य सरल और सुसाध्य है। प्रत्येक धर्मात्मा पुरुष या स्त्री इस दर्शनप्रतिमा को सहज ही ग्रहण कर सकते हैं और आगे व्रतप्रतिमा आदि में उत्साह बढ़ाते हुये उनको ग्रहण कर सकते हैं। आज के युग में भी बहुत से गृहस्थ श्रावक ऐसे हैं जो बाजार या होटलों में नहीं खाते हैं। चाहे जैसी या चाहे जिसके हाथ की बनी हुई कोई चीज नहीं खाते हैं। महिलायें तो अधिकांश मात्रा में ऐसी होती हैं जो कि अपने हाथ से ही अपने घर में हर एक चीज, हर प्रकार के पकवान और मिठाइयाँ बना लेती हैं। उन्हें इस दर्शनप्रतिमा को गुरु के सान्निध्य में ग्रहण कर लेना चाहिये।

अब द्वितीयप्रतिमा के अंतर्गत बारह व्रतों को कहते हैं—

बारहव्रत—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह बारह व्रत रूप चारित्र श्रावक का संयमाचरण है। पांच पापों से विरत होना व्रत है। वह व्रत एकदेश और सर्वदेश की अपेक्षा दो प्रकार का है। एक देशव्रत को अणुव्रत तथा सर्वदेश विरति को महाव्रत संज्ञा है। जो अणुव्रतों का उपकार करते हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं तथा जिनसे मुनिव्रत धारण करने की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। स्थूल त्रसवध का त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है। स्थूल असत्य कथन का त्याग करना सत्य अणुव्रत है। स्थूल चोरी का त्याग करना अचौर्य अणुव्रत है। परस्त्री का त्याग करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है तथा परिग्रह और आरम्भ का परिमाण करना अर्थात् स्वर्ण आदि परिग्रह तथा सेवा, खेती, व्यापार आदि का परिमाण करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। ऐसे ये पांच अणुव्रत होते हैं। दिशा और विदिशाओं का प्रमाण करना अर्थात् पूर्व–पश्चिम आदि दिशाओं में तथा ईशान आदि विदिशाओं में आने–जाने की सीमा को निश्चित कर लेना पहला दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है। अनर्थक–निरर्थक कार्यों का त्याग दूसरा अनर्थदण्डत्याग नाम का गुणव्रत है। इसके पांच भेद हैं—

अपध्यान, दुःश्रुति, पापोपदेश, हिंसादान और प्रमादचर्या। भोग और उपभोग की वस्तु में परिमाण करना सो तीसरा भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत है। जो वस्तु एक बार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं जैसे भोजन आदि। जो वस्तु बार–बार भोगने में आती है वह उपभोग है जैसे वस्त्र, स्त्री आदि। ये तीन गुणव्रत हैं।

सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूज्य और अन्तकाल में सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत होते हैं । सामायिक में चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और समाधिभक्तिपूर्वक क्रिया की जाती है। यह सामायिक नाम का पहला शिक्षाव्रत है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को व्रत करना प्रोषध नाम का शिक्षाव्रत है। इसके उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हैं। चार प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास करना उत्तम प्रोषधोपवास है। जलमात्र ग्रहण कर लेना मध्यम है, आचाम्ल भोजन करना जघन्य है। अतिथियों को आहार देना अतिथिपूज्य अथवा अतिथि संविभागव्रत है। इस व्रत में श्रावक नवधाभक्ति पूर्वक मुनि आदि पात्रों को आहार आदि देता है। यह तृतीय शिक्षाव्रत है। मरणकाल में काय और कषाय को कृश करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना सो सल्लेखना व्रत है यह चौथा शिक्षाव्रत है।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने सल्लेखनाव्रत को शिक्षाव्रत में ग्रहण किया है। इसी प्रकार मुनियों के पाक्षिक प्रतिक्रमण में श्रीगौतमस्वामी ने भी सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत कहा है। यथा—**तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामाइयं, विदिए पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागो चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं चेदि।**

इन गौतमस्वामी और कुन्दकुन्ददेव के अनंतरवर्ती श्री उमास्वामी आचार्य ने गुणव्रत और शिक्षाव्रतों में अन्तर माना है। यथा—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगपरिभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं । पुनः आगे मरण के काल में सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करना ऐसा कहा है।

इसी प्रकार से श्री स्वामी समन्तभद्र ने दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत और भोगोपभोग परिणाम व्रत को गुणव्रत कहा है। देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य को शिक्षाव्रत कहा है। यह वैयावृत्य अतिथिसंविभाग का विस्तृत रूप है। इसके लक्षण में श्री कुंदकुंद स्वामी ने स्वयं चार प्रकार के दान को देने का विधान और मुनियों की सेवा–शुश्रूषा का विधान किया है।

4.3 संयमचरण चारित्र–मुनिधर्म—

अब मुनियों के संयमचरण चारित्र को प्रस्तुत किया जा रहा है, इसलिये नहीं कि मुनियों के प्रति अश्रद्धा करके अपना सम्यग्दर्शन मलिन करें बल्कि इसलिये कि हम भी मुनि बनकर अपनी आत्मा को मोक्ष के निकट ले जावें और जब तक मुनि नहीं बन सकते तब तक मुनि होने की भावना भावें एवं आजकल के निकृष्ट काल में भी जो मुनि दिख रहे हैं उनके प्रति नतमस्तक हो जावें।

पांच इन्द्रियों को वश में करना, पच्चीस क्रियाओं के अर्थात् पच्चीस भावनाओं सहित पांच महाव्रतों का धारण करना, पांच समितियों का पालन करना और तीन गुप्तियों का धारण करना यह मुनियों का संयमचरण चारित्र है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ, चेतन तथा अचेतन पदार्थों में राग–द्वेष नहीं करना **पंचेंद्रिय संवर** हैं। त्रस और स्थावर की हिंसा से पूर्णतया विरत होना **अहिंसा महाव्रत** है। असत्य वचन से विरत होना **सत्य महाव्रत** है। चूँकि बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण से विरत होना **अचौर्य महाव्रत** है। स्त्रीसेवन से विरत होना **ब्रह्मचर्य महाव्रत** है और परिग्रह का सर्वथा त्याग होना सो **अपरिग्रह महाव्रत** है। इनका महापुरुष ही साधन करते हैं, पूर्व में भी महापुरुष–तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि ने इनका आचरण किया है और स्वयं ही ये महान् हैं अतः इन्हें महाव्रत कहते हैं अर्थात् वृषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकरों, वृषभसेन को आदि लेकर गौतम स्वामी पर्यंत सभी गणधरों ने तथा

जम्बूस्वामी पर्यंत अनेक मुक्तिगामी जीवों ने इनको धारण किया है। और तो क्या अनादिकाल से आज तक अनन्तानन्त महापुरुषों ने इनको धारण किया है। अभी भी महापुरुष ही इनको ग्रहण करते हैं और भविष्य में भी अनंतानंत महापुरुष इन महाव्रतों का अनुष्ठान करके महान् परमात्म पद प्राप्त करेंगे अतएव ये पांचों व्रत महान् हैं।

अहिंसाव्रत की भावनायें—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति , ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन ये पांच अहिंसाव्रत की भावनायें हैं अर्थात् वचन को वश में रखना, मन को वश में रखना, चार हाथ जमीन देखकर चलना, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणों को पहले देखकर तथा मयूर पिच्छी से साफ कर धरना–उठाना और बार–बार देखकर–शोधकर भोजन करना ये पाँच भावनायें हैं।

सत्यव्रत की भावनायें—क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह इनके त्यागरूप पांच भावनायें सत्यव्रत की हैं । श्री गौतम स्वामी ने भी कहा है कि—" अक्रोध, अलोभ, भय और हास्य का त्याग और अनुवीचिभाषाकुशल ये पांच भावनायें हैं।" यहाँ पर जो अमोह भावना है उसी से अनुवीचि भाषा में कुशल यह भावना आ जाती है। पूर्वाचार्यों को सूत्र की परम्परा के अनुकूल बोलना ही अनुवीचि भाषा कुशल भावना है।

अचौर्यव्रत की भावनायें—शून्यागार निवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, एषणा शुद्धि और सहधर्मी में अविसंवाद ये पांच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं अर्थात् शून्य स्थान—पर्वत की गुफा आदि में निवास करना, जो ग्राम या निवासस्थान ऊजड़ हो गये हैं या राजा आदि के आक्रमण से उजड़ गये हैं, वहाँ के निवासी अपना स्वामित्व छोड़कर अन्यत्र चले गये हैं, उन्हें विमोचितावास कहते हैं ऐसे स्थानों में रहना। ठहरते समय पर का उपरोध—दूसरों को रुकावट नहीं करना परोपरोधाकरण है। चरणानुयोग के अनुसार शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा शुद्धि है और सहधर्मियों से यह वस्तु हमारी है, यह तुम्हारी है इत्यादि विसंवाद नहीं करना यह पांच भावनायें हैं।

ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें—महिलालोकन विरति, पूर्व रतिस्मरण विरति, संसक्त्व–सतिविरति –विकथाविरति और पुष्टिरससेवनविरति ये पांच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें हैं अर्थात् रागभाव से स्त्रियों के अंगों का अवलोकन नहीं करना, पहले के भोगे हुये भोगों का स्मरण नहीं करना, स्त्रियों के अत्यन्त निकटवर्ती वसतिका में नहीं रहना और अपने शरीर को संस्कारित नहीं करना, विकथा—स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं का त्याग करना और कामोत्तेजक रसों का सेवन नहीं करना ये पांच भावनायें ब्रह्मचर्य के लिये मानी गई हैं।

अपरिग्रहव्रत की भावनायें—मनोज्ञ और अमनोज्ञ ऐसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इन पांच इन्द्रियों के विषयों में राग–द्वेष का त्याग करना ये पांच परिग्रह त्याग व्रत की भावनायें हैं। ये कुल पच्चीस भावनायें हैं।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और निक्षेप ये पांच समितियाँ हैं—

चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना **ईर्यासमिति** है, आगम के अनुकूल वचन बोलना **भाषासमिति** है, उद्गम आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार लेना **एषणासमिति** है, पुस्तक आदि वस्तु देख–शोध कर उठाना आदानसमिति और इन वस्तुओं को देख कर रखना निक्षेपसमिति है। अन्यत्र चतुर्थसमिति को **आदाननिक्षेपण** और पंचसमिति को **उत्सर्गसमिति** कहा है और यहाँ पर आदान तथा निक्षेप को अलग–अलग कहा है। सो निक्षेपसमिति में ही उत्सर्ग समिति का अंतर्भाव हो जाता है। इस तरह से पांच इन्द्रिय संवर, पांच व्रत, पच्चीस भावना, पांच समिति और तीन गुप्ति यह चारित्र मुनियों के द्वारा धारण किया जाता है।

वास्तव में इस संयमचरण को पढ़ने का यही सार है कि इसे शक्ति के अनुसार ग्रहण करना चाहिये। अपनी अनंत शक्ति को प्रकट करने का पुरुषार्थ करना चाहिये, न कि पर में छिद्रों का अन्वेषण करके अपनी आत्मा का घात करना चाहिये।

4.4 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1—चारित्र के कितने भेद हैं ?

(क) 2 ☐
(ख) 5 ☐
(ग) 8 ☐

प्रश्न 2—इनमें से कोई एक सम्यक्त्व के आठ अंगों में से एक है—

(क) ज्ञानी होना ☐
(ख) उपगूहन ☐
(ग) विद्यादान देना ☐

प्रश्न 3—जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शिथिलता नहीं करना कौन सा अंग कहलाता है ?

(क) स्थितिकरण ☐
(ख) अमूढ़दृष्टि ☐
(ग) वात्सल्य ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—श्रावक की प्रतिमाएं कितनी और कौन–कौन सी हैं ?

प्रश्न 2—अष्ट मूलगुण कौन–कौन से हैं ? दोनों प्रकार से बताइए ?

प्रश्न 3—सप्त व्यसनों के नाम बताइए ?

प्रश्न 4—श्रावक के बारह व्रतों के नाम क्या–क्या हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—अहिंसादि पाँचों महाव्रतों की पाँच–पाँच भावनाएँ कौन–कौन सी हैं, वर्णन कीजिए ?

इकाई–5 शुद्धात्म पथ प्रदर्शक-द्रव्यानुयोग

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है–

(1) पंचास्तिकाय सार

(2) शुद्धात्म तत्त्व विवेचन

(3) मोक्ष प्राप्ति में व्यवहारनय भी उपादेय है

(4) परमात्मप्रकाश–एक अध्ययन

पाठ 1–पंचास्तिकाय सार

द्रव्यानुयोग का स्वरूप

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते।।

अर्थ—जो जीव-अजीव तत्त्वों को, पुण्य-पाप को, आस्रव, संवर, बंध और मोक्ष इन सभी तत्त्वों को सही-सही समझाता है; वह दीपक के सदृश द्रव्यों को प्रगट दिखलाने वाला द्रव्यानुयोग है। यह श्रुतज्ञान के प्रकाश में निज और पर का भान कराने वाला है।

1.1 यह कथा प्रसिद्ध है कि 'श्री कुमारनंदि सिद्धांतदेव' के शिष्य 'श्री कुंदकुंदाचार्य' जिनके पद्मनंदि, ऐलाचार्य, वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ ये पांच नाम भी प्रसिद्ध हैं, वे पूर्वविदेह क्षेत्र में गये। वहां वीतराग सर्वज्ञदेव श्री सीमंधर स्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन किए तथा उनके मुखकमल से प्रकट हुई दिव्यध्वनि को सुन करके, उससे पदार्थों को समझकर शुद्ध आत्मीक तत्त्वरूप सार अर्थ को ग्रहण किया, फिर वहां से लौटकर यहां भरतक्षेत्र में आकर उन्होंने अंतरंग तत्त्व और बहिरंग तत्त्व को मुख्य और गौणरूप से बतलाने के लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि के शिष्यों को समझाने के लिए इस 'पंचास्तिकाय' नामक प्राभृत शास्त्र को रचा है।

यहाँ उस पंचास्तिकाय ग्रंथ का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें ग्रंथ के मंगलाचरण से लेकर पाँचों अस्तिकायों का वर्णन आध्यात्मिक भाषा में वर्णित है। विशेष जानकारी के लिए मूल ग्रंथ का स्वाध्याय करना चाहिए।

इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं।।1।।

सौ इन्द्रों से वंदनीक, तीन जगत को हितकारी, मधुर और स्पष्ट वचन कहने वाले, अनंत गुणों के धारी तथा भव परम्परा को जीतने वाले अरहंतों को नमस्कार हो।

यहाँ मंगलाचरण रूप गाथा का यह सामान्य अर्थ हुआ। इस ग्रंथ की तात्पर्यवृत्ति टीका के कर्ता श्री जयसेनाचार्य ने अपनी टीका में इस गाथा का बहुत ही विशद विवेचन किया है।

1.2 मंगलाचरण में व्यक्त अरहंतों की विशेषताएँ–

प्रथम पद है 'इंदसदवंदियाणं' जो भगवान् सौ इन्द्रों से वंदित हैं, वे सच्चे आप्त या सच्चे देव होते हैं। भवनवासी देवों के 40, व्यंतर देवों के 32, कल्पवासी देवों के 24, ज्योतिषी देवों के दो (चन्द्र और सूर्य) तथा मनुष्यों में चक्रवर्ती 1 और तिर्यंचों में सिंह 1, ऐसे 40+32+24+2+1+1=100 इन्द्र होते हैं। इन सभी से वंद्य अरहंत भगवान पूज्य हैं।

दूसरा विशेषण है—'तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं' जिनके वचन तीनों जगत के प्राणियों के लिए हितकर हैं चूंकि मोक्ष का मार्ग बतलाने वाले हैं और सर्व प्राणियों के अभय का, प्राणिमात्र की रक्षा का, अहिंसा का, उपदेश देने वाले हैं। कर्णप्रिय, मन को सुखदायी, परमानन्द सुख को प्रदान करने वाले होने से मधुर हैं। संशय, विपरीत और अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित होने से स्पष्ट अर्थात् व्यक्त हैं अर्थात् अरहंत देव के वचन तीनों जगत के जीवों के लिए हितकर, मधुर और विशद हैं अथवा अरहंत देव की दिव्यध्वनि को सर्वजीव अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं इसलिए अरहंतदेव की देशना सर्वभाषामय है अथवा दिव्यध्वनि 'सात सौ अठारह' भाषा रूप मानी गई है। कर्णाटक, मागध, मालवा, लाट, गौड और गुर्जर इन छहों के 3-3 भेद करने से महाभाषा अठारह हो जाती है तथा सात सौ लघु भाषायें हैं। इन 18 महाभाषा और 700 लघु भाषाओं में प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भाषाओं में भगवान के समवसरण में दिव्यध्वनि सुनकर स्पष्ट अर्थबोध प्राप्त कर लेते हैं। अनेक भाषाओं में वह वाणी एक ही साथ सबको अपनी-अपनी भाषा में सुनाई देती है इसलिए विशद है।

अरहंत देव की वाणी के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में भी कहा है—

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पंदितोष्टद्वयं।
नो वांछाकलितं न दोषमलिनं नोच्छ्वासरुद्धक्रमं।।
शांतामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः।
तन्नः सर्वविदो विनष्टविपदः पायादपूर्वं वचः।।

जो सभी जीवों का हित करने वाले हैं, वर्ण अक्षररूप नहीं होने से अनक्षर हैं, दोनों ओठों के हलन-चलन बिना प्रगट होते हैं, इच्छा के बिना प्रगट होते हैं, दोषों से मलिन नहीं हैं, उसमें श्वासोच्छ्वास के रुकने का क्रम नहीं है, क्रोधरूपी विष को शान्त कर परस्पर के वैर-भाव से रहित हुए पशुगण भी जिसे सुनते हैं, सर्व विपदाओं को नष्ट करने वाले ऐसे अरहंत देव के अपूर्व वचन हमारी रक्षा करें।

तीसरा विशेषण है—'अन्तातीदगुणाणं' जिन में केवलज्ञान आदि अनंतगुण पाये जाते हैं इसलिए वे अरहंत देव गणधर, ऋद्धिधारी महामुनीश्वर आदि के द्वारा भी पूज्य हैं।

चौथा विशेषण है—'जिदभवाणं' भव अर्थात् संसार, जिन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव, इन पांच परिवर्तनरूप संसार को जीत लिया है—समाप्त कर दिया है वे अरहन्त देव 'जितभव' इस विशेषण से विशिष्ट हैं।

अब **पांचवा पद जो स्वयं विशेष** है, वह णमो जिणाणं है। ऐसे जिनेन्द्रदेव को नमस्कार हो। जो कर्म शत्रुओं को जीतने वाले हैं वे जिन हैं। ऐसे अरहंत देव तीर्थंकर भगवान् ही हैं उन्हें ही नमस्कार किया गया है। नयों की अपेक्षा नमस्कार को देखिए—

अनंतज्ञान आदि गुणों के स्मरणरूप भाव नमस्कार है, यह अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ही है। 'नमो जिनेभ्यः' ऐसे वचनों के उच्चारण करने रूप द्रव्य नमस्कार होता है वह असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से है और अपनी शुद्धात्मा में ही आराध्य-आराधक भाव होना निर्विकल्प ध्यान में ही होता है अतः यह नमस्कार आज संभव नहीं है।

1.3 प्रत्येक ग्रंथ के वर्णन में सर्वप्रथम मंगल आदि छह अधिकारों को जान लेना आवश्यक रहता है—

मंगलणिमित्तहेऊ परिमाणा णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिओ।।

आचार्य देव मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम तथा कर्ता इन छहों को पहले कहकर अनंतर शास्त्र का व्याख्यान करें।

मंगल—मलं—पापं गालयति विध्वंसयतीति मंगलं अथवा मंगं पुण्यं सुखं तल्लाति आदत्त गृण्हाति वा मंगलं। 'मं' अर्थात् मल या पाप को जो गलावे—विध्वंस करे सो मंगल है अथवा "मंग" अर्थात् पुण्य को—सुख को लावे—देवे सो मंगल है। यहां आचार्यदेव शास्त्र की आदि में मंगल के लिए चार प्रकार के फल को चाहते हुए तीन प्रकार के देवता को तीन प्रकार का नमस्कार करते हैं।

चार प्रकार के फल—शास्त्र के प्रारंभ में मंगल करने से नास्तिकता का परिहार होता है, शिष्टाचार का पालन होता है, पुण्य की प्राप्ति होती है और निर्विघ्न शास्त्र रचना पूर्ण होती है।

तीन प्रकार के देव—एक अपने लिए इष्टप्रिय होते हैं, एक जिनका अधिकार या शासन चल रहा है और एक जो अभिमत—मान्य होते हैं।

तीन प्रकार के नमस्कार—एक आशीर्वाद रूप, दूसरे वस्तुस्वरूप कथनरूप, तीसरे नमस्कार रूप।

यह मंगल दो प्रकार का है—एक मुख्यरूप और दूसरा गौणरूप।

मुख्य मंगल—यह जिनेन्द्र गुणस्तवनरूप ही है। कहा भी है—

ग्रन्थ की आदि में, मध्य में और अंत में मंगल करना चाहिए, जिससे विघ्नों का नाश होता है। वह मंगल जिनेन्द्रदेव का गुणस्तवनरूप ही है जैसा कि कहा भी है—

विघ्नाः प्रणश्यंति भयं न जातु, न क्षुद्रदेवाः परिलंघयंति।
यथेष्टांश्च सदा लभंते, जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन।।

अर्थात् जिनेन्द्रदेव का स्तवन करने से विघ्नों का नाश हो जाता है, कभी भय नहीं लगता है, न नीच देव उल्लंघन करते हैं तथा निरंतर ही अपने इच्छित पदार्थों का लाभ होता रहता है।

और भी आचार्यों का अभिमत है कि आदि में मंगल करने से शिष्य शीघ्र ही विद्या के पारगामी हो जाते हैं, मध्य में मंगल करने से विद्या बिना विघ्न के आ जाती है व अंत में मंगल करने से विद्या का फल प्राप्त होता है। ये सब बातें जिनेन्द्रदेव के गुणस्तवन से ही होती हैं अतः यह स्तवन ही मुख्य मंगल है।

गौण मंगल—लोकव्यवहार में जिन्हें मांगलिक माना है वे सब वस्तुयें गौण मंगल हैं। जैसे—सिद्धार्थ—सफेद सरसों, पूर्णकुंभ, वंदनमाला, श्वेतछत्र, श्वेत वर्ण, दर्पण, राजा, कन्या और जयपना।

सिद्धार्थ मंगल क्यों हैं ?—जिन जिनेन्द्रदेवों ने व्रत, नियम, संयम आदि के द्वारा परमार्थ का साधन किया है उनकी 'सिद्ध' यह संज्ञा है इसलिए नाम साम्य की अपेक्षा "सिद्धार्थ"—सफेद सरसों भी लोकव्यवहार में मंगलीक है।

पूर्णकुंभ मंगल क्यों है ?—जो सर्व मनोरथों से और केवलज्ञान से पूर्ण हैं, ऐसे अरहंत इस लोक में पूर्णकुंभ मंगल हैं।

वन्दनमाला मंगल क्यों है ?—भरत चक्रवर्ती ने निकलते और प्रवेश करते समय जो वंदनमालायें बंधवाई थीं उनमें चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिकृति बनवाई थी वे वंद्य थीं, इसलिए वंदनमाला—वंदनवार भी लोक में मंगलीक है।

श्वेत छत्र मंगल क्यों है ?—सर्व जगत के प्राणियों के लिए अरहंतदेव सुख के कर्ता हैं व छत्र के समान रक्षक हैं इसीलिए लोक में सफेद छत्र मंगलीक है।

श्वेतवर्ण मंगल क्यों है ?—अरहंत देव का शुक्लध्यान, शुक्ल लेश्या और अघातिकर्म श्वेत वर्ण के माने गए हैं इसीलिए श्वेतवर्ण भी लोक में मंगल माना गया है।

आदर्श मंगल क्यों है ?—जिनेंद्रदेव के केवलज्ञान में दर्पण के समान सर्वलोक-अलोक झलक रहा है इसीलिये प्रत्येक वस्तु को अपने में प्रतिबिम्बित करने में समर्थ दर्पण भी लोक में मंगलीक माना गया है।

राजा मंगल क्यों है ?—जैसे जिनेंद्रदेव सर्वज्ञ—सर्वलोक के ज्ञाता हैं वैसे ही राजा अपनी प्रजा के सुख दुःख का

ज्ञाता है—प्रजा को सुखी रखकर दुःख दूर करता है इसीलिये लोक में न्यायप्रिय राजा मंगलीक माना जाता है।

बाल कन्या मंगल क्यों है ?—जिनेंद्रदेव मोह आदि कर्मों से रहित होने से विकार रहित हैं इसीलिए बालकन्या भी विकार रहित होने से लोक में मंगलीक है।

जय शब्द मंगल क्यों है ?—जिनेन्द्रदेव ने कर्मरूपी शत्रुओं को जीतकर 'जिन' इस सार्थक नाम को धारण किया है इसलिए 'जय' शब्द भी लोक में मंगलीक हो गया है।'

मतलब यह है कि यदि कोई युद्ध के लिए, व्यापार के लिए या किसी भी इष्ट कार्य के लिए प्रस्थान करता है, तब उसके इष्टजन लोकव्यवहार में सरसों क्षेपण करना, 'जय' बोलना, सामने पूर्णकुंभ, दर्पण आदि रखने रूप मंगलक्रिया करते हैं कि जिससे इसकी यात्रा सफल हो। यही लोकव्यवहार में मंगल माना जाता है। इसमें प्रस्थान या प्रवेश में दही, गरुड़ या भारद्वाज पक्षी, हाथी, मोर, गाय, बैल, बछड़े सहित गाय आदि को देखने से भी मंगल माना जाता है। इनमें भी उपर्युक्त कारण ही घटाये जा सकते हैं।

निबद्ध और अनिबद्ध की अपेक्षा भी मंगल के दो भेद हैं।

निबद्ध मंगल—जो ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं किया जाये, जैसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि। यहां पर भी इस पंचास्तिकाय ग्रंथ में श्री कुंदकुंददेव ने 'इंदसदवंदियाणं' इस रूप से स्वयं निबद्ध मंगल किया है।

अनिबद्ध मंगल—जो अन्य ग्रंथ से लिया जाये, जैसे—जगत्त्रयनाथाय नमः, श्री वर्धमानाय नमः इत्यादि।

मंगल क्यों करना ?

शिष्य—शास्त्र के प्रारंभ में ग्रन्थकार मंगल के लिए पंचपरमेष्ठी के गुणों का स्तवन किसलिए करते हैं ? जो शास्त्र शुरु किया है उसी को कहें, मंगल की आवश्यकता ही क्या है ?

गुरु—नमस्कार रूप मंगल करने से पुण्य होता है और पुण्य से ग्रंथ की पूर्णतारूप कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो जाता है।

शिष्य—ऐसा तो नहीं देखा जाता, कहीं पर तो नमस्कार, दान, पूजा आदि करते हुए भी विघ्न होता दिखाई देता है तथा कहीं पर नमस्कार, दान, पूजा आदि न करते हुए भी निर्विघ्न कार्य दिखाई पड़ता है ?

गुरु—तुम्हारा यह कहना भी योग्य नहीं है, क्योंकि जहां आप्त को नमस्कार या दान, पूजा आदि धर्म के करते हुए भी विघ्न आ जाता है वहां यह समझना चाहिए कि "पूर्व में हुए पाप का ही यह फल है जो कि विघ्न हुए पाप का ही फल है जोकि विघ्न आ गया" इसमें धर्मसाधन मंगल आदि का कोई दोष नहीं है तथा जहां पर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार, दान, पूजा के बिना भी निर्विघ्न कार्य होता देखा जाता है वहां पर ऐसा समझना चाहिए कि 'यह पूर्व में किए हुए धर्म का ही फल है जिससे मेरा कार्य बिना बाधा के सम्पन्न हो गया।'

शिष्य—शास्त्र स्वयं मंगल है या अमंगल है ? यदि स्वयं मंगलरूप है तब पुनः मंगल के लिए मंगल करने का क्या प्रयोजन और यदि अमंगलरूप है तब ऐसे शास्त्र से भला क्या प्रयोजन ?

गुरु—ऐसा कुतर्क नहीं करना, क्योंकि शास्त्र तो मंगलरूप ही हैं, फिर भी भक्ति के लिए मंगल का भी मंगल किया जाता है। जैसा कि कहा है—

प्रदीपेनार्चयेदर्कमुदकेन महोदधिम्।
वागीश्वरीं तथा वाग्भिर्मंगलेनैव मंगलम्।।

दीपक से सूर्य को, जल से समुद्र या नदी को, वाणी से जिनवाणी या सरस्वती को लोग पूजते हैं इसी तरह से मंगल से ही मंगल की पूजा करते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि—इष्ट देवता को नमस्कार करने से उनके प्रति उपकार की स्वीकारता देखी जाती है। कहा भी है—

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः।।

मोक्षमार्ग की सिद्धि या प्राप्ति परमेष्ठी के प्रसाद से होती है इसीलिए मुनिवरों ने शास्त्र के प्रारम्भ में उनके गुणों की स्तुति की है।

इष्टफल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है, यह सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है, वह आगम आप्त—सच्चे देव अरहंत भगवान् से प्रगट होता है इसीलिए अरहंत देव सतत पूज्य हैं। **''न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति।''** क्योंकि साधुजन अपने प्रति किए गए उपकार को कदाचित् भी विस्मरण नहीं करते हैं।

निमित्त—जिनके निमित्त यह शास्त्र रचना हुई उस निमित्त कारण को कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि प्रगट होने में कारण भव्य जीवों के पुण्य की प्रेरणा ही है। जैसा कि कहा है—'भव्य जीव श्रुतज्ञान रूप दिव्य तेज के द्वारा छह द्रव्य और नव पदार्थों का ज्ञान तथा श्रद्धान करें इसीलिए श्रुतज्ञान रूपी सूर्य का उदय होता है।'

इस 'पंचास्तिकाय' नामक प्राभृत ग्रन्थ के रचने में निमित्त शिवकुमार नाम के महाराज हैं। जैसे कि द्रव्यसंग्रह आदि की रचना में 'मोगा सेठ' आदि श्रावक निमित्त थे।

हेतु—यहां हेतु से फल समझना, क्योंकि वह हेतु ही फल का कारण है इसलिए उपचार से उसे ही फल कह दिया है। उस फल के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष फल के भी दो भेद हैं—साक्षात् और परम्परा। साक्षात् प्रत्यक्ष फल यह है कि इस शास्त्र से अज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती है।

परम्परा फल यह है कि शिष्यों, प्रतिशिष्यों द्वारा पूजा व प्रशंसा होती है तथा शिष्यों की प्राप्ति होती है।

परोक्ष फल के भी दो भेद हैं—सांसारिक ऐश्वर्य सुख की प्राप्ति, मोक्ष सुख का लाभ।

अभ्युदय—सांसारिक ऐश्वर्य क्या है ? राजाधिराज, महाराजा, अर्धमंडलीक, मंडलीक, महामंडलीक, अर्ध चक्रवर्ती, चक्रवर्ती, इन्द्र, गणधर देव, तीर्थंकर परमदेव का वैभव, यह सब सांसारिक अभ्युदय हैं। इनमें अठारह (18) श्रेणी सेना का अधिपति मुकुटधर होता है। पांच सौ मुकुटधरों का अधिपति अधिराजा होता है। आगे इससे दूने-दूने दल के स्वामी सकल चक्रवर्ती तक होना सो ऐश्वर्य सुख है।

मोक्ष या परम कल्याणमय सुख अरहंत और सिद्ध पद की प्राप्ति से ही होता है इसे ही निःश्रेयस सुख कहते हैं।

तीर्थंकर देव के गर्भ, जन्म और तप ये तीन कल्याणक के समय इंद्रों द्वारा की गई पूजा व वैभव को अभ्युदय सुख में लिया है और केवलज्ञान कल्याणक के बाद रचा गया समवशरण व मोक्षकल्याणक की पूजा, वैभव आदि निःश्रेयस सुख माने गए हैं।

जिन्होंने चार घातिया कर्मों को नष्ट कर चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य और पांच कल्याणक प्राप्त किए हैं, वे अरहन्त भगवान मेरे लिए मंगलरूप हैं। जो आठ मूल व एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता से छूट चुके हैं, आठ गुणों से युक्त हैं और संसार से पार होकर सिद्धशिला के ऊपर विराजमान हैं वे सिद्ध भगवान मेरे लिए मंगलकारी हैं।

जो कोई भव्य वीतराग सर्वज्ञ देव की परंपरा से कहे हुए इस पंचास्तिकाय प्राभृत आदि शास्त्र को पढ़ते हैं, श्रद्धा में लाते हैं तथा बार-बार इसका चिन्तन-मनन करते हैं वे इसी प्रकार के अभ्युदय सुख को प्राप्त कर निःश्रेयस सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

परिणाम—परिणाम दो प्रकार का है—ग्रन्थ परिणाम और अर्थ परिणाम। ग्रन्थ की गाथा या श्लोक संख्या ग्रन्थ परिणाम है। इस ग्रंथ के प्रथम टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने इसमें एक सौ तिहत्तर गाथायें मानी हैं और द्वितीय

टीकाकार श्री जयसेनाचार्य ने एक सौ इक्यासी गाथायें मानी हैं। यह ग्रन्थ परिणाम है और अर्थपरिमाण तो अनंत है।

नाम—नाम दो प्रकार का है—अन्वर्थ और इच्छित। जैसा ग्रन्थ का नाम हो वैसा ही उसमें अर्थ हो सो अन्वर्थ नाम है, जैसे जो 'तपतीति तपनः सूर्यः' जो तपे सो 'तपन' अर्थात् सूर्य है वैसे ही पंचास्तिकाय में **पांच अस्तिकायों का विशद विवेचन होने से यह ग्रन्थ 'पंचास्तिकाय' इस अन्वर्थ नाम वाला है।** इच्छित नाम वह है जैसे काष्ठभार ढोने वाले का 'ईश्वर' नाम रख दिया।

ग्रन्थकर्ता—कर्ता के तीन भेद हैं—मूल ग्रंथकर्ता, उत्तर ग्रंथकर्ता और उत्तरोत्तर ग्रंथकर्ता। मूल ग्रंथकर्ता तो इस काल की अपेक्षा से वर्तमान में श्री महावीर स्वामी हैं। उत्तर ग्रंथकर्ता उनके गणधर, चार ज्ञानधारी, सात ऋद्धियों से सहित श्री गौतम स्वामी हैं तथा उत्तरोत्तर ग्रंथकर्ता यथासंभव आचार्य आदि हैं। **इस पंचास्तिकाय ग्रंथ के उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्ता श्रीकुन्दकुन्द देव हैं।**

कर्ता का विवेचन इसलिए करना चाहिए कि कर्ता की प्रमाणता से ही उनके वचनों की प्रमाणता होती है।

इस तरह संक्षेप में मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम और कर्ता इन छहों को बतलाया गया है।

समय को नमस्कार हो—

समणमुहग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमिमं सुणह वोच्छामि।।2।।

श्रमण—सर्वज्ञदेव के मुख से निकले हुए अर्थमय चार गति का निवारण करने वाले और निर्वाण के लिए कारण ऐसे इस समय आगम को सिर झुकाकर प्रणाम करके मैं उस समय को कहूँगा, उसे तुम लोग सुनो।

'मैं' से यहां पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कह रहे हैं कि जो यह 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ नाम का द्रव्य आगम है वह महाश्रमण, सर्वज्ञ, वीतराग भगवान महावीर के या अनंत तीर्थंकरों के मुखकमल से विनिर्गत है। अर्थरूप से सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि से निकला है इसलिए प्रत्येक जैन आगम के 'अर्थकर्ता' सर्वज्ञदेव ही हैं। ग्रन्थकर्ता गणधर देव से लेकर परम्परा से आये हुए आचार्यदेव हैं।

भगवान के वचन कैसे हैं ?—

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं।
कण्ठोष्ठादिवचो निमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतं।।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं।
दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः।।

जिनेन्द्रदेव के वचन गंभीर हैं, मधुर हैं—कर्ण और मन को प्रिय हैं। मन को हरण करने वाले हैं, दोषों से रहित हैं, हित के करने वाले हैं, कण्ठ, ओठ आदि वचनों के कारणों से रहित हैं, पवन—श्वांस से रुकावट नहीं है, स्पष्ट हैं, अपने-अपने इच्छित पदार्थों के कहने वाले हैं, सर्वभाषा रूप हैं, दूर व निकट बैठे हुए को समान सुनाई देते हैं, समभाव रूप हैं तथा उपमारहित होने से निरुपम हैं ऐसे जैन वचन—जिनागम के वचन हमारी रक्षा करें।

ऐसे द्रव्यागम से क्या लाभ होता है ?—

येनाज्ञानतमस्ततिर्विघटते ज्ञेये हिते चाहिते।
हानादानमुपेक्षणं च समभूत्तस्मिन् पुनः प्राणिनः।।
येनेयं दृगपैति तां परमतां वृत्तं च येनानिशं।
तज्ज्ञानं मम मानसाम्बुजमुदे स्तात्सूर्यवर्योदयः।।

जिससे अज्ञानरूपी अन्धकार का पसारा दूर हो जाता है, जिससे जानने योग्य हितकर और अहितकर पदार्थों के

जान लेने पर प्राणीगण अहित का त्याग, हित का ग्रहण तथा उपेक्षा भाव दोनों प्रकार से रहित में वैराग्य भाव को प्राप्त हो जाते हैं, जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट होकर परमत से श्रद्धा दूर हो जाती है और जिसके द्वारा मिथ्याचारित्र हटकर सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाता है, ऐसे ज्ञानरूपी परमसूर्य का उदय मेरे मनरूपी कमल को विकसित करने के लिए होवे।

सूर्य के उदित होने पर अन्धकार का नाश अच्छे-बुरे मार्ग या वस्तुओं का ज्ञान, नेत्रों द्वारा सही वस्तु का अवलोकन और सही मार्ग में चलना होता है वैसे ही ज्ञानरूपी सूर्य के उदित होने पर अज्ञान अन्धेरे का विनाश, हित-अहित विषय को जान लेने पर अहित से हटकर हित में प्रवृत्ति, सम्यग्दर्शन से समीचीन श्रद्धा, असमीचीन का अभाव तथा सच्चे मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा यह ज्ञानरूपी सूर्य उदय को प्राप्त होकर हमारे मन कमल को खिला देवे, प्रफुल्लित कर देवे। चूंकि ज्ञान के बिना मन कमल बन्द रहता है, कुण्ठित रहता है, इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग द्वेष कर-करके सतत दुःख का अनुभव करता है। सच्ची श्रद्धा से और सही मार्ग में चलने से जीव को वंचित कर देता है इसलिए ज्ञान के समान इस जगत में जीव को कोई भी वस्तु या व्यक्ति वह सुख नहीं दे सकता है जो कि ज्ञान दे सकता है।

यह सम्यग्ज्ञानरूप जैन आगम नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों के दुःखों को दूर करने वाला है तथा सर्व कर्म बंधन से रहित निर्वाण सुख—पूर्ण स्वातन्त्र्य सुख को देने वाला है। ऐसे इस आगम को कहने के लिए श्री कुन्दकुन्ददेव ने उपक्रम किया है अथवा प्रतिज्ञावाक्य कहकर भव्यों को सुनने के लिए आग्रह किया है।

1.4 समय शब्द का अर्थ—

'सम' समीचीन 'अय्' ज्ञान को समय कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार समय शब्द से यहां आगम शब्द विवक्षित है। इस समय के कितने भेद हैं ?

'समय' के यहां तीन भेद लेना—अर्थसमय, शब्दसमय और ज्ञानसमय।

अर्हंतदेव ने **अर्थरूप से समय** को कहा है।

यहां ग्रन्थ रचना में **शब्द समय** है और इसका पठन-पाठन ज्ञान समय की सिद्धि के लिए किया जाता है अथवा इस शब्द समय—शब्दागम के द्वारा अर्थसमय पदार्थों का समूह वाच्य है—कहा जाता है और उसको सुनकर जो बोध होता है वह ज्ञान ही **ज्ञान समय** कहलाता है।

बात यह है कि कोई निकट भव्यजीव जिसके संसार का अन्त आ गया है, जल्दी मोक्ष जाने वाला है वह जिनेन्द्रदेव कथित शब्दागम—द्रव्यागम को सुनकर या पढ़कर फिर उससे वाच्य कहने योग्य पंचास्तिकाय लक्षणरूप अर्थ आगम पदार्थों के समूह को जानता है फिर उन पदार्थों में गर्भित शुद्ध जीवास्तिकायरूप पदार्थ में स्थिर होकर चारों गतियों का निवारण करता है, चतुर्गति दुःख के दूर हो जाने से पंचमगति निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वहां पर अपने आत्मा से ही उत्पन्न निराकुल, परमानंदमय अनंतसुख का अनुभव करता है। यही कारण है कि यहां पर आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने द्रव्यागम रूप शब्द समय को नमस्कार किया है।

समवाओ पंचण्हं समउ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं।।3।।

पांच अस्तिकायों का समवाद—समभावपूर्वक निरूपण अथवा समवाय-समूह, वही समय है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। वही लोक है उससे परे अपरिमित अलोक है।

पांच अस्तिकायों का जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांच द्रव्यों का जो सम—मध्यस्थ अर्थात् रागद्वेष से रहित वर्ण, पद, वाक्यों का कथन "समवाय" है। यही "शब्द-समय" है तथा मिथ्यादर्शन के उदय का नाश होने पर उन पांचों द्रव्यों का ही जो सम्यक् अवाय—बोध है वह "ज्ञान-समय" है, पुनः कथन के निमित्त से ज्ञात हुए उन पंचास्तिकाय का ही वस्तुरूप से समवाय समूह वह अर्थ समय है।

सरल शब्दों में पांच द्रव्यों को कहने वाला वर्ण पद वाक्य रूप जो पाठ है उसको द्रव्यागम शब्दसमय कहते हैं पुनः मिथ्यादर्शन के उदय का अभाव होने पर उन्हीं पांचों का संशय, विमोह, विभ्रम रहित यथार्थ अवाय, निश्चय ज्ञान या निर्णय उसे "ज्ञानसमय" कहते हैं। यही भावश्रुत या भावागम कहलाता है। इस ज्ञानसमय से जानने योग्य जो पदार्थों का समूह है वही "अर्थसमय" है।

इस "अर्थसमय" को ही लोक कहते हैं—जहां तक ये जीव, पुद्गल आदि द्रव्य पाये जाते हैं वह "लोक" कहलाता है उससे परे चारों तरफ अनंत "अलोक" है।

1.5 पांच अस्तिकाय—

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांचों द्रव्य "अस्तिकाय" कहलाते हैं। ये पांचों ही अपने-अपने अस्तित्त्व में नियत हैं—व्यवस्थित हैं, अनन्यमय हैं—अन्य से बने हुए नहीं हैं, अपनी सत्ता से अपृथग्भूत हैं, और प्रदेश में बड़े हैं अर्थात् बहुप्रदेशी हैं। यहां "अस्तिकाय" में दो पद हैं। "अस्ति" और "काय"।

सत्ता के दो भेद हैं—एक महासत्ता, दूसरी अवांतर सत्ता अथवा सत्ता सामान्य और सत्ताविशेष।

प्रत्येक वस्तु है—अपने स्वरूप से विद्यमान है, यह सर्व वस्तुओं का अस्तित्त्व ही महासत्ता है। जैसे पुस्तक है, चौकी है, घड़ा है इस प्रकार अलग-अलग वस्तुओं का अस्तित्त्व—विद्यमान रहना यह अवांतर सत्ता है।

ये पांचों ही द्रव्य दोनों प्रकार की सत्ता में स्थित हैं। क्योंकि—

द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।
तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किंतु तदुभयायत्ता।।

भगवान् ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अतः उनके शासन में जो भी कथन होता है वह एक नय के अधीन होता है इसलिए ये पाँचों ही पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथंचित् अपने से भिन्न होने से अन्यमय भी हैं तथा द्रव्यार्थिक नय से अपने अस्तित्त्व से अभिन्न होने से अनन्यमय ही हैं इस प्रकार ये द्रव्य अपने-अपने 'अस्तित्त्व' से हैं अतः '**अस्ति**' कहलाते हैं।

काय—ये पांचों ही द्रव्य बहुत प्रदेशों वाले होने से 'काय' कहलाते हैं। एक प्रदेशी पुद्गल का परमाणु भी शक्ति की अपेक्षा बहुप्रदेशी होने से अर्थात् अणु भी दो अणु, तीन अणु आदि मिलकर स्कंध बनकर बहुत प्रदेशी बन सकता है इसी दृष्टि से परमाणु भी उपचार से बहुप्रदेशी होने से 'अस्तिकाय' है किन्तु काल द्रव्य के प्रत्येक अणु-कालाणु पृथक्-पृथक् ही रहते हैं, कभी भी मिलकर सघन या एकरूप नहीं होते हैं इसलिए 'कालद्रव्य' 'अस्ति' तो है किन्तु 'काय' न होने से यहां 'अस्तिकाय' में उसे नहीं लिया है।

ये पांचों ही अस्तिकाय अपने अनेक गुण और पर्यायों के साथ अस्ति स्वभाव वाले हैं इसीलिए ये 'अस्तिकाय' कहलाते हैं और इन्हीं से यह तीन लोक बना हुआ है।

गुण—अन्वयरूप से रहने वाले गुण कहलाते हैं। जैसे आम्रफल में हरा या पीला वर्ण, खट्टा या मीठी सुगन्ध, ये गुण हैं ये सदा काल उस आम में किसी न किसी रूप में रहेंगे ही।

पर्याय—व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं अर्थात् जो क्रम-क्रम से एक के बाद एक होती है, एक साथ नहीं होती है वे पर्यायें हैं। जैसे आम जब कच्चा था तब छोटा, कड़ा और हरा था, जब वह पक गया तब बड़ा, मुलायम और पीला दिखने लगा अथवा जीव जब मनुष्य है तब देव या तिर्यंच नहीं है।

इन गुण और पर्यायों के स्वभावगुण, स्वभाव पर्याय तथा विभावगुण और विभाव पर्याय ऐसे भेद भी होते हैं अथवा अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय ऐसे भी दो भेद होते हैं।

जीव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि **स्वभाव गुण** हैं और सिद्धरूप अवस्था **स्वभाव पर्याय** है।

संसारी जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, इन्द्रियसुख आदि **विभावगुण** हैं और मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंच आदि **विभाव पर्याय** हैं।

पुद्गल के एक अविभागी परमाणु में जो वर्ण, रस, गंध, स्पर्श है वे स्वभाव गुण हैं और शुद्ध परमाणु रूप से रहना ही स्वभाव पर्याय है।

परमाणु का दो अणु, तीन अणु आदि रूप से परिणमन करके स्कंध बन जाना विभाव पर्याय है और स्कंध में जो नाना प्रकार के वर्ण, रस, स्पर्श आदि दिखते हैं वे विभाव गुण हैं।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही विभाव गुण पर्यायें होती हैं अन्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में केवल स्वभाव गुण पर्यायें ही रहती हैं।

अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण कहलाते हैं, ये सर्व द्रव्यों में साधारण रीति से पाये जाते हैं। इस तरह काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्यों का अपने गुण-पर्यायों के साथ सदाकाल 'अस्तित्त्व' विद्यमान है और ये अपने-अपने मुख्य प्रदेशों से बहुप्रदेशी हैं, ये पांचों ही द्रव्य अपने-अपने अवयव, अंश या प्रदेशों से सहित होने से ही "काय" के समान बहुत अवयवी हैं इसीलिए इन्हें "काय" संज्ञा दी है अतः ये "अस्तिकाय" कहलाते हैं।

1.6 छह द्रव्य—

ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा।
गच्छंति दवियभावं परियट्टण लिंग संजुत्ता।।6।।

अण्णोणं पविसंता दिंता ओगास मण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।।7।।

जो तीन काल के भावों रूप परिणमित होते हैं, नित्य हैं ऐसे वे ही अस्तिकाय परिवर्तन लिंग वाले काल से सहित द्रव्यपने को प्राप्त होते हैं, द्रव्य कहलाते हैं।

वे छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक दूसरे को अवकाश देते हैं और आपस में एक-दूसरे में मिल जाते हैं फिर भी वे सदा ही अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

जो तीनों कालों के भावों रूप परिणमित होते हैं तथा नित्य हैं ऐसे वे ही पांच अस्तिकाय, परिवर्तनलिंग वाले काल के साथ द्रव्यत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् **जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पांच अस्तिकाय और काल ये छहों द्रव्य कहलाते हैं।**

ये द्रव्य वास्तव में अपने-अपने सहभावी गुणों से तथा क्रम से होने वाली पर्यायों से अनन्य अभेद एक रूप हैं, गुण और पर्यायों के आधारभूत हैं, इन गुण पर्यायों को छोड़कर द्रव्य नाम की कोई चीज नहीं है।

पर्यायार्थिक नय से ये पांचों ही अस्तिकाय तीनों कालों की पर्यायों से परिणत होने के कारण क्षणिक हैं—अनित्य हैं—अविनश्वर हैं फिर भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं—शाश्वत काल रहते हैं इसलिए द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इन दोनों नयों की अपेक्षा ये नित्यानित्यात्मक हैं। जैसे—धुआँ अग्नि को बताने के लिए कार्यलिंग-कार्यहेतु है वैसे ही जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों का परिणमना भिन्न-भिन्न पर्यायों से पलटना ही काल द्रव्य का चिन्ह, गमक, ज्ञापक तथा सूचनारूप है अर्थात् द्रव्यों के परिवर्तन में जो कोई भी निमित्त कारण हैं वही परिवर्तन लक्षण वाला कालाणु या द्रव्यकाल है।

शंका—यहां गाथा में "कालदव्वसंजुत्ता"—ये पांचों अस्तिकाय काल द्रव्य से सहित द्रव्य हैं ऐसा क्यों नहीं कहा? प्रत्युत 'परियट्टण लिंगसंजुत्ता' ऐसा अस्पष्ट वचन क्यों कहा ?

समाधान—यह ग्रन्थ पांच अस्तिकायों का प्रमुखता से वर्णन करने वाला है अतः इस अस्तिकाय के प्रकरण में काल द्रव्य की मुख्यता नहीं है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में नये से पुरानापन होता है, इस परिणति रूप कार्य हेतु से ही काल

द्रव्य का ज्ञान होता है इसीलिए इस बात को सूचित करने के लिए ही काल के लक्षण रूप "परिवर्तनलिंग" इस शब्द से काल द्रव्य को कह दिया है।

इन पांच अस्तिकाय और काल सहित छहों द्रव्यों को जानकर हमारा क्या कर्त्तव्य हो जाता है ?

इन छहों द्रव्यों के मध्य में अनादिकाल से देखे, सुने, अनुभव किए हुए आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि की इच्छा रूप सर्व परद्रव्यों के आलंबन से जो नाना प्रकार के संकल्प–विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, मेरा शुद्ध जीव अस्तिकाय और शुद्धजीव द्रव्य, इन चार संज्ञाओं और सर्व संकल्प–विकल्पों से शून्य है उस अपने शुद्ध जीव का श्रद्धान करना, उसी को जानना और उसी में स्थिर होने रूप चारित्र से परिणत होना यह अभेद रत्नत्रयमयी जो निर्विकल्प समाधि है या परम समताभाव रूप वीतराग भाव है, उस भाव से उत्पन्न हुआ जो वीतराग, सहज, अपूर्व, परमानंद है उस रूप स्वसंवेदन ज्ञान से प्राप्त होने योग्य व अनुभव में आने योग्य अथवा उससे भरपूर, शुद्ध निश्चयनय से अपने ही शरीर के अन्दर विराजमान जो जीव द्रव्य है वही ग्रहण करने योग्य है व अनुभव करने योग्य है। तत्त्वविचार के समय और सामायिक के समय बार–बार ऐसा चिंतवन करना चाहिए। यही इन द्रव्यों के जानने का प्रयोजन है।

ये छहों द्रव्य परस्पर में अत्यन्त मिलते हुए भी अपने–अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं—

"ये छहों द्रव्य एक–दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर में एक–दूसरे को अवकाश स्थान देते हैं और परस्पर में एक क्षेत्र में रहने से एक–दूसरे में मिल जाते हैं फिर भी ये सदा काल अपने–अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।"

ये छहों द्रव्य परस्पर में एक दूसरे को अवकाश देते हुए अपने–अपने ठहरने के काल पर्यन्त ठहरते हैं परन्तु उनमें संकर–व्यतिकर दोष नहीं आते हैं।

संकर दोष—एकमेक हो जाना संकर दोष है जैसे दो तरह के गुलाब की कलम को एक में प्रवेश कराकर लगाने पर एक तीसरे ही रंग का संकर गुलाब फूल आ जाता है।

व्यतिकर दोष—एक द्रव्य का विषय दूसरे द्रव्य में चला जाये उसे व्यतिकर दोष कहते हैं। जैसे— जीव का ज्ञान गुण पुद्गल में आ जाए और पुद्गल के रूप, रस आदि गुण जीव में आ जायें।

ये दोनों दोष इन छहों द्रव्यों में कथमपि नहीं आते हैं। इस गाथा में "अण्णोण्णं पविसंता" वाक्य का अर्थ है—जो क्रियावान् या हलन–चलन करने वाले जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, ये परस्पर में एक क्षेत्रावगाही होकर अर्थात् दूध और पानी के समान एक जगह रह जाते हैं। जीव के साथ पौद्गलिक कर्म एक क्षेत्र में ही दूध–पानी के समान एकमेक होकर रह रहे हैं फिर भी जीव अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। पुद्गल भी अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वभाव को या अचेतन—जड़ स्वभाव को नहीं छोड़ता है।

गाथा में "दिंता ओगासमण्णमण्णस्स" इस वाक्य का अर्थ है—आये हुए द्रव्यों को अवकाश देना। मुख्य रूप से निष्क्रिय आकाश द्रव्य अपने में जीव–पुद्गलों को स्थान देता है और गौण रूप से जीव पुद्गलों को व पुद्गल जीव को भी अवकाश देते हैं।

गाथा में "मेलंता वि य णिच्चं" वाक्य से यह समझना—ये द्रव्य सदा ही मिलकर रहते हैं। यह वाक्य निष्क्रिय धर्म, अधर्म, आकाश और काल को मुख्य रूप से विवक्षित करता है और गौणरूप से तो सभी द्रव्य एक दूसरे में मिल ही रहे हैं।

तात्पर्य यही है कि जीव और कर्म में व्यवहार नय की अपेक्षा से एकत्व होने पर भी परस्पर में एक दूसरे के स्वरूप को ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं है। ये जीव और कर्म अपने–अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं और दूसरे द्रव्यों के स्वरूप को कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं।

निश्चयनय से अपने शरीर के अंतर्गत शुद्ध जीव अस्तिकाय नाम वाला जीवद्रव्य ही उपादेय है। अशुभ लेश्या,

विषय और कषायों को छोड़कर वीतराग, निर्विकल्प समाधिरूप-निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर उस शुद्ध जीव द्रव्य का ही ध्यान करना चाहिए। तभी उस ध्यान के बल से इस संसारी अशुद्ध आत्मा को शुद्ध-पवित्र बनाया जा सकता है।

प्रश्न—निर्विकल्प ध्यान में वीतराग विशेषण क्यों लगाया ?

उत्तर—बाह्य वस्तुओं में राग-द्वेष के निमित्त से जो हर्ष-विषाद होता है वह जब तक है तब तक समता भावरूप वीतरागता नहीं है। तब तक निर्विकल्प ध्यान भी संभव नहीं है इसीलिए इस ध्यान में वीतराग विशेषण महामुनियों की अपेक्षा से है क्योंकि सरागी सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में आर्त-रौद्र ध्यान से सहित है, विषयों में, कषायों में प्रवृत्ति कर रहे हैं, नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों से सहित हैं अतः उनके निर्विकल्प ध्यान नहीं हो सकता है इसी बात को सूचित करने के लिए ध्यान में वीतराग विशेषण दिया गया है।

जब तक हम लोग वीतराग निर्विकल्प अवस्थारूप ध्यान को नहीं प्राप्त कर पाते हैं तब तक हमारा कर्तव्य है कि हम वस्तु के स्वभाव को समझकर उस पर दृढ़ श्रद्धान करें और स्वयं के स्वरूप का ध्यान करने के लिए निरंतर भावना भाते रहें। कभी न कभी हमारे में भी निर्विकल्प ध्यान की योग्यता आएगी ही आएगी, इसमें कोई संदेह नहीं है क्योंकि सतत भाई गई भावना एक न एक दिन अवश्य फलती है।

1.7 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1—पंचास्तिकाय नामक प्राभृत शास्त्र की रचना किसने की ?

(क) श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव ☐
(ख) श्री कुंदकुंदाचार्य ☐
(ग) श्री जयसेनाचार्य ☐

प्रश्न 2—अरहंतदेव की दिव्यध्वनि कितनी भाषारूप मानी गई है ?

(क) 100 ☐
(ख) 718 ☐
(ग) 720 ☐

प्रश्न 3—जो मल या पाप को गलावे—विध्वंस करे, उसे क्या कहते हैं ?

(क) मंगल ☐
(ख) शास्त्र ☐
(ग) निमित्त ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—मंगल के भेद परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 2—भगवान के वचन कैसे हैं ?

प्रश्न 3—समय शब्द का अर्थ बताते हुए उनके भेदों को बताइए ?

प्रश्न 4—निर्विकल्प ध्यान में वीतराग विशेषण क्यों लगाया ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—अस्तिकाय से क्या आशय है ? अस्तिकाय कितने और कौन-कौन से हैं ? विस्तारपूर्वक बताइए ?

पाठ 2–शुद्धात्मतत्त्व विवेचन

2.1 जैसे काष्ठ में अग्नि शक्तिरूप से विद्यमान है अथवा दूध में घी शक्तिरूप से मौजूद है वैसे ही शरीर में विद्यमान आत्मा शक्तिरूप से परमतत्त्व स्वरूप परमात्मा है ऐसा ज्ञान निश्चयनय से होता है। जो भी चारों अनुयोगों के जैनग्रंथ हैं वे द्वादशांग के सारभूत ही हैं उन अनेक ग्रंथों को पढ़कर भी सभी जीव शुद्धात्मा को नहीं जानते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव ही शास्त्रों को पढ़कर अपने शुद्धतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

2.2 प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म रहते हैं—

जैसे एक मनुष्य में अनेक संबंध—रिश्ते विद्यमान हैं वह किसी का पुत्र है तो किसी का पिता भी है, किसी का भाई है तो दूसरे का भतीजा भी है, एक का पोता है तो किसी का बाबा भी है, किसी का पति है तो किसी का ससुर भी हो सकता है, इत्यादि नाना संबंध एक समय में ही देखे जाते हैं। उसी प्रकार से एक जीव द्रव्य पर्याय दृष्टि से अनित्य है, जन्म-मरण को प्राप्त हो रहा है तो भी द्रव्यदृष्टि से नित्य है, कहीं न कहीं किसी न किसी पर्याय में वही तो है। निश्चयनय से शुद्ध है तो व्यवहारनय से अशुद्ध है इत्यादि। फिर भी एकांतवादी लोग एकरूप से ही स्वीकार करते हैं, बौद्ध आत्मा को क्षणिक ही मानता है तो सांख्य सर्वथा नित्य ही मानता है। ये एकांतवादी कथंचित् विवक्षा—नयविवक्षा को नहीं समझते हैं यह सब स्याद्वाद मत से बाह्य कुशास्त्रों का ही प्रभाव है। जात्यंधहस्ती का उदाहरण ऐसा है—एक बार कई एक जन्म से अंधे मनुष्य हाथी को जानने के लिए हाथी के पास लाए गये, एक ने हाथी का पैर पकड़ा, दूसरे ने पेट, तीसरे ने पूंछ और चौथे ने सूंड़ पकड़ ली, तभी पहले ने कहा–हाथी खंभे के समान है, दूसरे ने कहा—नहीं-नहीं हाथी तो दीवाल के समान है, तीसरे ने कहा–चुप रहो, हाथी तो झाड़ू के समान है तभी चौथे ने कहा–नहीं, हाथी तो बड़े भारी हाथों के समान है और ये चारों आपस में अपना-अपना निर्णय देते हुए लड़ने लगे। इसी बीच एक बुद्धिमान सज्जन आये और इन जन्मांध लोगों के झगड़े को निपटाने के लिए खड़े हो गये। सभी ने अपने-अपने निर्णीत हाथी के स्वरूप को बताया, तब वे सज्जन हंसकर बोले—

भाइयों, तुम चारों की बात सही है, सुनो, हम तुम्हें हाथी का सही स्वरूप बताते हैं। तुम चारों ने हाथी के एक-एक अवयवों को ही हाथी मान लिया है। देखो, तुम्हारे भी तो हाथ हैं, पैर हैं, पेट है और सिर है वैसे ही खंभे के समान तो हाथी के पैर हैं, दीवाल के समान हाथी का पेट है, झाड़ू के समान हाथी की पूंछ है और बड़े हाथ के समान हाथी की लंबी सूंड़ है। इन सब अवयवों को मिलाकर ही हाथी बना है।

इतना सुनकर चारों अंधे खुश हो गये। इसी प्रकार से कोई बौद्ध आत्मा को क्षणिक कहते हैं और सांख्य आत्मा को नित्य किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि आत्मा पर्यायों की अपेक्षा से क्षणिक है और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है इत्यादि। श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है—

परमागमस्य बीजं, निषिद्धजात्यन्धसिंधुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।

जो परमागम का बीज है, जिसमें जन्म से अंधे हुये लोगों द्वारा हाथी के एक-एक अवयव के ज्ञान का निषेध है और जो संपूर्ण नयों के परस्पर के विरोध का परिहार है ऐसे 'अनेकांत' को मैं नमस्कार करता हूँ। इसलिए जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित और जैनाचार्यों द्वारा रचित ऐसे तीन ग्रंथों का ही स्वाध्याय, पठन-पाठन करना चाहिए।

जो अल्पज्ञ हैं उनके वचन असत्य हो सकते हैं अथवा जो राग द्वेष–पक्षपात से सहित हैं उनके वचन भी असत्य होते हैं इसीलिए जो सर्वज्ञ हैं—केवलज्ञानी हैं और अठारह दोषों से रहित पूर्ण वीतरागी हैं उनके वचन पूर्णतया सत्य ही होते हैं। आज यद्यपि सर्वज्ञ देव नहीं हैं फिर भी परंपरा से अवधिज्ञानी-मनःपर्यय ज्ञानी आचार्यों से प्राप्त ज्ञान से ही

पूर्वाचार्यों ने ग्रंथ रचना की है अतः पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रंथ भी प्रमाण ही हैं। उन ग्रंथों में कहे गये विषय–अहिंसामयी धर्म आदि प्रमाणभूत हैं।

2.3 सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए पांच लब्धियां मानी हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण—

2.3.1 क्षयोपशम लब्धि—कर्मों के मलरूप जो अशुभ ज्ञानावरणादि समूह उनका अनुभाग जिस काल में समय–समय अनंतगुणा क्रम से घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशम लब्धि होती है।

2.3.2 विशुद्धि लब्धि—पहली क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न हुआ जो जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंधने का कारणरूप शुभ परिणाम उसकी जो प्राप्ति वह विशुद्ध लब्धि है क्योंकि अशुभ कर्म का अनुभाग घटने से संक्लेश की हानि और उसके विपक्षी विशुद्धि की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है।

2.3.3 देशना लब्धि—लब्धिसार में कहते हैं कि—छह द्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश देने वाले आचार्य का लाभ मिलना देशना लब्धि है अथवा उनके द्वारा उपदेशित पदार्थों के धारण करने का लाभ होना यह तृतीय लब्धि है। आचार्य, उपाध्याय आदि छह द्रव्यादि का उपदेश करने वाले हैं उनका जो मिलना है वही देशना की प्राप्ति है अथवा चिर अतीत काल में उपदेशित पदार्थ के धारण करने का लाभ होना वह देशना लब्धि है। गाथा में 'तु' शब्द है उससे यह अर्थ समझना कि उपदेश करने वालों से रहित नरक आदि पर्यायों में पूर्वभव में सुनकर धारण किया हुआ जो तत्त्वों का अर्थ है उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसा यहाँ सूचित किया गया है।

2.3.4 प्रायोग्य लब्धि—सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अंतः कोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर करण अर्थात् पाँचवीं करणलब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं। यह लब्धि भव्य और अभव्य दोनों के समान है अर्थात् अभव्य भी यहाँ तक स्थिति को पा सकते हैं किन्तु करण लब्धि उनके नहीं हो सकती है।

2.3.5 करण लब्धि—इस प्रकार स्थिति और अनुभागों के कांडक घात को बहुत बार करके गुरु के उपदेश के बल से अथवा उसके बिना भी अभव्य जीवों के योग्य विशुद्धियों को व्यतीत करके अभव्य जीवों के योग्य अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा वाली विशुद्धि में भव्य जीव परिणत होता है अर्थात् करण नाम परिणामों का है।

इस करण लब्धि के तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

अधःकरण—जिस भाव में वर्तमान जीवों के उपरितन समयवर्ती परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के साथ संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा सदृश होते हैं, उन भावों के समुदाय को अधःकरण कहते हैं। इस अधःकरण का काल अंतर्मुहूर्त है और परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं।

अपूर्वकरण—जिस काल में प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को लिए हुए अपूर्व—अपूर्व परिणाम होते हैं, उन परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण के विभिन्न समयों में वर्तमान जीवों के परिणाम सदृश नहीं होते किन्तु विसदृश या असमान और अनन्तगुणी विशुद्धता से युक्त पाए जाते हैं। अधःप्रवृत्तकरण की अपेक्षा इसका काल अल्प है किन्तु परिणाम उससे असंख्यातलोक गुणित हैं।

अनिवृत्तिकरण—इसमें एक समयवर्ती जीव के एक ही परिणाम पाया जाता है और एक समयवर्ती अनेक जीवों के भी एक सदृश ही परिणाम पाये जाते हैं। एक कालवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति, भेद या विसदृशता नहीं पायी जाती है इसीलिए उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसके परिणामों की संख्या उसके काल के समयों के समान ही है क्योंकि इस अनिवृत्तिकरण काल के समय-समय में एक-एक ही परिणाम होते हैं।

2.4 मोक्ष के कारण—

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों पृथक् –पृथक् स्वरूप से व्यवहार रत्नत्रय हैं किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ये तीनों आत्मस्वरूप एक ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है इसलिए निश्चयनय की अपेक्षा से रत्नत्रय में भेदकल्पना संभव नहीं है। श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है–

ववहारेणु वदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।

ज्ञानी आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन हैं यह व्यवहारनय का उपदेश है किन्तु निश्चयनय की अपेक्ष से ज्ञानी के न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र ही है, मात्र यह आत्मा ज्ञायकभाव वाला–ज्ञातास्वरूप शुद्ध ही है।

यहाँ यह समझना है कि व्यवहाररत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है और निश्चयरत्नत्रय निश्चय मोक्षमार्ग है, व्यवहार रत्नत्रय साधन है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है।

जहाँ तक व्यवहारनय और भेद अवस्था प्रधान है वहां तक ही प्रमाण, नय और निक्षेप प्रतिभासित होते हैं आगे निश्चयनय में–अभेदरूप निर्विकल्प ध्यान में ये प्रतिभासित ही नहीं होते हैं। समयसार में कहा भी है—

उदयति न नयश्रीरस्तमेतिप्रमाणं क्वचिदपि।
न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्।
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।

नयों की लक्ष्मी–भेद, प्रभेद उदय में नहीं आते हैं, प्रमाण भी अस्त हो जाता है, कुछ समझ में नहीं आता है कि निक्षेप के समूह कहां चले जाते हैं और अधिक तो क्या कहें, सभी विकल्पों को समाप्त करने वाले ऐसे आत्मतेज का अनुभव आने पर विकल्प–भेद–प्रमाण आदि रूप भेद प्रतिभासित ही नहीं होते हैं। वास्तव में यह अवस्था निर्विकल्प ध्यान में महामुनियों की ही होती है, उसके पूर्व छठे–सातवें गुणस्थान तक ये प्रमाण, नय, निक्षेप और भेद रत्नत्रय सभी प्रयोजनीभूत ही हैं।

यह संसारी स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, मकान आदि पर वस्तुओं के साथ एकत्व स्थापित कर इनके संयोग से ही दु:खी हो रहा है, इस संयोग संबंध के त्याग करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होगी ऐसा निश्चय है। कहा भी है–

संयोगतो दु:खमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्।।

यह शरीरधारी प्राणी इस जन्मरूपी गहन वन में संयोग से ही अनेक प्रकार के दु:खों को भोगता है अत: अपनी मोक्ष अवस्था को प्राप्त करने के इच्छुक जनों को मन–वचन–काय से इस संयोग संबंध का त्याग कर देना चाहिए।

जो पुण्य और पापरूप शुभ–अशुभ कर्म हैं ये क्रूर राक्षस के सदृश दु:खदायी हैं इनका उदय आने पर राग और द्वेष होता है। इन राग द्वेष के निमित्त से पुनरपि पुण्य–पाप कर्मों का बंध होता है। जब महामुनि राग–द्वेष का त्याग कर वीतरागी निर्विकल्प ध्यानी बन जाते हैं तब ये कर्मबंध रुक जाते हैं। इसी का नाम संवर है, इस संवर से आत्मा कर्मों से छूट कर मुक्त हो जाता है। जब तक पुण्य का संवर हम नहीं करते तब तक पांचों पापों का त्याग कर पाप का संवर करते हुए पुण्य के संवर की भावना भाते रहना चाहिए।

बंध, मोक्ष या संसार–मोक्ष, पुण्य–पाप, आत्मा और कर्म ये सब व्यवस्था द्वैत कहलाती है तथा एक निर्विकल्प आत्मतत्त्व का अनुभव अद्वैत है। सम्यग्दृष्टि श्रावक और छठे गुणस्थानवर्ती मुनि ये द्वैतभाव में–सविकल्प अवस्था में ही रहते हैं, इससे भिन्न निर्विकल्प ध्यान में स्थित हुए मुनियों को ही अद्वैत भाव का अनुभव आता है। समयसार कलश

काव्य में कहा भी है—एक आत्मतत्त्व का अनुभव आ जाने पर नय, प्रमाण, निक्षेप आदि प्रतिभासित नहीं होते हैं। इस अद्वैत में स्थित हुये मुनि शुक्लध्यान से कर्मों का नाश करके सर्वकर्म से रहित होकर एक अद्वैत स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं और जो अद्वैत में स्थित हैं ऐसे अव्रती, श्रावक या मुनि सम्यक्त्व के प्रभाव से अद्वैत की भावना भाते हुए परंपरा से मोक्ष के भागी बनते हैं।

किन्तु जो मिथ्यादृष्टी हैं ऐसे जो बंध, संसार आदि द्वैतभाव में ही रमे रहने के कारण चतुर्गति संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं अतः सम्यक्त्व सहित द्वैतभाव से अद्वैतभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह द्वैतबुद्धि सम्यग्दृष्टि के भी छठे गुणस्थान तक संभव है और निर्विकल्प ध्यान में ही अद्वैत अवस्था होती है फिर भी सम्यक्त्व के निमित्त से अद्वैत की भावना करने से ही परंपरा से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मतत्त्व कर्मों से रहित निर्विकार चिच्चैतन्यस्वरूप ही है और व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मों से सहित संसारी है विकारी ही है ऐसा समझना। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा से ही आत्मतत्त्व का वर्णन किया जा रहा है।

यहाँ '**अप्रमत्तस्य योगिनः**' पद आया है, इससे स्पष्ट है कि जो छठे गुणस्थान से आगे के निर्विकल्प ध्यान में स्थित महामुनि हैं उनके उस निश्चय चारित्र में वह परमज्योति स्वरूप आत्मा ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है। वही नमस्कार के योग्य है, वही मंगल लोकोत्तम और शरण है। वही पंचाचार, षडावश्यक क्रिया और स्वाध्याय स्वरूप है। वास्तव में व्यवहारनय के आश्रित ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि पृथक्-पृथक् हैं, मूलाचार ग्रंथ के अनुसार इनका विस्तार से छठे गुणस्थानवर्ती मुनि पालन करते हैं। चार ही मंगल हैं—अरहंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म, ये चार उत्तम हैं और ये ही चार शरण हैं। 'चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं' इत्यादि। ऐसे ही ज्ञानाचार आदि पांच आचार, सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाएं और पांच प्रकार के स्वाध्याय ये सभी व्यवहार चारित्र हैं।

सरागमुनि छठे-सातवें गुणस्थान में रहते हुए इनको धारण करते हैं ये सभी निश्चय चारित्र के लिए साधन हैं। इनके होने पर ही आत्मा का ध्यान होता है। उस ध्यान में स्थित महामुनि ही इनको अभेद—एकरूप से प्राप्त कर लेते हैं। इसे ही निश्चय रत्नत्रय-अभेद रत्नत्रय, वीतराग चारित्र, निर्विकल्प ध्यान और शुक्लध्यान के नामों से जाना जाता है।

यह पूरा प्रकरण आत्मध्यानी-शुक्लध्यानी महामुनियों का ही है क्योंकि योगनिष्ठ-योगी और मुमुक्षु शब्दों का प्रयोग सर्वत्र दिगबर जैन महामुनि के लिए ही है। यथा- "**मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्, प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।**" इक्ष्वाकुवंश के आदि में जन्म लेने वाले, जितेन्द्रिय, भगवान आदिनाथ, प्रभु, मुमुक्षु ने प्रवज्या-दीक्षा ली, ये प्रभु सहिष्णु और अच्युत हैं, ऐसा श्रीसमंतभद्र स्वामी ने कहा है।

'जो शुद्ध चैतन्य है वही मैं हूँ यह शब्दों से भायी गई भावना है किन्तु 'आत्मज्योति' इस शब्द कल्पना से परे निर्विकल्प ध्यानरूप है और उसमें आनन्द का ही अनुभव आता है।

श्री अकलंकदेव ने भी कहा है—'**मोक्षेऽपि यस्य नाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति**' जिसकी मोक्ष के लिए भी आकांक्षा नहीं है वही मोक्ष को प्राप्त करता है। बात यह है कि इच्छा होना भी एक विकल्प है चाहे वह मोक्ष के लिए ही क्यों न हो और विकल्पों को छोड़कर निर्विकल्प ध्यान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। दूसरी बात यह भी है कि—
"**छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्, कश्छायया याचित आत्मलाभः।।**"

अर्थात् जैसे—वृक्ष के नीचे पहुँचने पर छाया स्वयं मिल जाती है उसकी याचना—इच्छा—आकांक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहती है। वैसे ही मोक्ष प्राप्ति के उपायस्वरूप व्यवहार रत्नत्रय के बल से निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करके ध्यान में स्थित हुए महामुनि को मोक्ष की इच्छा की आवश्यकता ही भला क्या है ? वह तो अपने आप मिलेगा ही मिलेगा।

यह आत्मज्योति निश्चयनय की अपेक्षा से रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित है अतएव सूक्ष्म है तथा अनंत गुणों का आश्रय होने से स्थूल भी है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से एक है और अनंत गुणों की अपेक्षा से अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणरूप रत्नत्रय की अपेक्षा से अनेक भी है। सहज ज्ञान या केवलज्ञान से जानने योग्य होने से अथवा शुद्धोपयोग में स्थित मुनियों के अनुभवगम्य होने से स्वसंवेद्य है फिर भी क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा जानने योग्य न होने से अवेद्य है। कभी इस ज्योति का क्षरण—विनाश नहीं होता है—शुद्धनय से यह सदैव अविनश्वर है अतः 'अक्षर' है पुनः पर्यायार्थिक नय से उत्पाद, व्यय की अपेक्षा अनक्षर भी है—विनाशशील भी है अथवा अक्षर—भाषा आदि से रहित होने से अनक्षर है। असाधारण गुणों से सहित होने से उपमा रहित है। इइस ज्योति को शब्दों से कह नहीं सकते अतः अनिर्देश्य—अवाच्य है। सांव्यवहारिक आदि प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों का विषय न होने से अप्रमेय है एवं आकुलता रहित होने से अनाकुल है। मूर्तिक बाह्य पदार्थों के संयोग से रहित होने से शून्य है अथवा पुद्गलादि पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से रहित होने से शून्य है अथवा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से पूर्ण है। यह ज्योति द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। यह आत्मज्योति औदारिक शरीर से रहित, परवस्तु के अवलंबन से रहित, शब्द वर्गणाओं से रहित और कर्मों की उपाधि से रहित ही है, अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय होने से मन, वचन के अगोचर है।

जैसे अमूर्तिक आकाश में चित्र बनाना असंभव है ऐसे ही अतीन्द्रिय–अमूर्तिक आत्मा के विषय में कुछ भी कहना असंभव ही है यह आत्मा तो केवल स्वानुभवगम्य ही है।

जिस निर्विकल्प ध्यान में समचतुरस्र आदि संस्थान, अकार आदि अक्षर, कृष्ण, नील, शुक्ल आदि वर्ण और कोई भी विकल्प प्रतिभासित नहीं होते हैं केवल शुद्ध आत्मा ही अनुभव में आता है ऐसे शुद्धोपयोगी महामुनि के ही यह 'साम्यभाव' घटित होता है। यहाँ आचार्य ने स्वयं शुद्धोपयोग को भी साम्य का पर्यायवाची कहा है।

हंस सरोवर में रहता है उसे उसमें इतना आनंद आता है कि वह स्वर्ग की भी इच्छा नहीं करता है, शुचि—श्वेतवर्ण का होता है और हंसी की ओर अपनी दृष्टि रखता है। ऐसे ही यहाँ पर शुद्ध आत्मा को हंस बनाया है। यह शुद्धात्मा अणिमा आदि ऋद्धियों से सहित स्वर्ग की भी इच्छा नहीं रखता है क्योंकि इसकी मुक्तिरूपी हंसी में आसक्ति है, यह समताभाव में निवास करता है वही इसके लिए सरोवर है और यह शुचि—श्वेत अर्थात् कर्मरज से रहित होने से पवित्र है।

जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े को अवे की अग्नि में पकाया जाता है तभी उसमें पानी भरने पर ठंडा-ठंडा मिलता है। वैसे ही मृत्यु यद्यपि संसारी जीवों को दुखदायी है फिर भी ज्ञानी जनों को वह मोक्षसुख का कारण हो जाती है। यहां अमृत के दो अर्थ किए गये हैं अमृत—जहां मरण नहीं है ऐसा मोक्ष और अमृत—मरण से बचाने वाला जल।

दुःख के शारीरिक, मानसिक और आगंतुक ऐसे तीन भेद हैं फिर तत्त्वज्ञानी को तो संसार में तो सदा दुःख ही दुःख प्रतिभासित होता है। वह एक तो जन्म–मरण की अपेक्षा है दूसरा मुख्यरूप से आकुलता लक्षण वाला है। कहा भी है– 'आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।' वास्तव में अविवेकी प्राणी कभी इष्ट सामग्री के प्राप्त होने पर सुख का अनुभव करता है किन्तु विवेकी आत्मा चिंतन करता है—'कल्पनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्'।

संसारी प्राणियों के लिए ये सुख और दुःख कल्पना मात्र ही हैं ऐसा समझना।

यह एकत्व भावना संसार समुद्र से पार करने वाली है और सम्यक्त्व सहित समाधि—धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि कराने वाली है। इस भावना से निश्चल मन होता है और पापरूपी मल दूर हो जाता है, ऐसा यह इस एकत्वभावना का महत्त्व है।

निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा से कर्म भिन्न है अतः कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए रागादि भाव भी भिन्न ही हैं। इसी प्रकार अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि भी भिन्न ही हैं क्योंकि ये सभी अपने-अपने गुण पर्यायों से पृथक्–पृथक् ही

हैं। वास्तव में निश्चयनय से न संसार है और न मोक्ष ही अतः निश्चयनय से आत्मा को शुद्ध समझकर पुनः व्यवहारनय से रत्नत्रय को ग्रहण कर आत्मा की शुद्ध शक्ति को व्यक्त करना चाहिए।

केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिक-यथाख्यात चारित्र को नव केवललब्धि कहते हैं। जो महामुनि इस आत्मतत्त्व की भावना का पुनः-पुनः अभ्यास, कथन, चिंतन एवं भावना करते हैं वे परंपरा से सर्वगुण और सर्वसौख्य से परिपूर्ण मोक्षसुख को प्राप्त कर लेते हैं ऐसा नियम है।

2.5 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1—.....जीव ही शास्त्रों को पढ़कर अपने शुद्धतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

(क) निश्चयाभासी ☐
(ख) सम्यग्दृष्टि ☐
(ग) क्षणिकवादी ☐

प्रश्न 2—सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए कितनी लब्धियाँ मानी हैं ?

(क) 10 ☐
(ख) 8 ☐
(ग) 5 ☐

प्रश्न 3—अधःकरण लब्धि का काल कितना है ?

(क) अंतर्मुहूर्त ☐
(ख) अद्धापल्य ☐
(ग) असंख्यात वर्ष ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—क्षयोपशम और विशुद्धि लब्धि में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 2—देशना लब्धि की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 3—द्वैत और अद्वैत में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 4—दुःख के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—नव केवल लब्धियाँ कौन-कौन सी हैं ? इसकी भावना कौन भाते हैं और किसकी प्राप्ति करते हैं ?

पाठ 3–मोक्ष प्राप्ति में व्यवहारनय भी उपादेय है

3.1 व्यवहार नयापेक्षा अध्यवसान आदि भाव जीव हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।।46।। (समयसार)

अर्थ—ये सब अध्यवसान आदि भाव हैं वे जीव हैं ऐसा जो श्री जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है वह व्यवहार नय का मत है।

जो राग द्वेष आदि परिणाम हैं ये कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुये हैं फिर भी सिद्धांत ग्रंथों में इन परिणामों को भी जीव कहा गया है और वह सर्वज्ञ भगवान का उपदेश है। यहाँ शिष्य का यही प्रश्न है कि इन भावों को 'कथं जीवत्वेन सूचिता:' जीवरूप से कैसे सूचित किया है। समयसार ग्रंथ में उसी का उत्तर श्री अमृतचंद्रसूरि ने दिया है—

ये सब अध्यवसान आदि भाव जीव हैं' ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है वह अभूतार्थरूप व्यवहार का मत है क्योंकि व्यवहार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का प्रतिपादक है। जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छों को वस्तु स्वरूप बतलाती है, उसी तरह यह नय है इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये व्यवहारनय का दिखलाना न्यासंगत ही है। परमार्थनय से तो शरीर से जीव का भेद देखा जाता है। व्यवहारनय के बिना यदि मात्र इसी परमार्थनय का एकांत ग्रहण करें तब तो त्रस और स्थावर जीवों का भस्म के समान नि:शंक होकर घात करने से भी हिंसा का दोष नहीं होगा। पुन: हिंसा का पाप नहीं लगने से उस जीव के कर्म का बंध भी नहीं होगा। उसी प्रकार रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है वह छुड़ाने योग्य है ऐसा कहा गया है। परमार्थ से रागद्वेष, मोह से जीव को भिन्न दिखलाने पर मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जावेगा तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा। इसलिये व्यवहारनय के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।'

तात्पर्यवृत्तिटीकाकार श्री जयसेनाचार्य भी इस संदर्भ में कहते हैं—

'यदि अध्यवसान राग-द्वेष आदि परिणाम पुद्गल के स्वभाव हैं तो रागी, द्वेषी, मोही जीव हैं इस तरह सिद्धांत ग्रंथों में इन परिणामों को जीवरूप से कैसे कहा है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—जिनेन्द्रदेव ने जो इन परिणामों को जीव कहा है वह व्यवहारनय का अभिप्राय है। यद्यपि यह व्यवहारनय बाह्य द्रव्य का अवलंबन लेने से अभूतार्थ है तो भी रागादि बाह्य द्रव्य के अवलंबन से रहित और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप अपने अवलंबन से सहित जो परमार्थ है, उस परमार्थ का प्रतिपादक है। इसलिये इस व्यवहारनय को दिखलाना उचित ही है और जब व्यवहारनय नहीं माना जावेगा तो शुद्ध निश्चयनय से त्रस, स्थावर जीव नहीं हो सकेंगे तो फिर लोग उन जीवों का नि:शंकरूप मर्दन करेंगे। तब पुण्यरूप धर्म का अभाव हो जावेगा यह एक दूषण आयेगा। उसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव पहले से ही राग, द्वेष, मोह से रहित सिद्धरूप रहता है इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये अनुष्ठान कोई नहीं करेगा तो पुन: मोक्ष का अभाव हो जावेगा, यह दूसरा दूषण आवेगा। इसलिये व्यवहारनय का व्याख्यान उचित ही है ऐसा अभिप्राय समझना।

तात्पर्य यही है कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में प्रत्येक जीव अनादिकाल से शुद्ध ही है। यह शुद्धनय ही परमार्थनय कहलाता है चूँकि यह नय वस्तु के शुद्ध सहज स्वभाव मात्र को देखता है पर के संबंध से होने वाली विभाव अवस्था इसकी दृष्टि में गौण है चूँकि वह अन्य नय का विषय है अत: यह नय जीव को शरीर, राग, द्वेष, मोह, आदि भाव कर्म, नोकर्म तथा द्रव्यकर्म से पृथक् ही देखता है। यदि इसी नय को एकांत से ग्रहण कर लिया जावे तो शरीर तथा राग द्वेष आदि पुद्गलमय ठहरेंगे और पुद्गल से घात से हिंसा हो नहीं सकती एवं राग, द्वेष, मोह जीव से पृथक् होने से उनसे बंध भी

नहीं हो सकता। जब बंध नहीं होगा तब उसके छूटने के लिये रत्नत्रय का अनुष्ठान क्यों करना तब तो इस तरह से बंध और मोक्ष की व्यवस्था न बन सकने से संसार और मोक्ष का ही सर्वथा अभाव हो जाएगा।

किन्तु जैन सिद्धांत में ऐसा एकांत वस्तु का स्वरूप नहीं है और अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण मिथ्या है— अवस्तुरूप ही है इसलिये व्यवहारनय का उपदेश न्याय प्राप्त है। चूँकि जैनधर्म का प्राण स्याद्वाद उभयनय के अवलंबन को लेने वाला है। इसी हेतु से दोनों नयों का विरोध मिटाकर स्याद्वाद के अवलंबन से वस्तुतत्त्व को समझना, उसरूप श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है। इस गाथा के अभिप्राय को हम गुणस्थानों की अपेक्षा से विचार करें तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावक इन दोनों नयों से वस्तु तत्त्व का विचार करता है, वह समझता है कि परमार्थनय जीव के शुद्ध स्वभाव को कहता है और व्यवहारनय औपाधिक पौद्गलिक कर्म से संबंधित जीव को भी जीव कहता है, उनके उन भावों और पर्यायों को भी जीव कहता है क्योंकि वह बाह्य द्रव्य के संबंध से युक्त वस्तु को ही ग्रहण करता है। दोनों नय अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं अतः सत्य हैं, असत्य प्रलाप नहीं करते हैं अतः शुद्ध तत्त्व के विचार के समय सामायिक में स्थित होकर आत्मा को शुद्ध, सिद्ध सदृश समझना तथा व्यवहार क्रियाओं की, गृहस्थ संबंधी व्यापार आदि करते समय व्यवहार नय का अवलंबन लेना होता है।

पंचमगुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक भी श्रद्धा में शुद्धनय-निश्चयनय का अवलंबन लेता है किन्तु शुद्धात्मतत्व के अवलंबनरूप अवस्था को प्राप्त करने की भावना रखते हुए भी अपने श्रावकोचित षट् आवश्यक क्रियाओं को उपादेय मानकर ही करता है न कि हेय मानकर। उसके लिए हेय तो पंचेन्द्रिय के विषय हैं किन्तु उनको छोड़ नहीं पा रहा है। ये देवपूजा, गुरु उपासना आदि क्रियायें तो परम्परा से मोक्ष के लिए साधक हैं जैसे कि जैनागम का स्वाध्याय मोक्ष के लिए साधक है, वह स्वाध्याय भी तो एक आवश्यक क्रिया है तथा संयम और तप भी श्रावक के षट् आवश्यक में आ जाते हैं। यथा—

देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये श्रावक के षट्कर्म हैं।

इसी प्रकार मुनि भी जब छठे गुणस्थान में हैं तब वे अपनी सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन क्रियाओं में तत्पर रहते हैं और सतत शुद्धोपयोग की भावना करते रहते हैं। सरागी मुनियों की चर्चा, संघ संचालन, शिष्यों का संग्रह, उन पर अनुग्रह और जिनेन्द्र पूजा का उपदेश, आहार-विहार आदि क्रियायें भी करते हैं, क्योंकि वे अधिक समय ध्यान में स्थिर हो नहीं पाते हैं।[1]

आज के युग में उत्तम संहनन का अभाव होने से शुक्लध्यान, एकाकी विचरण, गिरि गुफा आदि में निवास इत्यादि उनके लिए संभव नहीं हैं। ये सब बातें जिनकल्पी मुनि में ही हो सकती हैं।

जब तक मुनि सविकल्प अवस्था में हैं उनके लिए दोनों नय समानरूप से उपादेय हैं। आगे निर्विकल्प अवस्था में नयों का विकल्प ही नहीं रहता है किन्तु शुद्धनय की दशा स्वरूप शुद्धतत्व का ही मात्र अवलंबन रह जाता है। वह निर्विकल्प अवस्था सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर बारहवें तक पहुँचती है। आज के युग में सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान असंभव हैं क्योंकि उत्तम संहनन नहीं है।

अतः जब व्यवहार नय के अवलंबन के बिना धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति व मोक्षमार्ग का अनुष्ठान असंभव है तब हम व्यवहारनय को हेय मानकर उनका निषेध कैसे कर सकते हैं ? हमें यदि सम्यग्दृष्टि बने रहना है तो दोनों नयों का अवलंबन लेकर ही चलना चाहिये। अपनी प्रवृत्ति आचार ग्रंथ के अनुकूल बनाने में व्यवहार ही कार्यकारी है और अपनी भावना उज्ज्वल रखने के लिये, चिन्ताओं को शमन करने के लिए निश्चयनय से वस्तुतत्त्व को समझना भी नितांत आवश्यक है तथा निश्चयनय की अवस्था की प्राप्ति करने के लिए व्यवहारनय के आश्रित प्रवृत्ति—सम्यक् चारित्र ही कारण है, यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है।

3.2 क्या जड़ कर्म भी चेतन का बिगाड़ कर सकता है ?—

हाँ, जड़ कर्म भी चेतना का बिगाड़ कर सकता है और कर ही रहा है जभी तो आप संसारी हैं अन्यथा सिद्धशिला पर जाकर विराजमान हो जाते, अपने अनंतज्ञान से सारे विश्व को एक समय में देख लेते, अपनी अनंतशक्ति के द्वारा अनंत पदार्थों को एवं उनकी अनंत भूत भावी पर्यायों को एक समय में जानते हुए भी श्रांत नहीं होते किन्तु आज आप दो चार घण्टे लगातार कुछ श्रम कर लेने से थक जाते हैं और इंद्रिय ज्ञान से किंचित् मात्र वस्तुओं को ही जान पाते हैं अत: स्पष्ट है कि आपकी चेतन स्वरूप आत्मा पर जड़ कर्मों ने अपना पूरा प्रभाव डाल रखा है और यदि आप अपने को जड़ कर्मों से अधिक बलशाली समझते हैं, अपने स्वरूप का, अपनी शक्ति का गौरव करते हैं तो फिर अति शीघ्र ही चारित्र के पुरुषार्थ द्वारा इन जड़ कर्मों को अपने से पृथक् कीजिये और अपने अनंत गुणों का आनंद लीजिये।

फिर भी विश्वास कीजिये कि जड़ कर्म ही आपके गुणों की दुर्दशा कर रहे हैं। भगवान् श्री कुंदकुंददेव इसी बात को समयसार ग्रंथ में स्पष्ट कर रहे हैं—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं।।164।।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं।।165।।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं।।166।।

जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के सम्बंध से नष्ट हो जाता है वैसे ही संसारी आत्मा का सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वरूपी मैल से अवश्य ही नष्ट हो जाता है। जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के संसर्ग से नष्ट हो जाता है वैसे ही संसारी आत्मा का ज्ञानगुण अज्ञानरूपी मैल के निमित्त से नष्ट हो जाता है। जैसे वस्त्र की सफेदी मैल के संबंध से नष्ट हो जाती है वैसे ही आत्मा का चारित्र गुण कषायरूपी मैल से अवश्य ही नष्ट हो जाता है ऐसा समझना चाहिए।

जब आत्मा के गुणों को ये कर्म नष्ट कर रहे हैं या आच्छादित कर रहे हैं, तो आत्मा की क्या स्थिति हो रही है, सो ही देखिये—

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।
संसार समावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं।।167।।

यह आत्मा स्वभाव से सर्व चराचर को जानने वाला और देखने वाला है फिर भी वह अपने कर्मरूपी रज से आच्छादित है अत: संसार अवस्था को प्राप्त हो रहा है, यही कारण है कि वह सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को नहीं जान रहा है।

यदि कोई ऐसा कहे कि जीव के जो सम्यक्त्व आदि गुण हैं उन्हें ही तो मिथ्यात्व आदि कर्म आच्छादित करते हैं किन्तु आत्मा तो त्रैकालिक शुद्ध ध्रुव है। सो ऐसी मान्यता भी गलत है, वास्तव में आत्मा भी इन गुणों का आधार होने से गुणों के दूषित हो जाने से स्वयं दूषित हो रहा है, सो ही देखिये—ये हैं समयसार ग्रंथराज के वाक्य सूत्र—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो।।168।।

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो।।169।।
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो।।170।।

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टी हो जाता है आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबंधक अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, उसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है। आत्मा के चारित्र गुण का प्रतिबंधक कषाय भाव है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है और उसके उदय से ही यह जीव अचारित्री अर्थात् असंयमी हो रहा है।

जो लोग कहते हैं कि निमित्त कुछ भी नहीं करता, उन एकांतवादियों को लक्ष्य में लेकर ही आचार्य कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये तीनों आत्मा के सहज भाव मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायरूप कर्ममलों से क्रम से दबे हुए हैं। दबे हुए का अर्थ जैसा हम लोग कपड़े आदि को पत्थर आदि के नीचे दबा देते हैं वैसा नहीं है किन्तु वर्तमान में संसारी आत्मा में सम्यक्त्व आदि गुण हैं ही नहीं अपितु मिथ्यात्व आदिक ही हैं। हाँ, उन मिथ्यात्व आदि को दूर कर देने पर सम्यक्त्व आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। जिस प्रकार कपड़े की स्वच्छता कपड़े में आये हुए मैल से नष्ट हो जाती है किन्तु उस मैल के हटा देने पर स्वच्छता आ जाती है। यहाँ यह कपड़े के मैल का उदाहरण भी सर्वथा लागू नहीं है अर्थात् पहले कपड़ा स्वच्छ था पुनः मैला हुआ, पुनः मैल धोकर स्वच्छ कर लिया गया ऐसे ही आत्मा पहले स्वच्छ हो पुनः कर्म का मैल उस पर आ जावे, अनंतर मैल को साफ कर देने पर वह स्वच्छ हो जावे ऐसा नहीं है प्रत्युत आत्मा के साथ तो कर्म मैल का संबंध अनादिकाल से ही लगा हुआ है और एक बार कर्म मैल को धो डालने के बाद वह आत्मा सदा-सदा के लिये ही स्वच्छ, पवित्र, शुद्ध, निरंजन हो जाती है पुनः कर्म का संबंध उसके साथ हो ही नहीं सकता है, ऐसा समझना।

सारांश यही है कि निमित्तजन्य विशेषता को लक्ष्य में रखना ही चाहिये किन्तु उसी के भरोसे रहकर हतोत्साह नहीं होना चाहिए। और करना क्या चाहिए सो ही अमृतचंद्रसूरि अपने कलश काव्य में कहते हैं—

'मोक्ष के चाहने वाले को ये समस्त कर्म ही त्यागने योग्य हैं। इस तरह इन समस्त ही कर्मों को छोड़ने से तो पुण्य और पाप की बात ही क्या रह जाती है ? अर्थात् समस्त कर्म में तो पुण्य और पाप दोनों आ ही जाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण कर्मों का त्याग हो जाने पर जो ज्ञान है वह अपने सम्यक्त्व आदि अपने स्वभावरूप होने से मोक्ष का कारण हुआ कर्म रहित अवस्था से जिसका रस उद्भुत प्रगट हो रहा है ऐसा होता हुआ स्वयं ही दौड़ आता है अर्थात् संपूर्ण कर्मों को दूर करके ज्ञान स्वयं ही मोक्ष का कारण होकर प्रगट हो जाता है।

पुनरपि आचार्यदेव एकांत दुराग्रह का त्याग कराने हेतु कहते हैं—

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति ये।
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः।।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं।
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च।।111।।

अर्थ—जो एकांत से कर्मनय का ही अवलंबन लेने वाले हैं और ज्ञान को जानते ही नहीं हैं वे भी डूब जाते हैं और जो क्रियाकाण्ड को छोड़कर अति स्वच्छंद ही पुरुषार्थ में मंद उद्यम—प्रमाद करने वाले हैं वे ज्ञाननय के इच्छुक होते हुये भी डूब जाते हैं किन्तु जो आप निरंतर ज्ञानरूप होते हुये कर्म को तो करते नहीं तथा प्रमाद के वश में भी नहीं होते हैं वे सर्व विश्व के ऊपर तैरते हैं।।111।।

अभिप्राय यही है कि जो परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप अपनी आत्मा को तो जानते नहीं हैं और व्यवहाररूप दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप क्रियाओं में ही लगे रहते हैं वे कर्मनय के पक्षपाती हैं। वे एकांती होने से इस संसार समुद्र में ही डूबे रहते हैं तथा जो आत्मस्वरूप को तो ठीक से समझते नही हैं किन्तु किंचित् मात्र ज्ञान लव को पाकर आत्मा को शुद्ध-बुद्ध मानकर क्रियाकाण्ड को छोड़ बैठते हैं, स्वेच्छाचार प्रवृत्ति करते हैं वे भी इस संसार समुद्र में ही डूबे रहते हैं इसलिये एकांत पक्ष का अभिप्राय छोड़कर निरंतर ज्ञानरूप आत्मतत्त्व की भावना करते हुये जब तक आत्मस्वरूप में स्थिर न हुआ जाय तब तक अशुभ कर्म को छोड़कर शुभ कर्म में प्रवृत्ति करना चाहिये और पुनः निर्विकल्प अवस्था का अवलंबन लेकर कर्मों का नाश करके सर्व लोक के ऊपर स्थित हो जाना चाहिये।

आज के युग में निर्विकल्प ध्यान की भावना करते हुये भी अनुष्ठान में ही मुनियों को लगे रहना श्रेयस्कर है एवं श्रावक के लिये तो सिवाय शुभ अनुष्ठान के और कोई चारा ही नहीं है।

3.3 मोह का नाश कैसे करें ?—

मोह को नाश करने के लिए कारणभूत जिनेन्द्रदेव का उपदेश है, उस उपदेश को अर्थात् जिनेन्द्रदेव की वाणी को प्राप्त करके भी पुरुषार्थ ही अर्थ क्रियाकारी है। बिना पुरुषार्थ के मोह का नाश नहीं किया जा सकता है—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।।88।। (प्रवचनसार)

अर्थ—जो जिनेन्द्रदेव के उपदेश को प्राप्त करके मोह, राग द्वेष का हनन करता है वह अल्प काल में सर्व दुःखों से छुटकारा पा लेता है।

श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं—वास्तव में इस दीर्घ संसार में जैसे तैसे बहुत ही मुश्किल से श्री जिनेश्वर का उपदेश मिलता है जो कि तीक्ष्ण तलवार की धार के समान है, जो महापुरुष इस उपदेशरूपी तीक्ष्ण तलवार से मोह, राग और द्वेषरूपी अपने अंतरंग शत्रुओं का सफाया कर देते हैं वे ही जीव संसार के दुःखों से छूट जाते हैं। चूँकि हाथ में तलवार रहते हुये उसका फल यही है कि शत्रु पर प्रहार करना। यदि हाथ में तलवार रहते हुये भी कोई अपने शत्रु का वार सहता रहे और उसका सामना न कर सके या उसे न मार सके तो उसके हाथ में रखी हुई तलवार का क्या उपयोग हुआ ?

आचार्य कहते हैं कि '**अतएव सर्वारंभेण मोहक्षपणाय पुरुषार्थे निषीदामि।**' इसलिये संपूर्ण प्रयत्नपूर्वक मोक्ष का क्षपण करने के लिये पुरुषार्थ में सन्नद्ध होता हूँ।

इसी गाथा की टीका करते हुए श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—

यह जिनेन्द्रदेव का उपदेश इस संसार में अत्यंत दुर्लभ है। एकेन्द्रिय से दो इंद्रिय पर्याय पाना दुर्लभ है, दो इंद्रिय से तीन इंद्रिय पर्याय को प्राप्त करना दुर्लभ है और तीन इंद्रिय से चार इंद्रिय होना दुर्लभ है, पुनः पंचेन्द्रिय होना अत्यंत दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय पर्याय में भी मनुष्य पर्याय पाना तो बहुत ही कठिन है, मनुष्य पर्याय पाकर भी जिनेन्द्रदेव का उपदेश प्राप्त करना तो अत्यंत ही दुर्लभ है, जैसे-तैसे बड़ी कठिनता से परम्परा से दुर्लभ ऐसे जिन उपदेश को प्राप्त करके भी जो भव्य जीव निज शुद्धात्मा की निश्चल अनुभूति लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञान इन दोनों के साथ अविनाभूत संबंध रखने वाले ऐसे वीतराग चारित्र नामक पैने खड्ग को पा लेता है और वह तीक्ष्ण खड्ग से मोह, रागद्वेष शत्रुओं का नाश कर देता है। वही जीव अपने सम्पूर्ण दुःखों का क्षय कर देता है।

इस गाथा में भगवान कुंदकुंददेव शिष्यों को चरित्ररूप पुरुषार्थ करने की प्ररेणा दे रहे हैं। टीकाकारों ने इसी भाव को स्पष्ट किया हुआ है। श्री अमृतचंद्रसूरि ने जिनदेव की वाणी को ही पैनी तलवार की धार बताया है और मोहादि

शत्रुओं के ऊपर उस शस्त्र का प्रहार करना ही चारित्र है अतः चारित्र को पालन करने की प्रेरणा दी है और स्वयं भी कहा है कि मैं मोह का क्षपण करने के लिए सर्वप्रयत्न से पुरुषार्थ में लगता हूँ।

श्री जयसेन स्वामी ने वीतराग चारित्र को पैनी तलवार बताया है चूँकि साक्षात् रूप में उसी से मोह, राग, द्वेष का निर्मूल नाश होता है। अब सोचना यह है कि जब तक हमें वीतराग चारित्र की प्राप्ति न हो तब तक क्या करना चाहिये? तब तक सराग चारित्र में प्रवृत्ति करनी चाहिये क्योंकि वह सराग चारित्र ही वीतराग चारित्र को प्राप्त कराने वाला है।

"सराग चारित्र क्या है ?"

अट्ठाईस मूलगुणरूप चारित्र जिसका कि मुनिजन पालन करते हैं वही सराग चारित्र है।"

"यदि हम सराग चारित्र भी ग्रहण न कर सकें तो क्या करना चाहिये ?

तो सराग चारित्र धारण करने की भावना भाते हुए एकदेशरूप पाँच अणुव्रतों को अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि मुनि तो शुद्धोपयोग में स्थित होने की भावना करते हैं और श्रावक मुनि बनने की भावना करते हैं किन्तु अणुव्रत तो ग्रहण अवश्य ही करते हैं और वे ही श्रावक कहलाने के अधिकारी होते हैं।

"मुनियों के मूलगुण तो बंध के ही कारण हैं अतः उनकी भावना कैसे करना ? क्योंकि यह व्यवहार चारित्र भी हेय ही है।

इन मूलगुणों से कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा मूलगुणों को धारण किये बिना, इस सराग चारित्र का आश्रय लिये बिना आज तक किसी ने भी वीतराग चारित्र को प्राप्त नहीं किया है अतः यह व्यवहार चारित्र सर्वथा हेय नहीं है अन्यथा तीर्थंकर भगवान स्वयं इस सराग चारित्र को क्यों ग्रहण करते और इस भेद रत्नत्रय को पालन करने का उपदेश भी क्यों देते ? अतः जो चारित्र तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट है वह हेय नहीं कहा जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वीतराग चारित्र की अपेक्षा सराग चारित्र हेय है किन्तु वीतराग चारित्र को प्राप्त करने का यही मार्ग होने से यह उपादेय भी है।

'जो अन्त में छोड़ने योग्य है ऐसा व्यवहार चारित्र क्यों ग्रहण करना ? वास्तव में तो मोक्ष की भावना करना ही सर्वोत्तम है।

भाई! भावना तो आप भगवान बनने की ही करिये किन्तु यहां पर शरीर के साथ रहते हुये कम से कम इंसान तो बने रहिये और यह व्यवहार चारित्र ही आपको इंसान बनाता है अन्यथा आप क्या करेंगे ? व्यवहार चारित्र को अर्थात् पाँच अणुव्रत और पाँच महाव्रतों को हेय समझकर क्या पाँच पापों का सेवन करते रहेंगे ? आखिर करेंगे क्या ? व्रत नहीं तो अव्रतरूप ही तो प्रवृत्ति होगी।"

अतः सम्यग्दृष्टि बनकर मोक्ष की प्राप्ति का ध्येय रखना चाहिए किन्तु यदि श्रावक हैं तो मुनि होने की भावना भानी चाहिए और मुनि हैं तो शुद्धोपयोग को प्राप्त करने की सतत भावना रहनी चाहिये। यह भावना दोषास्पद नहीं प्रत्युत कर्म निर्जरा के लिये भी कारणभूत सामग्री की उपेक्षा करने से और मात्र मोक्ष को प्राप्त करने की भावना करते रहने से मोक्ष की प्राप्ति असंभव ही है।

3.4 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

प्रश्न 1—कर्म के निमित्त के उत्पन्न हुए राग–द्वेषादि परिणामों को सिद्धान्त ग्रंथों में क्या कहा है ?

(क) जीव ☐
(ख) अजीव ☐
(ग) नय ☐

प्रश्न 2—जैनधर्म का प्राण.....उभयनय के अवलम्बन को लेने वाला है।

(क) आत्मा ☐
(ख) षट् आवश्यक ☐
(ग) स्याद्वाद ☐

प्रश्न 3—पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक श्रद्धा में किस नय का अवलम्बन लेता है ?

(क) व्यवहारनय ☐
(ख) निश्चयनय ☐
(ग) दोनों नयों का ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—श्रावक के षट्कर्म कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 2—निर्विकल्प अवस्था किस गुणस्थान से प्रारम्भ होकर कहां तक पहुँचती है ?

प्रश्न 3—मनुष्य के गुणों की दुर्दशा कौन कर रहा है, आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के शब्दों में समझाइए ?

प्रश्न 4—आत्मा के सम्यक्त्व गुण को कौन रोकता है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न 1—आचार्य श्री जयसेनाचार्य के अनुसार मोह का नाश किस प्रकार किया जा सकता है ?

पाठ 4—परमात्म प्रकाश-एक अध्ययन

4.1 आचार्य श्री योगीन्द्रदेव (13 वीं शताब्दी में हुए) द्वारा रचित परमात्मप्रकाश ग्रन्थ वास्तव में एक आध्यात्मिक ग्रन्थ होने के साथ ही ज्ञानपिपासुओं के लिए विशेष स्वाध्याय योग्य ग्रन्थ है। उस परमात्मप्रकाश के मंगलाचरण में आचार्यश्री कहते हैं—

जे जाया झाणग्गियएँ कम्मकलंक डहेवि।
मिच्च णिरंजण णाणमय ते परमप्प णवेवि।।1।।

अर्थात् जो भगवान ध्यानरूपी अग्नि से पहले कर्मरूपी कलंक—मैल को भस्म करके नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं उन सिद्धों को नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाश ग्रन्थ कहता हूँ।

अपभ्रंश भाषा के इस दोहा छन्द में श्रीयोगीन्द्रदेव ने जिस ध्यानावस्था से समन्वित परमात्माओं को नमन किया है, श्री ब्रह्मदेव सूरि ने अपनी संस्कृत टीका में उस घटना का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"ध्यानशब्देन आगमापेक्षया वीतरागनिर्विकल्प शुक्लध्यानं, अध्यात्मापेक्षया वीतरागनिर्विकल्प रूपातीत ध्यानं।" तथा चोक्तं—

पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्।।

अर्थात् "वह ध्यान कैसा है" इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि आगम (सिद्धान्तग्रंथ) की अपेक्षा तो वीतराग निर्विकल्प शुक्लध्यान है और अध्यात्म की अपेक्षा वीतराग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है। दूसरी तरह भी कहा है कि—

णमोकार मंत्र आदि मंत्रपदों का जो ध्यान है वह "पदस्थ" कहलाता है। पिण्ड (शरीर) में ठहरा हुआ जो निज आत्मा है उसका चिंतवन "पिण्डस्थ" है, सर्वचिद्रूप (सकलपरमात्मा) जो अरिहंतदेव हैं उनका ध्यान "रूपस्थ" कहा जाता है और निरंजन (सिद्ध भगवान) का ध्यान "रूपातीत" है।

वस्तु के स्वभाव से देखा जावे तो शुद्ध आत्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमयी जो निर्विकल्पसमाधि है उससे उत्पन्न हुआ वीतराग परमानंद समरसीभाव सुखरस का आस्वाद ही जिसका स्वरूप है ऐसा ध्यान का लक्षण जानना चाहिए।

इस अध्यात्म ग्रन्थ में नमस्कार शब्द का खुलासा करते हुए भी टीका में बतलाया है कि "यह नमस्कार शब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार है और केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्मरणरूप भावरूप नमस्कार कहा जाता है। यह द्रव्य और भावरूप नमस्कार व्यवहारनय से साधक दशा में कहा है तथा शुद्धनिश्चयनय से वंद्य-वंदक भाव नहीं पाया जाता है।"

इससे यह ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वाचार्यों ने परोपकार की भावना से जब ग्रन्थों की रचना की तब वे भी व्यवहारनय का आश्रय लेकर निश्चय स्वरूप आत्मा की भावना ही करते थे न कि वे मात्र निश्चय में लीन रहा करते थे। जैसा कि द्वितीय गाथा से भी श्रीयोगीन्द्रदेव की व्यवहार भक्ति का परिज्ञान होता है—

ते वंदऊ सिरि सिद्धगण होसहिं जे वि अणंत।
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत।।2।।

अर्थात् मैं उन सिद्ध समूहों को नमस्कार करता हूँ जो आगामी काल में अनंत होंगे। कैसे होंगे ? परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे। क्या करते हुए ? रागादि विकल्परहित परमसमाधि का सेवन करते हुए भविष्य में अनंत सिद्ध परमेष्ठी होंगे।

इसका अर्थ यह हुआ कि शक्तिरूप में परमात्मतत्त्व की सत्ता को स्वीकार करते हुए आचार्यदेव ने भविष्यत्कालीन सिद्ध परमेष्ठियों को भी नमन करते हुए अपनी सहृदयता का परिचय प्रदान किया है। इसमें हम सभी की आत्माओं को

भी नमन हो जाता है क्योंकि भव्यत्व की अपेक्षा हम लोगों की आत्मा भी भावी सिद्ध परमात्मा है। यही भाव एक कवि ने भी अपने भजन की एक पंक्ति में कहा है—

मेरा नम्र प्रणाम है,

जग के उन सब मुनिराजों को मेरा नम्र प्रणाम है।।
सिद्धों की श्रेणी में आने वाला जिनका नाम है।
जग के उन सब मुनिराजों को बारम्बार प्रणाम है।।

इसी प्रकार अगले तृतीय–चतुर्थ दोहे में वर्तमानकालीन एवं भूतकालीन सिद्धों को नमस्कार किया है। यहाँ तृतीय दोहे में एक बात विशेष दृष्टव्य है—

ते हउँ वंदउँ सिद्धगण अच्छहिं जे वि हवंत।
परम समाहि महग्गियएँ कम्मिंधणइँ हुणंत।।3।।

अर्थात् उन सिद्ध समूहों को नमस्कार करता हूँ जो वर्तमान समय में परमसमाधिरूप महाअग्नि में कर्मरूपी ईंधन को भस्म करते हुए आत्मतत्त्व में स्थित हैं।

इसकी टीका में स्पष्ट किया है कि पाँच महाविदेहों में आज भी जो वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन मुनिगण सिद्धपद को प्राप्त कर रहे हैं उन्हें वर्तमान सिद्ध परमेष्ठी के रूप में मेरा नमस्कार है। यहाँ निर्विकल्प समाधि को मूल गाथासूत्र में अग्नि की उपमा प्रदान करते हुए आचार्यश्री ने कर्मों के ईंधन का होम—हवन करना बताया है। इससे सिद्ध होता है कि हवन सदैव अग्नि में ही होता आया है इसीलिए निर्विकल्प समाधिरूप तपस्या को अग्नि तथा कर्मों के लिए ईंधन—लकड़ी की उपमा प्रसिद्ध हुई है अतः पूजा विधानों में पूर्णाहुति हवन करने की विधि पूर्णतया आगमसमस्त ही जानना चाहिए, उसमें सन्देह करके जो लोग बिना अग्नि जलाए थाली में ही चावलों से हवन करने लगते हैं उसे हवन संज्ञा कथमपि नहीं दे सकते हैं।

आदिपुराण भाग–2 में भगवान ऋषभदेव के निर्वाणगमन के पश्चात् चौकोन कुण्ड में हवन करने का विधान आया है। प्रतिष्ठापाठ आदि ग्रन्थों में भी अग्नि में हवन करने का वर्णन आता है।

चतुर्थ दोहे की टीका में सिद्धों की गुरुता का वर्णन करते हुए श्री ब्रह्मदेव सूरि ने लिखा है कि "जो भारी होता है वह गुरुतर होता है और जल में डूब जाता है किन्तु तीन लोक के गुरु होते हुए भी भगवान संसार में डूबते नहीं हैं अर्थात् वे मोक्ष जाने के बाद संसार में पुनः कभी वापस नहीं आते हैं तथा तीनों लोकों में सबसे बड़े गुरु कहलाते हैं।"

जैनधर्म में ईश्वर की वीतरागी सत्ता को स्वीकार करते हुए उनका पुनरागमन नहीं माना गया है इसीलिए कुछ लोग इसके वास्तविक रहस्य को न समझकर जैनधर्म को नास्तिकधर्म भी मान लेते हैं किन्तु इन ग्रन्थों के स्वाध्याय से जिज्ञासुओं की शंका का समाधान अवश्य हो जाता है।

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की प्रस्तावना में इसी अभिप्राय को अंग्रेजी में भी स्पष्ट करते हुए लेखक ने लिखा है—

``Who have consumed the fuel of Karmas with the fire of great meditation, who dwell in Nirvana never falling back into the ocean of transmigration though supremely weighty with knowledge, and who being self established clearly visualize everything here both the physical and superphysical existence.

निष्कर्ष रूप में यहाँ यह समझना चाहिए कि प्रत्येक संसारी प्राणी के शरीर के अन्दर शक्तिरूप में एक परमात्मतत्त्व छिपा हुआ है किन्तु कर्मों ने उसकी शक्ति को ढक दिया है इसलिए ध्यान की अग्नि से उन कर्म ईंधन को नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

4.2 भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करते हुए कहा है—

ये परमप्प णियंति मुणि परम समाहि धरेवि।
परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवे वि।।7।।

अर्थात् जो मुनि परम समाधि को धारण करके सम्यग्ज्ञान के द्वारा परमात्मा को देखते हैं, रागादि विकल्प रहित परमसमाधि से उत्पन्न हुए परम सुख के रस का अनुभव करने के लिए उन आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को नमस्कार करके मैं परमात्म प्रकाश का व्याख्यान करता हूँ।

ग्रन्थकर्ता आचार्यदेव के इस दोहे की टीका में श्री ब्रह्मदेवसूरि ने आचार्य परमेष्ठी के पंचाचारों को भी निश्चय-व्यवहार दोनों प्रकार से वर्णित करते हुए लिखा है—

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसम्बन्धः द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं.....

अर्थात् अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से (जो उपचरित नहीं है किन्तु मिथ्या है उस नय से) द्रव्यकर्म, नोकर्म का सम्बन्ध होता है उससे रहित और अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक का सम्बन्ध है। उससे तथा मतिज्ञानादि विभाव गुण के सम्बन्ध से रहित और नर,म नारकादि चतुर्गति रूप विभावपर्यायों से रहित जो चिदानन्द चिद्रूप एक अखंड स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व है वही सत्य है, उसी को परमार्थरूप समयसार कहना चाहिए। वही सब प्रकार से आराध्य है, उससे भिन्न जो वस्तु है वह सब त्याज्य—त्याग करने योग्य है ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन "दर्शनाचार" कहा जाता है। उसी निजस्वरूप में संशय-विमोह-विभ्रम रहित जो स्वसंवेदन-ज्ञानरूप ग्राहक बुद्धि है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है उस रूप आचरण को "ज्ञानाचार" कहा है। उसी शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त संकल्प-विकल्प रहित जो नित्यानन्दमय निजरस का आस्वाद, निश्चल अनुभव है वह सम्यक्चारित्र है, उसका जो आचरण और उस रूप परिणमन है वह "चारित्राचार" है। उसी परमानंद स्वरूप में परद्रव्य की इच्छा का निरोध कर सहज आनंदरूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन "तपश्चरणाचार" है तथा उसी शुद्धात्मस्वरूप में अपनी शक्ति को प्रगटकर आचरणरूप परिणमन है वह "वीर्याचार" कहलाता है। इस प्रकार निश्चय पंचाचार का लक्षण बताया गया है। अब व्यवहार का लक्षण भी कहते हैं—

निःशंकाद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः .....

अर्थात् निःशंकित को आदि लेकर अष्ट अंगरूप बाह्य दर्शनाचार, शब्दशुद्ध, अर्थशुद्ध आदि आठ प्रकार के बाह्य ज्ञानाचार, पंचमहाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्राचार, अनशनादि बारह तपरूप तपाचार और अपनी शक्ति प्रगट कर मुनिव्रत का आचरण व्यवहार वीर्याचार है। यह व्यवहार पंचाचार परम्परा से मोक्ष का कारण है और निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभाव जो शुद्धात्मतत्त्व है उसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तथा परद्रव्य की इच्छा का निरोध और निज शक्ति का प्रगट करना ऐसा यह निश्चय पंचाचार साक्षात् मुक्ति का कारण है। ऐसे निश्चय-व्यवहाररूप पंचाचारों का जो स्वयं पालन करते हैं और शिष्यों से उनका पालन करवाते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठियों की मैं वन्दना करता हूँ।

इसी प्रकार आगे इसी टीका में उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी की वन्दना करते हुए पंच परमेष्ठियों की भक्ति का उपदेश दिया है पुनः अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट के निवेदन पर शुद्धात्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणें णाणमउ जो परमप्प सहाउ।।12।।

अर्थ—हे प्रभाकर भट्ट ! तू आत्मा को तीन प्रकार का जानकर बहिरात्मस्वरूप भाव को शीघ्र ही छोड़ और जो परमात्मा का स्वभाव है उसे स्वसंवेदनज्ञान से अन्तरात्मा होता हुआ जान, वह स्वभाव केवलज्ञान से परिपूर्ण है।

यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया था कि स्वसंवेदन अर्थात् अपने द्वारा अपनी आत्मा का अनुभव करने में वीतराग विशेषण लगाना आवश्यक क्यों है ? क्योंकि स्वसंवेदनज्ञान तो रागरहित ही होगा। इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं कि—

विषयों के आस्वादन से भी उन वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान होता है परन्तु वह रागभाव से दूषित है इसलिए निजरस का आस्वाद नहीं है और वीतराग दशा में स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, आकुलतारहित होता है। वह स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे, पाँचवे गुणस्थान वाले गृहस्थ के भी होता है किन्तु चूँकि वहाँ पर सराग देखने में आता है इसलिए रागसहित अवस्था के निषेध करने हेतु वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान की संज्ञा से उसे संबोधित किया गया है। अनन्तानुबन्धी कषाय से युक्त मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा कहलाता है अतः उसके तो स्वसंवेदनज्ञान अर्थात् सम्यक्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने से सम्यग्ज्ञान तो हो गया परन्तु कषाय की तीन चौकड़ी (अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन के क्रोध–मान–माया–लोभ रूप चार-चार भेद) बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं होता और श्रावक के पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी का अभाव है इसलिए रागभाव कुछ कम हुआ, वीतरागभाव बढ़ गया, इस कारण स्वसंवेदनज्ञान भी प्रबल हुआ परन्तु दो चौकड़ी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नहीं हुआ। मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है इसलिए रागभाव तो निर्बल हो गया तथा वीतराग भाव प्रबल हुआ, वहाँ पर स्वसंवेदनज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ परन्तु चौथी चौकड़ी बाकी है इसलिए छठे गुणस्थान वाले मुनि सरागसंयमी हैं उनमें वीतराग संयमी जैसा प्रकाश नहीं है। सातवें गुणस्थान में चौकड़ी मन्द हो जाती है, वहाँ पर आहार–विहार क्रिया नहीं होती है, वे ध्यान में आरुढ़ रहते हैं। वे मुनि जब सातवें से छठे गुणस्थान में आते हैं तब वहाँ पर आहारादि क्रिया है, इसी प्रकार छठा–सातवां गुणस्थान करते रहते हैं क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों का काम अन्तर्मुहूर्त होता है।

इस गाथा के अंग्रेजी भावार्थ में भी लेखक ने सरल शब्दों में स्पष्ट किया है कि—

``The souls attain liberation through Right Faith (or vision) Knowledge and conduct which really speaking consist respectively in seeing, knowing and conduction one self by oneself. From the ordinary point of view Right Faith, Knowledge and Conduct constitute the means of Moksha, but really speaking the soul itself is all the three. The Atman sees, knows and realizes himself by himself, therefore the Atman himself is the cause of Moksha. Proper knowledge of the soul constitutes of Right Faith, knowledge and Conduct leads to spiritual purity.

उपर्युक्त गाथा के विशेषार्थ में पंडित श्री दौलतराम जी ने आगे के अष्टम से तेरहवें गुणस्थान तक की प्रकृतियों के नाश का क्रम बतलाकर अन्त में कहा है कि चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो जीव अंतरात्मा कहलाते हैं, उसमें प्रत्येक गुणस्थान में क्रमशः वृद्धिरूप भावों की शुद्धता पाई जाती है और पूर्ण शुद्धता परमात्मा (तेरहवें गुणस्थानवर्ती) के ही पाई जाती है, ऐसा सारांश समझना चाहिए।

यह ग्रंथ वास्तव में अपने नाम के अनुसार ही परमात्मा को प्रकाशित करने वाला है। इसमें पूज्य आचार्य श्री योगीन्द्रदेव ने विशेष रूप से यही बताया है कि जिस प्रकार दूध में घी बनने की तथा बीज में वृक्ष बनने की शक्ति मौजूद है ठीक उसी प्रकार हम सबकी आत्मा में भी परम आत्मा अर्थात् भगवान आत्मा बनने की शक्ति विद्यमान है।

4.3 आत्मा के भेदों को बतलाते हुए आचार्यश्री कहते हैं—

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा ति विहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ।।

अर्थात् आत्मा के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमें से प्रथम बहिरात्मा का लक्षण कहते हैं कि जो देह को ही आत्मा मानता है वह प्राणी बहिरात्मा है वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए परमानन्द सुखामृत को नहीं पाता और अज्ञानी है इस प्रकार यह बहिरात्मा तो त्याज्य है अर्थात् आदर योग्य नहीं है।

आगे परमसमाधि में स्थित देह से भिन्न ज्ञानमयी आत्मा को जो जानता है वह अन्तरात्मा है अर्थात् जो पुरुष परमात्मा को शरीर से अलग एवं केवलज्ञान से पूर्ण जानता है वही परमसमाधि में तिष्ठता हुआ अंतरात्मा अर्थात् विवेकी है। कहने का तात्पर्य यही है कि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से अर्थात् इस जीव के साथ परवस्तु का संबंध अनादिकालीन मिथ्यारूप होने से व्यवहारनय से देहमयी है तो भी निश्चयनय से सर्वदा देहादिक से भिन्न है और केवलज्ञानमयी है ऐसा निज शुद्धात्मा को वीतराग निर्विकल्प सहजानंद शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप परमसमाधि में स्थित होता हुआ जानता है वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है, पुनः परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि सब परद्रव्यों को छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवलज्ञानमय पा लिया है वही परमात्मा है, जिसने ज्ञानावरणादि कर्मों को नाश करके और सब देहादिक परद्रव्यों को छोड़ करके केवलज्ञानमयी आत्मा को प्राप्त किया है उसको शुद्धमन से परमात्मा जानो अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि जिसने देहादिक समस्त परद्रव्य को छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिक भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनों से रहित केवलज्ञानमयी अपनी आत्मा का लाभ कर लिया है, ऐसे आत्मा को तू माया, मिथ्या, निदानरूप शल्य वगैरह समस्त विभाव परिणामों से रहित निर्मलचित्त से परमात्मा जान। इस प्रकार आत्मा के भेदों का वर्णन करने के पश्चात् अब आचार्यश्री मुक्ति को प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्मा के व्याख्यान की मुख्यता से अग्रिम गाथा कहते हैं—

तिहुयण वेदिउ सिद्धि गउ हरि हर झायहिं जो जि।
लक्खु अलक्खें धरिवि थिरू मुणि परमप्पउ सो जि।।

इस गाथासूत्र में आचार्यश्री अपने शिष्य प्रभाकरभट्ट को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि इन्द्र, नारायण, रूद्र वगैरह बड़े-बड़े महापुरुष भी उन तीन लोकवंदनीक और केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपने को प्राप्त जिस परमात्मा का ध्यान करते हैं, अपने मन को वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द स्वभाव परमात्मा में स्थिर करके उसी को हे प्रभाकरभट्ट! तू परमात्मा जानकर चिंतवन कर। सारांश यह है कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्मा के समान रागादि रहित अपने शुद्ध आत्मा को पहचान, वही साक्षात् उपादेय है अन्य सब संकल्प–विकल्प त्यागने योग्य हैं। अब संकल्प विकल्प का स्वरूप कहते हैं कि जो बाह्य वस्तु पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब, बांधव वगैरह सचेतन पदार्थ तथा चाँदी, सोना, रत्न मणि के आभूषण वगैरह अचेतन पदार्थ हैं इन सबको अपने समझे कि ये मेरे हैं ऐसे ममत्व परिणाम को संकल्प जानना तथा मैं सुखी—मैं दुःखी इत्यादि हर्ष–विषादरूप परिणाम होना वह विकल्प है।

आगे नित्य, निरंजन, ज्ञानमयी, परमानन्द स्वभाव, शांत और शिवस्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् पुनः कहते हैं कि जिस भगवान के सफेद, काला, लाल, तिक्त, कटु, कषायरूप पाँच रस नहीं हैं जिसके भाषा अभाषारूप शब्द नहीं है, सात स्वर नहीं हैं, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, लघु, मृदु, कठिनरूप आठ तरह का स्पर्श नहीं है और जिसके जन्म-जरा नहीं है तथा मरण भी नहीं है उसी चिदानन्द शुद्धस्वभाव परमात्मा की निरंजन संज्ञा है। फिर वह निरंजनदेव कैसा है—जिस सिद्ध परमेष्ठी के गुस्सा नहीं है, मोह तथा कुल, जाति वगैरह आठ तरह का अभिमान नहीं है, जिसके माया व मान

कषाय नहीं है और जिसके ध्यान के स्थान नाभि, हृदय, मस्तक वगैरह नहीं हैं, चित्त के रोकने रूप ध्यान नहीं है ऐसे निज शुद्धात्मा को तू जान। भावार्थ यही है कि अपनी प्रसिद्धता, महिमा, अपूर्व वस्तु का मिलना और देखे सुने भोग इनकी इच्छा रूप सब विभाव परिणाम को छोड़कर अपने शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्प समाधि में ठहरकर उस शुद्धात्मा का अनुभव करे।

इस प्रकार विस्तारपूर्वक शुद्धता के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् आचार्यश्री योगीन्द्रदेव पुनः वेद, शास्त्र, इन्द्रियादि परद्रव्यों के अगोचर और वीतरागनिर्विकल्प समाधि के गोचर ऐसे परमात्मा के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं—

वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं जो जिय मणहु ण जाइ।
णिम्मल झाणहँ जो विसउ सो परमप्पु अणाइ।।

केवली की दिव्यवाणी से, महामुनियों के वचनों से तथा इन्द्रिय और मन से भी जो शुद्धात्मा जाना नहीं जाता है अर्थात् वेद, शास्त्र ये दोनों शब्द अर्थस्वरूप हैं। आत्मा शब्दातीत है तथा इन्द्रिय, मन विकल्परूप हैं और मूर्तिक पदार्थ को जानते हैं वह आत्मा निर्विकल्प है, अमूर्तिक है इसलिए इन तीनों से नहीं जान सकते। जो आत्मा निर्मल ध्यान के गम्य है वही आदि अंत रहित परमात्मा है।

वस्तुतः इस ग्रन्थ को पढ़ते-पढ़ते मन अत्यन्त प्रफुल्लित हो जाता है और आत्मा वैराग्यभाव से ओत-प्रोत हो जाती है। वास्तव में जब आचार्य श्री योगीन्द्रदेव ने इस महान ग्रंथ का लेखन किया होगा तब वे कितनी प्रसन्नता का अनुभव करते होंगे इसका अनुमान हम और आप नहीं लगा सकते। इसमें उन्होंने बहिरात्मा से लेकर परमात्मा तक हर प्रकार के जीवों को सम्बोधित किया है। यहाँ आचार्यश्री क्या कहते हैं ? देखिए—

किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि निर्विकल्पसमाधि में सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है ? उसका उत्तर कहते हैं—जहाँ पर वीतराग है वहीं निर्विकल्प समाधिपना है, इस रहस्य को समझाने के लिए अथवा जो रागी होकर भी कहते हैं कि हम निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं उनके निषेध के लिए वीतरागता सहित निर्विकल्पसमाधि का कथन किया गया है अथवा सफेद शंख की तरह स्वरूप प्रगट करने के लिए कहा गया है अर्थात् जो शंख होगा वह श्वेत ही होगा उसी प्रकार जो निर्विकल्प समाधिमय होगा वह वीतरागरूप ही होगा, पुनः यह परमात्मा व्यवहारनय से इस देह में ठहर रहा है लेकिन निश्चयनय से अपने रूप में ही तिष्ठता है, ऐसी आत्मा को कहते हैं—

देहादेहहिं जो वसई, भेयाभेय णएण।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ, किं अण्णे बहुएण।।

अर्थात् जो आत्मा व्यवहारनय से तो देह से अभेदरूप अर्थात् तन्मय है और निश्चयनय से सदा काल से अत्यन्त जुदा है, अपने स्वभाव में स्थित है उसे ही हे जीव! तू परमात्मा जान। कहने का तात्पर्य यही है कि देह में रहता हुआ भी निश्चय से जो देहस्वरूप नहीं होता वही निज शुद्धता उपादेय है।

पुनः आचार्यश्री कहते हैं कि जीव और अजीव दो अलग-अलग हैं, इन दोनों में लक्षण के भेद से भेद है अतः जीव और अजीव को एक मत समझो अथवा यों कह सकते हैं कि जो पर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए रागादि विकार हैं उनको अपने से पर समझो और आत्मा को अपना जानो।

श्री समयसार नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ में कहा है—"अरसं" इत्यादि इसका सारांश यह है कि जो आत्मद्रव्य है वह मिष्ट वगैरह पाँच प्रकार के रस से रहित है, श्वेत आदि पाँच तरह के वर्ण से रहित है, सुगंध, दुर्गंध इन दो तरह की गंध उसे नहीं है वह आत्मद्रव्य दृष्टिगोचर नहीं है, चैतन्यगुण से सहित है, शब्द से रहित है, लिंग रहित है और उसका कुछ भी आकार नहीं दिखता। यहाँ आकार के छह भेदों को बताते हैं—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक। इन छह प्रकार के आकारों से रहित जो निज वस्तु है उसे पहचानना चाहिए इसके विपरीत आत्मा से

भिन्न जो अजीव पदार्थ है उसके लक्षण दो तरह से हैं एक जीव सम्बन्धी दूसरा अजीव सम्बन्धी। जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप है वह तो जीव संबंधी है और पुद्गलादि पाँच द्रव्यरूप अजीव सम्बन्धी हैं इसलिए जीव से भिन्न अजीवरूप जो भी पदार्थ हैं उन्हें अपना नहीं समझना चाहिए। यद्यपि रागादिक विभाव परिणाम जीव में ही उपजते हैं इससे जीव के कहे जाते हैं परन्तु वे भी कर्मजनित हैं, परपदार्थ के सम्बन्ध से हैं अतः इन्हें भी अपना मत समझो।

यहाँ पर जीव और अजीव दो पदार्थ कहे गए हैं। उनमें से शुद्ध चेतना लक्षण को धारण करने वाला शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है, यह सारांश हुआ है। आगे उसी शुद्धता के ज्ञानादिक लक्षणों को विशेष रूप से कहते हैं—

अमणु अणिंदिउ णाणमउ, मुत्ति विरहिउ चिमित्तु।
अप्पा इंदिय विसउ णवि, लक्खणु एहु णिरूत्त।।

जो शुद्ध आत्मा विकल्पजालमयी मन से रहित है, अनिन्द्रिय है, केवलज्ञान स्वरूप है, अमूर्तिक है, अन्य द्रव्यों में नहीं पाई जाने वाली शुद्ध चेतनास्वरूप है, इन्द्रियों के गोचर नहीं है और वीतराग स्वसंवेदन से ग्रहण करने योग्य है उसे निःसन्देह आत्मा समझना चाहिए और आत्मा उपादेय है तथा आराधने योग्य है। यह तो सच है कि जो भी भव्य प्राणी संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर शुद्धात्मा का ध्यान करता है उसके संसाररूपी बेल नाश को प्राप्त हो जाती है। इसी बात को गाथा के माध्यम से स्पष्ट करते हैं—

भव तणु भोय विरत्त मणु, जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी, संसारिणि तुट्टेइ।।

अर्थात् जो जीव संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर शुद्धात्मा का चिंतवन करता है उसकी मोटी से मोटी भी संसाररूपी बेल नष्ट हो जाती है क्योंकि आचार्यश्री का कहना है कि जो देहरूपी देवालय में रहता है वही शुद्ध निश्चयनय से परमात्मा है।

व्यवहारिक आचरण के द्वारा उसको प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। आगे एक बहुत ही सुन्दर बात बताई गई है कि शुद्धात्मा से भिन्न इस देह में रहता हुआ भी देह को नहीं स्पर्श करता है और देह भी उसको नहीं छूती है—

देहे वसंतु वि णवि छिवई, णियमें देहु वि जो जि।
देहें छिप्पई जो वि णवि, मुणि परमप्पउ सो जि।।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो देह में रहता हुआ भी निश्चयनय से शरीर को नहीं स्पर्श करता है और देह से वह भी नहीं छुआ जाता है अर्थात् न तो जीव देह को स्पर्श करता है और न देह जीव को स्पर्श करती है वही शुद्ध परमात्मा है। इसके विपरीत किसी को "परमात्मा" यह संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि जो शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत क्रोध, मान, माया, लोभरूप विभाव परिणाम हैं उनका उपार्जन करके शुभ-अशुभ कर्मों से बनाई हुई देह में निवास करता हुआ भी निश्चयनय से देह को नहीं स्पर्श करता है और परमात्मा है उसी स्वरूप को वीतराग निर्विकल्प समाधि में तिष्ठ कर चिंतवन करना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य योगीन्द्रदेव के अनुसार प्राणीमात्र को निश्चयनय की श्रद्धा के साथ-साथ व्यवहारनय के द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए।

4.4 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1–परमात्मप्रकाश नामक ग्रंथ की रचना किसने की ?

(क) आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ☐
(ख) आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ☐
(ग) आचार्य श्री योगीन्द्रदेव ☐

प्रश्न 2–णमोकार मंत्रादि मंत्र पदों का ध्यान ..... कहलाता है।

(क) पिण्डस्थ ☐
(ख) पदस्थ ☐
(ग) रूपातीत ☐

प्रश्न 3–निर्विकल्प समाधि को परमात्मप्रकाश ग्रंथ के मूल गाथासूत्र में किसकी उपमा प्रदान की है ?

(क) ईंधन की ☐
(ख) अग्नि की ☐
(ग) जल की ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–सिद्धों की गुरुता का वर्णन करते हुए श्री ब्रह्मदेव सूरि ने क्या कहा है ?

प्रश्न 2–आत्मा के कितने भेद हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 3–व्यवहार पंचाचार और निश्चय पंचाचार किसका कारण है अर्थात् क्या प्रदान करता है ?

प्रश्न 4–आकार के कितने और कौन–कौन से भेद हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–पाँच प्रकार के आचारों का नामोल्लेख करते हुए उनकी परिभाषा बताइए ?

तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार (चार अनुयोगों में निबद्ध जिनागम)

-संदर्भ ग्रंथ-

१. समयसार –आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव

२. पंचास्तिकाय –आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव

३. परमात्म प्रकाश –आचार्य श्री योगीन्द्र देव

४. गोम्मटसार –आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

५. आचार्य श्री वीरसागर स्मृति ग्रंथ

६. आचार्य श्री शिवसागर स्मृति ग्रंथ

७. आचार्य श्री धर्मसागर अभिवंदन ग्रंथ

८. वात्सल्य रत्नाकर (खण्ड-२)

९. जैन भारती –गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

१०. ज्ञानामृत (भाग-२) –गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

११. ज्ञानामृत (भाग-३) –गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

१२. गौतम गणधर वाणी –गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

१३. जीवनदान –गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

१४. भक्ति –गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

१५. गौरव ग्रंथ –प्रकाशन-दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप

१६. अंतर्राज्यीय चरित्र निर्माण संगोष्ठी आख्या

१७. अनेकांत पत्रिका (जुलाई-सितम्बर २०१३)

१८. गुरुवाणी

19. www.encyclopediaofjainism.com

प्रश्नावली (Questions Bank)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1- भगवान महावीर की दिव्यदेशना विपुलाचल पर किस तिथि में प्रारम्भ हुई ?

(क) श्रावण शुक्ला पंचमी ☐ (ख) श्रावण कृष्णा एकम ☐ (ग) कार्तिक शुक्ला एकम ☐

प्रश्न 2- वर्तमान जैन वर्ग..... की छत्रछाया में अपना आत्मविकास करने का उद्यम कर रहे हैं ?

(क) भगवान महावीर ☐ (ख) भगवान शांतिनाथ ☐ (ग) वृषभसेन गणधर ☐

प्रश्न 3- किसे अनक्षरी कहा जाता है ?

(क) गुरुवाणी को ☐ (ख) दिव्यध्वनि को ☐ (ग) आधुनिक विज्ञान को ☐

प्रश्न 4- गौतम ब्राह्मण के पिता का क्या नाम था ?

(क) शांडिल्य ब्राह्मण ☐ (ख) गार्ग्य ब्राह्मण ☐ (ग) वायुभूति ब्राह्मण ☐

प्रश्न 5- भगवान महावीर को केवलज्ञान प्रगट होकर समवसरण रचना होने के बाद कितने दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी ?

(क) 33 दिन ☐ (ख) 66 दिन ☐ (ग) 50 दिन ☐

प्रश्न 6- मानस्तम्भ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उसे ..... प्रगट हो गया ?

(क) शुद्धोपयोग ☐ (ख) मतिज्ञान ☐ (ग) सम्यक्त्व ☐

प्रश्न 7- श्रावक के कितने व्रत होते हैं ?

(क) 4 ☐ (ख) 6 ☐ (ग) 12 ☐

प्रश्न 8- तीन गुणव्रतों में से अन्तिम गुणव्रत–

(क) दिशा और विदिशा का प्रमाण ☐

(ख) अनर्थदण्ड से विरति ☐

(ग) भोग–उपभोग की वस्तुओं का परिसंख्यान ☐

प्रश्न 9- सम्यक्त्व के कितने अंग हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) चार ☐ (ग) बारह ☐

प्रश्न 10- जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली वे क्या कहलाते हैं ?

(क) अरहंत परमात्मा ☐ (ख) सिद्ध परमात्मा ☐ (ग) साधु परमेष्ठी ☐

प्रश्न 11- भगवान की दिव्यध्वनि जिनेन्द्र भगवान के मुख से उत्पन्न होने से ..... कहलाती है।

(क) कल्याणकारी ☐ (ख) मोक्षप्रदायिनी ☐ (ग) जिनवाणी ☐

प्रश्न 12- भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् कितने श्रुतकेवली हुए ?

(क) तीन ☐ (ख) पांच ☐ (ग) एक ☐

प्रश्न 13-जिसमें तीर्थंकर भगवन्तों, चक्रवर्ती, कामदेव आदि त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का निरूपण किया गया हो वह क्या कहलाता है ?

(क) प्रथमानुयोग ☐ (ख) करणानुयोग ☐ (ग) चरणानुयोग ☐

प्रश्न 14-मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी के जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने वाले पउमचरिउ ग्रंथ की रचना किन आचार्य ने की है ?

(क) जिनसेन ☐ (ख) सोमप्रभ ☐ (ग) विमलसूरि ☐

प्रश्न 15-आचार्य श्री मल्लिषेण कृत काव्य रचना का नाम बताइए ?

(क) यशोधर चरित ☐ (ख) नागकुमार चरित ☐ (ग) प्रद्युम्न चरित ☐

प्रश्न 16-जो कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे क्या कहलाते हैं ?

(क) श्रमण ☐ (ख) जिन ☐ (ग) मुनि ☐

प्रश्न 17-अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में प्रत्येक के कितने-कितने भेद हैं ?

(क) आठ-आठ ☐ (ख) छह-छह ☐ (ग) बारह-बारह ☐

प्रश्न 18-जिसमें मनुष्यों एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई, वैभव आदि घटते रहते हैं वह क्या कहलाता है ?

(क) उत्सर्पिणी काल ☐ (ख) अवसर्पिणी काल ☐ (ग) हुण्डावसर्पिणी काल ☐

प्रश्न 19-जो तिरा दे-पार कर दे अथवा तिराने-पार करने में सहायक हो उसे क्या कहते हैं ?

(क) तीर्थ ☐ (ख) नौका ☐ (ग) तीर्थंकर ☐

प्रश्न 20-तीर्थंकर जन्म से ही कितने ज्ञान के धारी होते हैं ?

(क) 2 ☐ (ख) 3 ☐ (ग) 4 ☐

प्रश्न 21-चौदहवें मनु-कुलकर का नाम बताइए ?

(क) ऋषभदेव ☐ (ख) प्रसेनजित् ☐ (ग) नाभिराय ☐

प्रश्न 22-"आज तुम्हारे जाल में जो सबसे प्रथम मछली आएगी, उसको जीवनदान दे देना" यह वाक्य किससे किसने कहे थे ?

(क) मुनिराज ने मृगसेन धीवर से ☐

(ख) घण्टा ने अपने पति से ☐

(ग) श्रीदत्त सेठ ने एक गरीब से ☐

प्रश्न 23-मृगसेन धीवर मंत्र के प्रभाव से मरकर किस सेठ का पुत्र हुआ ?

(क) श्रीदत्त सेठ ☐ (ख) धनपाल सेठ ☐ (ग) गुणपाल सेठ ☐

प्रश्न 24-सेठ सुदर्शन का शीलभंग करने का सर्वप्रथम प्रयास किसने किया ?

(क) कपिला ने ☐ (ख) रानी अभयमती ने ☐ (ग) वेश्या ने ☐

प्रश्न 25-सुदर्शन सेठ पूर्व भव में किस पर्याय में थे ?

(क) सुभग ग्वाला ☐ (ख) एक मछुआरा ☐ (ग) एक सेठ ☐

प्रश्न 26- नरक गति में जाने के कितने मार्ग हैं ?

(क) दो ☐ (ख) तीन ☐ (ग) चार ☐

प्रश्न 27- वायुकायिक जीवों की आयु कितनी होती है ?

(क) 10 हजार वर्ष ☐ (ख) 3 हजार वर्ष ☐ (ग) 12 हजार वर्ष ☐

प्रश्न 28- मोक्ष किस गति से प्राप्त होता है ?

(क) तिर्यंचगति से ☐ (ख) मनुष्यगति से ☐ (ग) देवगति से ☐

प्रश्न 29- सातवीं पृथ्वी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है ?

(क) 500 धनुष ☐ (ख) 10 हजार धनुष ☐ (ग) 100 धनुष ☐

प्रश्न 30- सातों नरकों में बिलों की कुल संख्या कितनी है ?

(क) 15 लाख ☐ (ख) 80 लाख ☐ (ग) 84 लाख ☐

प्रश्न 31- एक कल्प काल कितने सागर का होता है ?

(क) 10 कोड़ा-कोड़ी ☐ (ख) 20 कोड़ा-कोड़ी ☐ (ग) 5 कोड़ा-कोड़ी ☐

प्रश्न 32- अनादिकाल से स्वर्ण पाषाण के साथ किट्टकालिमा के समान संबंध किसका होता है ?

(क) वृक्ष और बीज का ☐ (ख) जीव-कर्म का ☐ (ग) किसी का नहीं ☐

प्रश्न 33- कर्मों का राजा किस कर्म को कहा है ?

(क) वेदनीय कर्म ☐ (ख) मोहनीय कर्म ☐ (ग) नोकर्म ☐

प्रश्न 34- आत्मा और जड़ कर्मों का एक ..... संबंध है ?

(क) अनादि ☐ (ख) क्षेत्रावगाह ☐ (ग) गर्म लोहे के समान ☐

प्रश्न 35- श्री महावीराचार्य का आज कौन सा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है ?

(क) ज्योतिष पटल ☐ (ख) मंद प्रबोधिनी ☐ (ग) त्रिलोकसार ☐

प्रश्न 36- राजू जगच्छ्रेणी का ..... भाग होता है ?

(क) आठवाँ ☐ (ख) दसवाँ ☐ (ग) सातवाँ ☐

प्रश्न 37- शून्य का उपयोग किस रूप में होता है ?

(क) बिन्दू या लघु वृत्तरूप ☐ (ख) बिन्दू या वृहत् वृत्तरूप ☐ (ग) कोई नहीं ☐

प्रश्न 38- द्वादशांग में सबसे प्रथम अंग कौन-सा है ?

(क) प्रथमानुयोग ☐ (ख) आचारांग ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 39- "प्रवचनसार" ग्रंथ के अन्तिम चारित्र अधिकार में 75 गाथाएँ किसके अनुसार है ?

(क) अमृतचन्द्राचार्य ☐ (ख) जयसेनाचार्य ☐ (ग) आचार्य वट्टेकर ☐

प्रश्न 40- "रयणसार" ग्रंथ के रचियता कौन हैं ?

(क) आ. उमास्वामी ☐ (ख) आ. कुन्दकुन्ददेव ☐ (ग) आ. अमृतचन्द्रसूरि ☐

प्रश्न 41-मैनासुन्दरी ने अपने पति व उनके साथियों को कुष्ठ रोग से कैसे मुक्त कराया ?

(क) गंधोदक लगाकर ☐ (ख) तीर्थवंदना करके ☐ (ग) ये दोनों ☐

प्रश्न 42-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म ..... आदि क्या हैं ?

(क) द्रव्य ☐ (ख) तत्व ☐ (ग) पदार्थ ☐

प्रश्न 43-मंदिर निर्माण कराया जाता है !

(क) कर्म करने के लिए ☐ (ख) धर्म कार्य करने के लिए ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 44-ग्यारह महत्त्वपूर्ण स्थानों में से एक—

(क) जिनप्रतिमा ☐ (ख) राग ☐ (ग) द्वेष ☐

प्रश्न 45-मुनियों का आकार कौन सी मुद्रा है ?

(क) चक्रवर्ती मुद्रा ☐ (ख) जिनमुद्रा ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 46-तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों से पवित्र स्थल किस नाम से जिनागम में प्रसिद्ध हैं ?

(क) अतिशय क्षेत्र ☐ (ख) सिद्धक्षेत्र ☐ (ग) तीर्थ ☐

प्रश्न 47-चारित्र के कितने भेद हैं ?

(क) 2 ☐ (ख) 5 ☐ (ग) 8 ☐

प्रश्न 48-इनमें से कोई एक सम्यक्त्व के आठ अंगों में से एक है—

(क) ज्ञानी होना ☐ (ख) उपगूहन ☐ (ग) विद्यादान देना ☐

प्रश्न 49-जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शिथिलता नहीं करना कौन सा अंग कहलाता है ?

(क) स्थितिकरण ☐ (ख) अमूढ़दृष्टि ☐ (ग) वात्सल्य ☐

प्रश्न 50-पंचास्तिकाय नामक प्राभृत शास्त्र की रचना किसने की ?

(क) श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव ☐ (ख) श्री कुंदकुंदाचार्य ☐ (ग) श्री जयसेनाचार्य ☐

प्रश्न 51-अरहंतदेव की दिव्यध्वनि कितनी भाषारूप मानी गई है ?

(क) 100 ☐ (ख) 718 ☐ (ग) 720 ☐

प्रश्न 52-जो मल या पाप को गलावे—विध्वंस करे, उसे क्या कहते हैं ?

(क) मंगल ☐ (ख) शास्त्र ☐ (ग) निमित्त ☐

प्रश्न 53-.....जीव ही शास्त्रों को पढ़कर अपने शुद्धतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

(क) निश्चयाभासी ☐ (ख) सम्यग्दृष्टि ☐ (ग) क्षणिकवादी ☐

प्रश्न 54-सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए कितनी लब्धियाँ मानी हैं ?

(क) 10 ☐ (ख) 8 ☐ (ग) 5 ☐

प्रश्न 55-अध:करण लब्धि का काल कितना है ?

(क) अंतर्मुहूर्त ☐ (ख) अद्धापल्य ☐ (ग) असंख्यात वर्ष ☐

प्रश्न 56- कर्म के निमित्त के उत्पन्न हुए राग–द्वेषादि परिणामों को सिद्धान्त ग्रंथों में क्या कहा है ?

(क) जीव ☐ (ख) अजीव ☐ (ग) नय ☐

प्रश्न 57- जैनधर्म का प्राण.....उभयनय के अवलम्बन को लेने वाला है।

(क) आत्मा ☐ (ख) षट् आवश्यक ☐ (ग) स्याद्वाद ☐

प्रश्न 58- पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक श्रद्धा में किस नय का अवलम्बन लेता है ?

(क) व्यवहारनय ☐ (ख) निश्चयनय ☐ (ग) दोनों नयों का ☐

प्रश्न 59- परमात्मप्रकाश नामक ग्रंथ की रचना किसने की ?

(क) आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ☐ (ख) आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ☐ (ग) आ. श्री योगीन्द्रदेव ☐

प्रश्न 60- णमोकार मंत्रादि मंत्र पदों का ध्यान ..... कहलाता है।

(क) पिण्डस्थ ☐ (ख) पदस्थ ☐ (ग) रूपातीत ☐

प्रश्न 61- निर्विकल्प समाधि को परमात्मप्रकाश ग्रंथ के मूल गाथासूत्र में किसकी उपमा प्रदान की है ?

(क) ईंधन की ☐ (ख) अग्नि की ☐ (ग) जल की ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1- दिव्यध्वनि को सर्वभाषात्मक कौन से आचार्य ने कहा है ?

प्रश्न 2- भगवान की दिव्यध्वनि कितनी महाभाषा और कितनी लघुभाषा में खिरती है ?

प्रश्न 3- भगवान महावीर की दिव्यध्वनि अर्धमागधी भाषा में खिरी थी, इसका क्या तात्पर्य है ?

प्रश्न 4- श्री गौतमस्वामी कृत चैत्यभक्ति में किसका वर्णन है ?

प्रश्न 5- तीर्थंकर की दिव्यध्वनि कब–कब खिरती है ?

प्रश्न 6- इस अवसर्पिणी काल में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति कब हुई ?

प्रश्न 7- युग का प्रथम दिवस कौन सा माना जाता है, इसे जैन सिद्धान्तानुसार समझाइए ?

प्रश्न 8- श्रावक के बारह व्रतों को धारण करने वाले भव्यात्मा जीव कहाँ–कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

प्रश्न 9- श्रावक के व्रतों का उत्कृष्टतया पालन करने वाले कम से कम और अधिक से अधिक कितने भव ग्रहण करके निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं ?

प्रश्न 10- ग्यारह प्रतिमाधारी के दो भेद कौन–कौन से हैं, परिभाषा सहित बताइए !

प्रश्न 11- मुनियों के 28 मूलगुण कौन–कौन से हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 12- षट्खण्डागम ग्रंथ किस तिथि में लिपिबद्ध होकर पूर्ण हुआ तथा उस तिथि को किस नाम से जाना जाता है ?

प्रश्न 13- आचार्य श्री कुन्दकुन्द कृत 7 ग्रंथों के नाम बताइए ? उन्होंने तमिल भाषा में किस कृति की रचना की ?

प्रश्न 14- आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी का अतिसंक्षिप्त परिचय देकर उनकी कृतियों के बारे में बताइए ? वर्तमान में उनकी कौन–कौन सी कृतियाँ उपलब्ध हैं ?

प्रश्न 15- अग्रायणीयपूर्व का ज्ञान किन आचार्यदेव को था तथा उन्होंने इसका संरक्षण–संवर्धन किस प्रकार किया ?

प्रश्न 16- प्रथमानुयोग साहित्य में संस्कृत भाषा में निबद्ध चरित काव्यों में से किन्हीं पांच रचनाओं के नाम उनके रचनाकारों के साथ बताइए ?

प्रश्न 17- आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी के अनुसार प्रथमानुयोग की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 18- आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित किन्हीं सात चरित्र ग्रंथों के नाम बताइए ?

प्रश्न 19- पुराण ग्रंथों का लेखन किन-किन आचार्यों ने किया है, उनके नाम बताते हुए उनकी रचना का भी नामोल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 20- कल्पवृक्ष कितने होते हैं, नामोल्लेख करते हुए किन्हीं पांच के कार्यों को बताइए ?

प्रश्न 21- कुलकर कितने होते हैं, नाम बताएं ?

प्रश्न 22- शलाका पुरुष कितने और कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 23- चौबीस कामदेव कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 24- तीर्थंकर भगवान मनुष्यगति से ही क्यों जन्म लेते हैं, अन्य तीन गतियों से क्यों नहीं ? समाधान दीजिए ?

प्रश्न 25- तीर्थंकर परम्परा के क्षेत्र कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 26- तीर्थंकर की माता कितने और कौन-कौन से स्वप्न देखती हैं ?

प्रश्न 27- समवसरण रचना का संक्षेप में वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 28- शिवगुप्त मुनिराज ने गर्भवती धनश्री को देखकर मुनिगुप्त मुनिराज से क्या कहा ?

प्रश्न 29- श्रीदत्त सेठ ने जब क्रूरकर्मा चाण्डाल को उस बालक की हत्या हेतु उसे सौंपा तो उसने क्या किया ?

प्रश्न 30- जीवनदान देने वाले धीवर की अगले जन्म में कितनी बार प्राण रक्षा हुई ?

प्रश्न 31- पण्डिता धाय ने सेठ सुदर्शन को रानी के महल में ले जाने का क्या उपाय किया ?

प्रश्न 32- सुदर्शन सेठ को रानी के कहने पर राजा ने क्या दण्ड दिया ?

प्रश्न 33- सुदर्शन सेठ को निर्वाण पद किस तिथि में कहाँ से प्राप्त हुआ ?

प्रश्न 34- चारों गतियों में सम्यक्त्व प्राप्ति के कितने कारण हैं ? नाम लिखिए।

प्रश्न 35- तिर्यंचगति में कितने दण्डक माने गये हैं ? नाम लिखिए ?

प्रश्न 36- मनुष्यों में गुणस्थान व्यवस्था कैसे पाई जाती हैं ? खुलासा कीजिए।

प्रश्न 37- मध्यलोक कहाँ स्थित है ? इसमें किसका वर्णन है ?

प्रश्न 38- ऊर्ध्वलोक में कितने स्वर्ग होते हैं ? उनके नाम लिखिए।

प्रश्न 39- लोक का आकार कैसा होता है ? संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

प्रश्न 40- अध: प्रवृत्त संक्रमण किसे कहते हैं ?

प्रश्न 41- कर्मों का संबंध जीव के साथ कब से है और क्यों है ? उदाहरण सहित लिखिए।

प्रश्न 42- घातिया और अघातिया कर्मों को किनके समान माना है ?

प्रश्न 43- संज्ञा अधिकार को लिखिए ?

प्रश्न 44- परिकर्म व्यवहार और खात व्यवहार क्या है ?

प्रश्न 45- संख्यात्मक अर्थ, बोधक शब्द में से किन्हीं दस के नाम लिखिए ?

प्रश्न 46- अष्टपाहुड कौन-कौन से हैं ? नाम लिखिए।

प्रश्न 47- रत्नकरण्ड श्रावकाचार के रचियता कौन हैं ? इस ग्रंथ की क्या विशेषता है ?

प्रश्न 48- "सुत्तपाहुड" ग्रंथ में क्या बताया गया है ?

प्रश्न 49- मंदिर क्यों बनवाए जाते हैं ? बताइए ?

प्रश्न 50- मानव जीवन में संस्कारों का क्या महत्त्व है ?

प्रश्न 51- अष्टमी-चतुर्दशी को क्या छोड़कर क्या ग्रहण करना चाहिए ?

प्रश्न 52- जंगम प्रतिमा का स्वरूप बतलाइए ?
प्रश्न 53- द्रव्य की अपेक्षा अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप बताएं ?
प्रश्न 54- जिनबिम्ब और जिनमुद्रा में क्या अन्तर है ?
प्रश्न 55- मार्गणाएं कितनी और कौन–कौन सी हैं ?
प्रश्न 56- श्रावक की प्रतिमाएं कितनी और कौन–कौन सी हैं ?
प्रश्न 57- अष्ट मूलगुण कौन–कौन से हैं ? दोनों प्रकार से बताइए ?
प्रश्न 58- सप्त व्यसनों के नाम बताइए ?
प्रश्न 59- श्रावक के बारह व्रतों के नाम क्या–क्या हैं ?
प्रश्न 60- मंगल के भेद परिभाषित कीजिए ?
प्रश्न 61- भगवान के वचन कैसे हैं ?
प्रश्न 62- समय शब्द का अर्थ बताते हुए उनके भेदों को बताइए ?
प्रश्न 63- निर्विकल्प ध्यान में वीतराग विशेषण क्यों लगाया ?
प्रश्न 64- क्षयोपशम और विशुद्धि लब्धि में क्या अन्तर है ?
प्रश्न 65- देशना लब्धि की परिभाषा बताइए ?
प्रश्न 66- द्वैत और अद्वैत में क्या अन्तर है ?
प्रश्न 67- दुःख के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?
प्रश्न 68- श्रावक के षट्कर्म कौन-कौन से हैं ?
प्रश्न 69- निर्विकल्प अवस्था किस गुणस्थान से प्रारम्भ होकर कहां तक पहुँचती है ?
प्रश्न 70- मनुष्य के गुणों की दुर्दशा कौन कर रहा है, आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के शब्दों में समझाइए ?
प्रश्न 71- आत्मा के सम्यक्त्व गुण को कौन रोकता है ?
प्रश्न 72- सिद्धों की गुरुता का वर्णन करते हुए श्री ब्रह्मदेव सूरि ने क्या कहा है ?
प्रश्न 73- आत्मा के कितने भेद हैं ? नाम बताइए ?
प्रश्न 74- व्यवहार पंचाचार और निश्चय पंचाचार किसका कारण है अर्थात् क्या प्रदान करता है ?
प्रश्न 75- आकार के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1- अर्हंत भगवान की दिव्यध्वनि कैसी होती है, इसको विस्तृत रूप में समझाइए ?
प्रश्न 2- विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर की प्रथम दिव्यध्वनि खिरने के सम्पूर्ण वृतान्त को हरिवंश पुराण के आधार से विस्तारपूर्वक बताइए ?
प्रश्न 3- श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम एवं लक्षण बताइए ?
प्रश्न 4- जिनागम में वर्णित अनेक दिगम्बर जैनाचार्यों में से किन्हीं पांच के नाम बताते हुए उनके द्वारा रचित कृतियों का वर्णन कीजिए ?
प्रश्न 5- प्रथमानुयोग साहित्य की उपादेयता पर प्रकाश डालिए ?
प्रश्न 6- उत्सर्पिणी काल में षट्कालों का परिवर्तन किस प्रकार होता है, विस्तार से बताएं ?
प्रश्न 7- तीर्थंकर भगवान का जन्म दुःख–सुखरूप काल में ही क्यों होता है ? वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 8- मृगसेन धीवर के कथानक से क्या शिक्षा मिलती है ?

प्रश्न 9- राजा द्वारा मृत्युदण्ड दिये जाने पर सेठ सुदर्शन की जीवन रक्षा किस प्रकार हुई, सविस्तार बताइए ?

प्रश्न 10- जीव में पंच परिवर्तन कैसे होता है ? परिभाषा सहित संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न 11- कालचक्र का विस्तार से वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 12- कर्म की अवस्थाएँ कितनी हैं ? प्रत्येक की परिभाषा दीजिए।

प्रश्न 13- जैनाचार्यों द्वारा कर्म सिद्धान्त में गणित का विकास कैसे किया गया ? संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न 14- चरणानुयोग के ग्रंथों के अन्तर्गत क्या बताया गया है ?

प्रश्न 15- जैनधर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक आधार लिये हुए हैं, इस बात को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 16- आचार्य श्री जिनसेन द्वारा उल्लिखित प्रव्रज्या के कितने और कौन-कौन से भेद हैं; नामोल्लेख करते हुए किन्हीं आठ के लक्षण बताइए ?

प्रश्न 17- अहिंसादि पाँचों महाव्रतों की पाँच-पाँच भावनाएँ कौन-कौन सी हैं, वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 18- अस्तिकाय से क्या आशय है ? अस्तिकाय कितने और कौन-कौन से हैं ? विस्तारपूर्वक बताइए ?

प्रश्न 19- नव केवल लब्धियाँ कौन-कौन सी हैं ? इसकी भावना कौन भाते हैं और किसकी प्राप्ति करते हैं ?

प्रश्न 20- आचार्य श्री जयसेनाचार्य के अनुसार मोह का नाश किस प्रकार किया जा सकता है ?

प्रश्न 21- पाँच प्रकार के आचारों का नामोल्लेख करते हुए उनकी परिभाषा बताइए ?

नोट्स